हिन्दी उपन्यास

सिद्धान्त और समीक्षा

समर्पण

'रस-सिद्धान्त' के प्रणेता,
गुरुतुल्य श्रद्धास्पद डॉ० नगेन्द्र को
सविनय सादर

—मक्खनलाल शर्मा

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

१. उपन्यास की परिभाषा

उपन्यास शब्द अंग्रेजी के 'नावेल' का पर्यायवाची कहा जा सकता है। जिस प्रकार 'नावेल' शब्द में सारे कथा साहित्य (फिक्शन) की व्याप्ति रहती है, उसी प्रकार उपन्यास भी सारे कथा साहित्य को अपने में समा लेता है। इस भाव की अभिव्यक्ति गुजराती में 'नवल कथा', मराठी में 'कादम्बरी' और बँगला में हिन्दी के समान 'उपन्यास' द्वारा की जाती है। उपन्यास शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं[१]—

(१) वाक्य का उपक्रम या बात का आरम्भ होना।

(२) वाक्य का प्रयोग।

(३) विचार—इसके लिए निम्न उद्धरण मनुस्मृति : ६,३१ पर आया है—

'विश्वजन्ममिमंपुण्यमुपन्यासं निबोधत······'

(४) प्रस्ताव।

(५) दान।

(६) उपनिधि—धरोहर।

(७) उपकथा—किस्सा।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में प्रतिमुख सन्धि का विवेचन करते हुए उसका एक उपभेद 'उपन्यास' बताया है। उपन्यास शब्द की व्युत्पत्ति उप-न्यास होती है। इसके अनुसार उप=समीप और न्यास=थाती, रखना, उप-स्थित करना आदि होता है। "इसका अर्थ निकट रखी हुई वस्तु, अर्थात् वह वस्तु या कृति जिसको पढ़कर ऐसा लगे कि यह हमारी ही है, इसमें हमारे ही जीवन का प्रतिविम्ब है, इसमें हमारी ही कथा हमारी ही भाषा में कही गई है। आधुनिक युग में जिस साहित्य विशेष के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसकी प्रकृति को स्पष्ट करने में यह शब्द सर्वथा समर्थ है।······ भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में इसे 'उपपत्तिकृतोह्यर्थः' तथा 'प्रसादनम्' कहा है

---

१. 'हिन्दी विश्व-कोश' : नगेन्द्रनाथ वसु।

अर्थात् किसी अर्थ को युक्तिपूर्ण ढंग से उपस्थित करने वाला तथा प्रसन्नता प्रदान करने वाला कहा है।"[१]

उपन्यास वर्तमान युग का महाकाव्य है। आज की युग-चेतना इतनी गुम्फित, संघर्षमय और असाधारण हो गई है कि कविता द्वारा उसकी अभिव्यक्ति उतनी आसान नहीं रही है जितनी कि पूर्वकाल में सम्भव थी। आज जब हम प्रगति के चरणों पर शीघ्रता से दौड़ रहे हैं तो उसी के अनुरूप अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम को भी बदलना पड़ेगा। उपन्यास हमारी इस आवश्यकता की पूर्ति करता है। उपन्यास के स्वरूप को स्पष्ट करने के अनेक प्रयत्न किये गये हैं और इन प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेक परिभाषाएँ उपलब्ध हुई हैं, किन्तु जिस प्रकार अनगिनत उपन्यास लिखे जाकर भी पूर्णता नहीं आई है और उसकी शैली तथा प्रकार अन्तिम स्वरूप नहीं ग्रहण कर रहा है, उसी के अनुसार उसकी कोई सर्वांगपूर्ण परिभाषा भी नहीं दी जा सकेगी। परिभाषा किसी वस्तु के स्वरूप को प्रकट करने का प्रयत्न होती है। जो परिभाषा उसके स्वरूप को जितनी यथार्थता के साथ व्यक्त कर देती है उसे उतना ही अधिक व्यापक माना जाता है। उपन्यास विद्या में जितना वैविध्य है उतना अन्य किसी विद्या में नहीं, इसलिए उपन्यास की कोई सर्वमान्य परिभाषा कर सकना आसान नहीं है। जो परिभाषाएँ दी गई हैं उनमें से कुछ पर विचार करना अनुचित न होगा।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी अंग्रेज समालोचक राल्फ फॉक्स उपन्यास को केवल 'कथात्मक गद्य' नहीं मानते हैं। इसे उनकी सम्मति में 'मनुष्य जीवन का गद्य' कहना अधिक समीचीन है। "यह वह पहली गद्य-विद्या है जिसमें मानव को उसकी सम्पूर्णता में समझने का प्रयत्न किया गया है।"[२] पद्य तथा अन्य अभिव्यक्ति के प्रकारों में मानव-चेतना का इतना सहज, स्वाभाविक और यथार्थवादी चित्रण नहीं हो सकता है जितना कि उपन्यास द्वारा सम्भव है।

क्रॉस की परिभाषा इस प्रकार है—"उपन्यास उस गद्य-आख्यान को कहा जाता है, जो यथार्थ जीवन का यथार्थवादी दृष्टि से अध्ययन करे।"[३]

क्लारा रीव की परिभाषा भी विचारणीय है—"उपन्यास यथार्थ जीवन तथा तत्कालीन सामाजिक व्यवहार का चित्र है। उपन्यास की कसौटी

---

१. 'हिन्दी साहित्य-कोश', पृष्ठ १३६।
2. "The novel is not merely fictional prose, it is the prose of man's life, the first art to attempt to take the whole man and give him expression." ('Novel and the People', p. 52.)
3. 'The Development of the English Novel' : Cross, p. 1.

यह है कि वह हमारी परिचित वस्तुओं और दृश्यों का चित्रण इस ढंग से करे कि वह सामान्य हो जाय और कम से कम उपन्यास पढ़ते समय पाठक को यथार्थ का भ्रम उत्पन्न हो जाय—पाठक उन्हें अपना समझने लगें।"[१]

लार्ड डेविड सिसिल की परिभाषा है कि—"उपन्यास एक ऐसी कला-कृति है जो हमें एक जीवित जगत् से परिचित करा देती है। यह जगत् अनेक दृष्टियों से हमारे यथार्थ जगत् के ही समान होता है और साथ ही उसका अपना निजी व्यक्तित्व भी बना रहता है।"[२]

हैनरी जेम्स के अनुसार कह सकते हैं कि—"एक उपन्यास अपनी व्यापक परिभाषा के अनुसार एक व्यक्तिगत तथा सीधी जीवन की छाप है, जो उसके मूल्य का निर्माण करती तथा उसका महत्व निर्धारित करती है। यह महत्व उस छाप की मात्रा और गुण के अनुसार कम या ज्यादा होगा, किन्तु जब तक उपन्यासकार को अनुभव करने और कहने की स्वतन्त्रता न होगी, तब तक वह ऐसी छाप या प्रभाव उत्पन्न न कर सकेगा।"[3]

रौबर्ट लिडल की मान्यतानुसार उपन्यास की परिभाषा—"उपन्यास एक नवीन साहित्यिक विद्या है।"[४]

टी० डब्लू० बीच ने लिखा है—"उपन्यास में पात्र के आन्तरिक

---

1. "The Novel is a picture of real life and manner and of times in which it is written. The Novel gives a familiar relation of such things, as pass every day before our eyes, such as may happen to our friends or to ourselves, and the perfection of it is to present every scene in so easy and natural a manner and to make them appear so probable as to decieve us into persuation (at least while we are reading) that all is real until we are affected by joy, or distresses of persons in the story as if they were our own." ('The Progress of Romance' : Clara Reave.)
2. "A Novel is a work of art in so far as it introduces us into a living world, in some respects resembling the world we live in but with an individuality of its own." ('Hardy the Novelist' : Lord David Cecil.)
३. 'हिन्दी उपन्यास में कलाशिल्प का विकास', : डा० प्रतापनारायण टण्डन, पृष्ठ ५६।
4. "The Novel as a literary form has still a flavour of newness." ('A Treatise on Novel' : Robert Liddell, p. 13.)

आत्मस्वरूप का ज्ञान कथा में वर्णित क्रियाकलापों द्वारा प्राप्त हो और क्रिया कलापों का उद्‌भव पात्र की आन्तरिक मनोभूमि पर हो।"[१]

जे० बी० प्रीस्टले कहते हैं—"उपन्यास गद्य कथा है जिसमें मुख्यत: काल्पनिक पात्र और घटनाएँ रहती हैं। उपन्यास को जीवन का एक बड़ा दर्पण कहा जा सकता है। इसमें साहित्य की अन्य विद्याओं की अपेक्षा अधिक विस्तारवादी दृष्टि रहती है। उपन्यास को हम अनेक रूपों में वर्णित कर सकते हैं। उसे सादा और सरल वर्णन; सामाजिकता का चित्र; चरित्र प्रदर्शन तथा जीवन-दर्शन-यान आदि कह सकते हैं और यदि इन सारी विशेषताओं को छोड़कर उसे केवल उपन्यासकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कहें तो भी अनुचित न होगा।"[२]

रिचार्ड बर्टन प्रेम को आधार बनाकर उपन्यास की रचना की सम्भावना प्रकट करता है। उसके अनुसार प्रेम ही कुटुम्ब और समाज का आधार है।[३]

उपन्यास को जीवन का चित्र मानने वाले अनेक विद्वान हैं।[४] हिन्दी

---

1. "Soul should be defined by the action of the story and action should be determined by the soul of character." ('Twentieth Century Novel' : T. W. Beach.)
2. "It is a narrative in prose treating chiefly of imaginary characters and events......It is a large mirror of life, and has a far greater range than any other form of literature... We may regard fiction as a narrative pure and simple, or as a picture of manners, or as an exhibition of character, or as the vehicle of certain philosophy of life." ('The English Novel' : J. B. Priestley, pp. 1-2.)
3. "It is the study of the contemporary society with an implied social interest and with a special reference to love as motor force simply because love it is which binds together human beings in their social relations." (Richard Burton)
4. (i) "A Novel is a picture, a portrait than the 'likeness'. Form, design, composition are to be sought in a novel, as in any other work of art, a novel is the better for possessing them."

   (ii) "A novel is a picture of life, and the life is well known to us, let us first of all 'realize' it, and then, using our taste, let us judge whether it is true, vivid, convincing like life, in fact."

के **प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द जी** की मान्यता भी कुछ इसी प्रकार की है। वे कहते हैं:—

"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र मानता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"[१]

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी उपन्यास की मनोरंजकता को प्रधान तत्व स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है—

"उपन्यास इस युग का बहुत ही लोकप्रिय साहित्य है। शायद ही कोई पढ़ा-लिखा नौजवान इस जमाने में मिले जिसने दो-चार उपन्यास न पढ़े हों। यह बहुत मनोरंजक साहित्यांग माना जाने लगा है। आजकल जब किसी पुस्तक को बहुत मनोरंजक पाया जाता है तो प्रायः कह दिया जाता है कि उस पुस्तक में तो उपन्यास का सा आनन्द मिल रहा है। किसी-किसी यूरोपियन समालोचक ने उपन्यास का एकमात्र गुण उसकी मनोरंजकता को ही माना है। इस साहित्यांग ने मनोरंजन के लिए लिखी जाने वाली कविताओं का ही नहीं, नाटकों का भी रंग फीका कर दिया है; क्योंकि पाँच मील दौड़कर रंगशाला में जाने की अपेक्षा पांच सौ मील दूर से ऐसी किताब मँगा लेना कहीं आसान हो गया है जो अपना रंगमंच अपने पन्नों में ही लिये हुए हो।"[२]

उपन्यास की परिभाषा में कुछ विद्वान केवल उसके बाह्य स्वरूप और गद्यात्मकता को ही प्रमुखता देते हैं। उपन्यास के अंतरंग को प्रमुखता नहीं दी गई है। इन विद्वानों में से **आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी** की सम्मति देखिए—

"उपन्यास से आजकल गद्यात्मक कृति का अर्थ लिया जाता है। पद्यबद्ध उपन्यास नहीं हुआ करते।"[३]

डा० भगीरथ मिश्र की परिभाषा में उपन्यास के बहिरंग और अन्तरंग दोनों पर दृष्टि रखी गई है। अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा उनकी दृष्टि अधिक व्यापक है—

"युग की गतिशील पृष्ठभूमि पर सहज शैली में स्वाभाविक जीवन की एक पूर्ण व्यापक झाँकी प्रस्तुत करने वाला गद्यकाव्य उपन्यास कहलाता है।"[४]

---

१. 'कुछ विचार' : प्रेमचन्द, पृष्ठ ७१।
२. 'साहित्य का साथी' : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ८३।
३. 'आधुनिक साहित्य' : नन्द दुलारे बाजपेयी, पृष्ठ १२३।
४. 'काव्य शास्त्र' : डा० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ७९।

श्री त्रिभुवनसिंह ने मार्क्सवादी (यथार्थवादी) दृष्टिकोण से उपन्यासों का विवेचन करते हुए उपन्यास को मानव समाज की भावनाओं और चिन्ताओं की अभिव्यक्ति कहा है।

"साहित्य क्षेत्र में उपन्यास ही एक ऐसा उपकरण है, जिसके द्वारा सामूहिक मानव-जीवन अपनी समस्त भावनाओं एवं चिन्ताओं के साथ सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हो सकता है। मानव-जीवन के विविध चित्रों को चित्रित करने का जितना अधिक अवकाश उपन्यासों में मिलता है उतना अन्य साहित्यिक उपकरणों में नहीं।"[१]

उपन्यास आधुनिक युग की उपज है—उस युग की जिसका दृष्टिकोण सर्वथा व्यक्तिवादी हो गया है, अराजकता का बोलबाला है, बाहरी दुनिया में तो कम, हमारे आन्तरिक जगत् में अधिक। समष्टि को दबाकर व्यक्ति ऊपर उठ आया है। इन्हीं परिस्थितियों का प्रतिफल हमारा उपन्यास साहित्य है। इसमें जो लचीलापन है, बन्धनहीनता है, यह कभी कोई भी रूप धारण कर सकता है। इसका यही कारण है। इसमें मदोन्मत्त साहसिकों की कथा रह सकती है, पूरे समाज की कथा भी रह सकती है। कथानक भी न हो तो भी कोई परवाह नहीं। जीवित मनुष्यों की कथा की कोई बात नहीं, कब्र से भी उठकर मनुष्य आ सकते हैं। अराजकता के युग में साहित्यिक सुराज कैसे सम्भव है ? इसमें एक दिन की, एक घंटे की तथा एक युग की कथा रह सकती है, पूरे समाज की कथा भी रह सकती है। एक या अनेक पात्र रह सकते हैं, उपन्यास में केवल घटनाएँ ही घटनाएँ या केवल दृश्य ही दृश्य हो सकते हैं। कथा एक सर्वज्ञ, तटस्थ, ईश्वर की भाँति कही जा सकती है, उत्तम पुरुषात्मक रूप से कही जा सकती है अथवा एक या एकाधिक पात्रों के सीमित दृष्टिकोण से कही जा सकती है। साहित्य के जितने रूप-विधान हो सकते हैं उनमें उपन्यास का रूप-विधान सबसे लचीला होता है और वह परिस्थिति के अनुसार कोई भी रूप धारण कर ले सकता है।

घटनाएँ कैसी भी हों, लोक की, परलोक की, आकाश की, पाताल की, पर वे होंगी कार्य-कारण की शृंखला में आबद्ध। उनमें एक तारतम्य होगा, भले ही वे आन्तरिक तथा सूक्ष्म हों, वे हमारे जीवन के किसी पहलू को अवश्य रौशन करेंगी। घटनाएँ, व्यापार शृंखलाएँ और मानव मन सब पारस्परिक रूप से एक दूसरे को स्पष्ट करते चलेंगे। घटनाएँ जीवन के

---

१. 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' : त्रिभुवनसिंह, पृष्ठ १।

केन्द्र से निकल कर जीवन के ही रूपों का प्रकाशन करेंगी। पशु-पक्षी तथा जड़ पाषाण भी पात्र के रूप में उपस्थित हो सकते हैं, पर उनकी प्रतिक्रियाएँ वही होंगी जो मानव हृदय की होती हैं।

उपन्यास वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है। 'न्यू इंगलिश डिक्शनरी' में उपन्यास की परिभाषा देते हुए कहा गया है—वृहद् आकार गद्य आख्यान या वृतान्त जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों को कथानक में चित्रित किया जाता है। सब परिभाषाएँ एक ही बात पर जोर देती हैं कि उपन्यास में मानव-जीवन का प्रतिनिधितत्व हो। घटनाएँ श्रृंखलाबद्ध हों, वास्तविकता की सेवा में नियोजित कल्पना हो।

उपन्यास में कविता की भाँति रागात्मक तत्व की वह स्थिति साधारणतया सम्भव नहीं मानी जाती जो मनुष्य को भाव की सात्त्विक अनुभूति करा सके। उपन्यास भी पाठक को ठोस वास्तविकता से उठाकर एक अधिक परिपूर्ण और सत्य लगने वाले कल्पना जगत् में ले जाता है। परन्तु ऐसा वह भावोत्तेजन के सहारे नहीं, कथा की रोचकता और कुतूहल के द्वारा करता है। काव्य के समीक्षकों ने इसे भाव की अपेक्षा निम्न स्थान दिया है। कविता जैसे उच्च, उदात्त, रागात्मक तत्व की सम्भावना न होने से ही कदाचित् उपन्यास अधिक लोकप्रिय साहित्य रूप है। बीसवीं शताब्दी में इसे जो महत्व मिला है वह कदाचित् किसी अन्य साहित्य रूप को—नाटक को भी कभी नहीं मिला। इसमें लोकप्रियता और महनीयता का अद्भुत समन्वय हुआ है तथा इसने समाज के समस्त ऊँचे और नीचे वर्गों को मिला दिया है। विश्व के अनेक महान् चिन्तकों ने गम्भीर मनीषा से उपलब्ध स्थायी सत्यों और मानव मूल्यों को इसी माध्यम से प्रचारित किया है। इससे उपन्यास केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं रहा, वह महान् सत्यों और नैतिक आदर्शों का एक अत्यन्त मूल्यवान साधन बन गया है।[१]

उपन्यास के स्वरूप–निर्धारण के सम्बन्ध में कुछ तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) यह गद्य काव्य है।
(२) युग चित्र इसकी पृष्ठभूमि है।
(३) इसकी शैली सहज और स्वाभाविक होती है। आजकल कुछ उपन्यास इसके विपरीत शैली में भी लिखे गये हैं—फलस्वरूप उनकी औपन्यासिकता उतनी ही निम्न स्तरीय हो गई है।

---

१. 'हिन्दी साहित्य-कोश' : डा० धीरेन्द्र वर्मा।

(४) जीवन की व्यापक झाँकी इसमें रहती है ।

(५) लेखक को खुलकर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से अभि-व्यक्ति का पूर्ण अधिकार रहता है ।

(६) उपन्यास कथा-साहित्य का सरल और स्वाभाविक रूप है ।

(७) इसमें व्यक्तियों के चरित्रों का उद्‍घाटन किया जाता है ।

(८) सभी अन्य विद्याओं की कुछ न कुछ सुविधा (किसी न किसी रूप में) उपन्यास को उपलब्ध है ।

(९) इसमें मनोरंजन और शिक्षा दोनों साथ-साथ चलते हैं ।

(१०) उपन्यास का सत्य यथार्थ जीवन के सत्य से भी अधिक सच्चा और स्वाभाविक होता है ।

(११) उपन्यास में तिथियों और नामों के अतिरिक्त सब कुछ 'सम्भावित सत्य' होता है ।

(१२) उपन्यास की प्रेरणात्मक शक्तियाँ भावुकता और संवेदना हैं ।

(१३) उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का या जीवन के एक बहुत बड़े भाग का चित्रण करता है ।

(१४) उपन्यास विवरण पूर्ण, विशद तथा व्याख्यात्मक शैली में होता है ।

(१५) आज की धूमिल, गुम्फित और उलझन युक्त चेतना की मार्मिक अभिव्यक्ति केवल उपन्यास द्वारा ही सम्भव है ।

२. उपन्यास तथा अन्य काव्य विधाएँ

ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है। 'सहित' शब्द में 'यत्' प्रत्यय लगने पर 'साहित्य' शब्द की उपलब्धि होती है। इस शब्द का अर्थ 'शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव, अर्थात् 'साथ होना' है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है—'सार्थक शब्द मात्र को साहित्य कहते हैं।'

प्राचीन काल में साहित्य शब्द 'शास्त्र' का पर्यायवाची था, किन्तु धीरे-धीरे इसका प्रयोग 'काव्य' के लिए होने लगा। भर्तृहरि ने जब लिखा—

साहित्य संगीत कला विहीना साक्षातपशुः पुच्छ विषाण हीनाः।
तृणन्नरवादन्त पिजीव मानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम् ॥

तो उन्होंने 'साहित्य' को काव्य का पर्यायवाची ही ठहराया है। राजशेखर (काव्य मीमांसा), कुन्तक (वक्रोक्ति जीवितम्) आदि ने भी इसी प्रयोग की पुष्टि और विस्तार किया है।

अब प्रश्न आता है—काव्य का विषय क्या होता है ? राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में काव्य के सम्बन्ध में लिखा है कि वह जीवन और सत्य के किसी रूप का आकर्षक और सजीव चित्रण करता है। वे लिखते हैं—

कटुकौषधवच्छास्त्रमविधा व्याधिनाशनम्।
आ ह्लाद्यामृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ॥

काव्य रमणीय अर्थ को प्रकट करने वाली शब्द-कला है। उसका विषय कुछ भी हो सकता है। विषय को रागात्मकता के माध्यम से प्रस्तुत करके 'रमणीयता' प्रदान करना ही सर्व प्रमुख और आवश्यक है।

काव्य के तीन भेद माने गये हैं—

(१) पद्य,
(२) गद्य,
(३) चम्पू।

पद्य—छन्दबद्ध रचना पद्य कहलाती है ।
गद्य—छन्दहीन रचना गद्य कहलाती है ।
पद्य के अनेक भेद किये गये हैं जिनमें तीन प्रमुख हैं—

(१) प्रबन्ध,
(२) निबन्ध,
(३) मुक्तक (निर्बन्ध) ।

गद्य कवियों की कसौटी है । आचार्यमत है—
'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति' ।
गद्यं काव्य तीन प्रकार का है—

(१) प्रबन्ध,
(२) निबन्ध,
(३) मुक्तक (निर्बन्ध) ।

इनमें से प्रबन्ध के अनेक भेद हैं—

(१) उपन्यास,
(२) कहानी,
(३) जीवनी,
(४) रिपोर्ताज
(५) शब्द-चित्र (स्केच) आदि ।

उपन्यास का अन्य विद्याओं से सम्बन्ध समझने के लिए संलग्न काव्य-वृक्ष दिया गया है ।

३. उपन्यास और नाटक

उपन्यास और नाटक दोनों ही मानव जीवन की विविध समस्याओं का सर्वेक्षण अपने-अपने सीमित साधनों द्वारा प्रस्तुत करते हैं। उपन्यास के पास जहाँ वर्णनात्मक शैली है वहाँ नाटककार उसे दृश्य और वर्णन दोनों शैलियों में दिखा सकता है। प्राचीनकाल में इसीलिए नाटक को शेष सभी साहित्यिक विधाओं में प्रमुख माना जाता था और इसी को आधार बनाकर भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र लिखा। श्रवणेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय के एक साथ प्रभावित होने से नाटक का प्रभाव व्यापक होता है। नाटककार के सामने जो कठिनाइयाँ, सीमाएँ और बन्धन होते हैं, उपन्यासकार उनसे सर्वथा मुक्त रहता है। अभिव्यक्ति की गहराई इसीलिए इस युग में नाटक से हटकर उपन्यास के क्षेत्र में प्रविष्ट हो गई है। रंगमंच की कठिनाई तथा समय की कोताही से नाट्य की अपेक्षा पाठकों का ध्यान उपन्यास की ओर आकृष्ट हो चुका है। नाटककार स्वयं सामने न आकर अपने प्रतिनिधि पात्रों को भेजता है—उपन्यासकार को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार से अपनी बात कहने का अधिकार रहता है। चरित्र की गहराइयों का प्रदर्शन करना आज के मनोवैज्ञानिक शोधों से युक्त युग में आवश्यक हो गया है और नाटक द्वारा सभी गहराइयों का ज्ञान कराना अति कठिन है। उपन्यास में इसके लिए पर्याप्त स्थान और अवसर रहता है। कहानी (कथा) नाटक और उपन्यास दोनों का तत्व है। कथा में मनोरंजकता होनी चाहिए। इसका भी जितना अच्छा निर्वाह उपन्यास में हो सकता है—नाटक में नहीं। कुछ मोटी-मोटी बातों को लेकर इस अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

नाटक	उपन्यास
१—नाटक में बीती हुई बातें क्रिया द्वारा दर्शकों को दिखाई जाती हैं।	१—अतीत की घटनाएँ उसी परिवेश में वर्णित की जाती हैं।

नाटक	उपन्यास
२—सारी अभिव्यक्ति क्रिया द्वारा करनी होती है।	२—वर्णनात्मकता का आश्रय लिया जाता है।
३—नाटककार को जो कुछ कहना है, सब कुछ दूसरों के माध्यम से कहता हैं या कराता है। वह स्वयं स्टेज पर नहीं उतर सकता।	३—यहाँ करने को कुछ नहीं होता। उपन्यासकार पाठकों के सामने सीधे-सीधे अपनी बात कहने लगता है। पाठक उसके, उसके पात्रों के तथा घटनाओं आदि सबके आधार पर अपना विचार बनाते हैं। पात्र एक दूसरे के चरित्र की आलोचना कर देते हैं और चाहे तो उपन्यासकार भी सामने आकर टीका-टिप्पणी कर सकता है।
४—कथा को समझने और उसका सम्बन्ध जोड़ने में पाठकों को विशेष कष्ट नहीं करना पड़ता। दर्शक देश-काल का ज्ञान 'रंगमंचीय-कौशल' द्वारा कर लेता है।	४—पाठक के मस्तिष्क पर जोर पड़ता है। उसे पूर्व-कथा को याद रखना पड़ता है और आवश्यकता पड़ने पर पीछे के पन्ने भी लौटने पड़ते हैं। उसका अधिक जागरूक और संवेदनशील होना आवश्यक है।
५—समय और स्थान की सीमा के अन्तर्गत अर्थात् केवल निर्धारित समय तक और रंगमंच के पास बैठकर ही नाटक का आनन्द लिया जा सकता है।	५—उपन्यास का आनन्द रेलगाड़ी, बिस्तर और बगीचे में भी लिया जा सकता है। समय और स्थान का कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता।
६—नाटक में प्रभाव की अन्वित उत्पन्न करना आवश्यक होता है और नाटककार का सारा ध्यान इसी पर रहता है।	६—उपन्यास जीवन का चित्र होने के कारण अधिक यथार्थवादी चित्र देता है। वास्तविकता उसका प्राण है।
७—नाटक में पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ मानी गई हैं।	७—उपन्यास में कथा परिच्छेदों में विभक्त रहती है। इस विभाजन का आधार पात्र, घटनाएँ, स्थान आदि होते हैं। इस विभाजन को इस काव्य के सर्गों के समान मान सकते हैं।

(१) बीज
(२) बिन्दु
(३) पताका
(४) प्रकटी
(५) कार्य

नाटक की कथा की पाँच अवस्थाएँ भी मानी गई हैं—

(१) प्रारम्भ
(२) यत्न
(३) प्राप्याशा
(४) नियताप्ति
(५) फलागम

इन अर्थ-प्रकृतियों और कार्यावस्थाओं को मिलाने वाली पाँच सन्धियाँ होती हैं।

(१) मुख
(२) प्रतिमुख
(३) गर्भ
(४) अवमर्श
(५) उपसंहृति।

८—नाटक में नृत्य, संगीत आदि का स्थान माना गया है।

८—उपन्यास में नृत्य, संगीत के स्थान पर प्रकृति वर्णन आदि रहता है।

नाटक और उपन्यास के अन्तर को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि नाटक में प्रत्यक्ष अनुभव रहा है और उपन्यासों में परीक्षानुभव।[1] नाटक और उपन्यास के भेदक तत्वों के सम्बन्ध में विचार करते हुए ई० एम०

---

1. "And so at first thought, the novel appears to have all the advantages and the play all the limitations involved in their essential difference of function. But one has only to be present at a play, even a third rate play, to become aware of an advantage this form possesses over its rival which more than makes up for all its limitations. Intellectually the novel has all the advantages ; emotionally it is the play."

फार्स्टर ने अरस्तू के मत की तीव्र आलोचना की है और उसके उपन्यास-विश्लेषण का आधार नाटक को ही माना है। नाटक में प्रत्येक मानवीय-सौख्य या पीड़ा कार्य-रूप लेती है और उसे लेना भी चाहिए, अन्यथा वह अज्ञात ही रह जायगी। नाटक तथा उपन्यास में यही अन्तर है।[1] नाटक और उपन्यास में जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है दृश्य और श्रव्य होने का सबसे बड़ा अन्तर माना जाता है।[2]

उपन्यास और नाटक के तुलनात्मक अध्ययन में सृजन की दृष्टि से एक भारी अन्तर आ जाता है। नाटक जहाँ अत्यधिक कठिन काव्य-विद्या है वहाँ उपन्यास सबसे आसान और सहज है। यह तो सभी को विदित है कि

---

1. "Character" says Aristotle, "gives us qualities, but it is in actions—what we do—that we are happy or the reverse." We have already decided that Aristotle is wrong and how we must face the consequences of disagreeing with him. "All human happiness and misery" says Aristotle, "take the form of action." We know better we believe that happiness and misery exist in the secret life, which each of us lead privately and to which (in his characters) the novelist has access......There is, however, no occasion to be hard on Aristotle. He had read few novels and no modern ones—the Odyssey but not Ulysses—he was by temperament apathetic to secrecy, and indeed regarded the human mind as a sort of tub from which everything can finally be extracted, and when he wrote the words quoted above he had in view the drama, where no doubt they hold true. In the drama all human happiness and misery does and must take the form of action. Otherwise its existence remains unknown, and this is the great difference between the drama and novel. ('Aspects of the Novel' : E. M. Forster, pp. 113-4.)

2. "The essential differences between the novel and the play grow out of the fact that the novel is to be read and the play is to be presented on the stage. In the novel the action is described, in the play it is performed before our eyes. The limitations of stage presentation enormously reduce the amount of action that can be shown in the play."

नाटक को लिखने से पूर्व रंगमंच, सज्जा, वेश-भूषा, ध्वनि, प्रकाश और पर्दों आदि के सम्बन्ध में बहुत सी जानकारी नाटककार को प्राप्त कर लेना आवश्यक माना जाता है। यदि इस ज्ञान के बिना नाटक लिखा जायगा तो वह नाटक के उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। उसे आप बैठकर पढ़ सकेंगे—रंगमंच पर अभिनीत होते नहीं देख सकेंगे। यदि कोई नाटक अभिनीत न हो सका तो उसे नाटक मानने से भी इन्कार करना अनुचित न होगा। इसकी अपेक्षा उपन्यास लिखने में इन सारी जानकारियों की कोई आवश्यकता नहीं है। कागज, कलम पास हो तथा लिखने के लिए काफी समय और जीवन के गहरे अनुभव उपलब्ध हों तो उपन्यास लिखने में कोई कठिनाई नहीं है।

जहाँ नाटककार और उपन्यासकार के कर्त्तव्यों का अन्तर उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है और उपन्यासकार का कर्म नाटककार की अपेक्षा आसान प्रतीत होता है, वहीं आलोचक की दृष्टि से जहाँ नाटक की आलोचना पद्धति प्रस्तुत करना और नाटकों का मूल्यांकन करना जितना आसान है उपन्यासों की कसौटी बनाना उतना ही कठिन और संकटमय है। उपन्यास की आलोचना करना भी टेढ़ी खीर है। आज नाटक और उपन्यास दोनों विद्याओं के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गये हैं। उनकी संवेदनाएँ बदल गई हैं—तत्व बदल गये हैं, तो कसौटी भी बदलनी चाहिए। उपन्यास पहले के समान किसी व्यक्ति का चित्र मात्र नहीं रह गया है। उसकी अनेक प्रणालियाँ निकल पड़ी हैं। नाटक जहाँ किसी समस्या विशेष को सामने रख कर चलता है वहाँ उपन्यास समग्र जीवन के व्यापक और मूलभूत प्रश्नों को उठाता है। मूल प्रश्न के साथ उससे सम्बन्धित अनेक अन्य प्रश्न भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से उससे जुड़े रहने के कारण अपनी अभिव्यक्ति पा जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक की अपेक्षा उपन्यास जीवन के अधिक पास है, और जीवन को अधिक पूर्णता के साथ अभिव्यक्त कर सकता है। जीवन को उसके पूर्ण परिवेश में देखने की क्षमता केवल उपन्यासकार में होती है—नाटककार और कहानीकार आदि में नहीं होती है। प्राचीनकाल में जो स्थान महाकाव्य को प्राप्त था आज वही स्थान उपन्यास को प्राप्त है। युग की परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ प्राचीन महाकाव्यों और वर्तमान उपन्यासों की शैली, विषय, नाटक आदि की दृष्टि से बहुत परिवर्तन आ गये हैं। नाटकों में भी ये सभी परिवर्तन तो हुए हैं किन्तु अभिनेयता की दृष्टि से जो सुधार और परिवर्तन हुए हैं उन्होंने

नाटक की विधा में विकास न करके एकांकी, रेडियो रूपक, गीति नाट्य आदि की अनेक नवीन विधाएँ बनती जा रही हैं ।

अब तक नाटक और उपन्यास के जो तत्त्व बताये जाते हैं उनकी दृष्टि से दोनों में समानता स्थापित की जाती रही है । ये तत्त्व पाश्चात्य शास्त्रविदों की दृष्टि में ये हैं—

(१) कथा (Plot),
(२) नायक या चरित्र-चित्रण (Characterisation or Hero),
(३) कथोपकथन (Dialogue),
(४) देशकाल (Setting),
(५) शैली (Style),
(६) उद्देश्य (Philosophy of life or aim) ।

आजकल के नाटकों में ये सभी तत्व सर्वत्र नहीं पाये जाते हैं । डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक 'मादा कैक्टस' है उसमें मुख्य तत्व ये हैं—

(१) अभिनेयता,
(२) प्रतीकों का प्रयोग,
(३) भाषा तथा कथोपकथन,
(४) सन्देश ।

आजकल के नाटकों में रस खोजना मूर्खता है । वे तो दर्शकों को झकझोर देते हैं और बुद्धि को जाग्रत करके नये-नये युग-प्रश्न उठाकर हमें सोचने-विचारने को मजबूर कर देते हैं । न चाहते हुए भी आप सोचने लगते हैं । आज का उपन्यास भी अधिक मनोवैज्ञानिक और गुम्फित हो गया है । प्राचीन महाकाव्यों के समान उसमें धीरोदात्त नायक की खोज करके चतुर्वर्ग की उपलब्धि खोजना हास्यास्पद ही रहेगा । सिनेमा और संचार व्यवस्था के विकास ने जहाँ नाटकों की प्रगति को बाधा पहुँचाई है, वहाँ उपन्यासों को सहायता । इसका मूल कारण तो यही है कि उपन्यास जहाँ शुद्ध काव्य है वहाँ नाटक मिश्रित कला है । नाटक को एक सुसज्जित रंगमंच की आवश्यकता होती है, जबकि उपन्यास स्वतन्त्र है, उसे किसी अन्य कला की सहायता अपेक्षित नहीं है । जैसा कि एक बार Marion Crawford ने कहा था कि उपन्यास तो 'जेबी रंगमंच' रखता है, उसमें केवल कथा और चरित्र ही नहीं होते वरन् वेश-भूषा, दृश्य तथा अन्य रंगमंचीय आवश्यकताएँ भी अन्तर्भूत रहती हैं ।

इन्हीं सारे कारणों का परिणाम है कि आज के वैज्ञानिक युग में भी (जब कि ध्वनियंत्र, प्रकाशयंत्र, वाद्ययंत्र आदि अति सुलभ हो गये हैं) नाटक की अपेक्षा उपन्यास का विकास ही अधिक हो रहा है। नाटक को राज्याश्रय मिल जाने से सम्भव है स्थिति में कुछ सुधार हो, किन्तु अधिक विकास की सम्भावनाएँ प्रायः नहीं हैं।

४. उपन्यास और कहानी

कुछ लोगों की मान्यता है कि जिस कथा का आकार बड़ा हो गया वह उपन्यास और जिसका आकार छोटा रह गया वह कहानी रह जाती है। आकार भेद के आधार पर आजकल कहानी और उपन्यास को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। उपन्यास में समग्र जीवन या जीवन के प्रमुख अंश का संघर्षमय अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ चित्र होता है, जबकि कहानी एक संवेदना, घटना व चरित्रगत विशेषता को लेकर चलती है। प्रेमचन्द के अनुसार कहानी का उद्देश्य किसी मनोवैज्ञानिक गुत्थी को सुलझाना होता है। उपन्यास यथार्थ जीवन को कल्पित पात्रों द्वारा वर्णित करता है। 'एडगर एलिन पो' ने कहानी की परिभाषा करते हुए बताया है कि कहानी का पठन-काल आध घण्टे से लेकर दो घण्टे तक हो सकता है। उपन्यास में एक दिन से लेकर सप्ताह तक लग सकते हैं। कथानक दोनों का कल्पित होता है किन्तु उपन्यास के कथानक में जो गुम्फन होता है कहानी में नहीं। कहानी सादा और सीधा सत्य प्रकट करने का साधन है। कहानी का कार्य प्रकृति और जीवन की झलक दिखाना और छोटे-छोटे चित्र खींचना है जो देखने में सुन्दर और विचार करने पर उपादेय सिद्ध हों। कहानी लेखक छोटी-छोटी बातों और सम्पूर्ण चित्र को देने में समर्थ नहीं होता। उपन्यासकार इनका पूर्ण उपयोग कर लेता है। कहानी का कथानक सरल, कार्य-प्रवाह अविरल तथा संगत होता है। कथा पात्रों के मनोविज्ञान के अनुसार क्षिप्रगति से चलती है, उपन्यास जहाँ महासागर हैं वहाँ कहानी एक तीव्रगति से चलने वाली पहाड़ी नदी है, जिसमें रवानगी और उद्देश्य तक पहुँचने का पूर्ण वेग होता है। पात्र कम से कम और आवश्यकतानुसार होते हैं। पात्रों के चरित्र का पूर्ण विकास कहानी में नहीं दिखाया जा सकता—यह तो उपन्यास में ही दिखाया जा सकता है। कहानी के कथानक का विभाजन नहीं हो सकता जबकि उपन्यास के कथानक को अनेकभागों में बाँटा जा सकता है। प्रभाव की अन्विति कहानी का मुख्य अंग है। उपन्यास में अन्विति का उतना ध्यान

नहीं रखा जा सकता। कथोपकथन और देशकाल के परिचय के लिए भी कहानी में यथेष्ट अवकाश नहीं रहता। वातावरण प्रधान कहानी को छोड़कर शेष कहानियों में पात्र अथवा घटना की प्रधानता ही रहती है। आजकल जो प्रतीकात्मक कहानियाँ प्रचलित हो गई हैं उनमें किसी मानव सत्य को उद्घाटित किया जाता है। उपन्यास किसी एक प्रश्न को लेकर सीमित नहीं हो सकता।

उपन्यास और कहानी का अन्तर स्पष्ट करते हुए हिन्दी साहित्यकारों द्वारा कथा साहित्य के बड़े रूपों उपन्यास और उपन्यासिका (लघु उपन्यास) की तरह कहानी में भी कथा सूत्र, कथानक, पात्र और देशकाल या परिस्थिति उसके प्रमुख तत्व बताये गये हैं तथा इसमें भी पात्रों के पारस्परिक अथवा परिस्थिति के विरुद्ध द्वन्द या संघर्ष, संघर्ष की पराकाष्ठा, चरम सीमा तथा संघर्ष की जटिलताओं के विघटन में कहानी के अन्त की विकास रेखा बताई गई है। उसे भी उत्तम पुरुष, सर्वज्ञ या सीमित अन्य पुरुष के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। कथा साहित्य के उपर्युक्त बड़े रूपों से कहानी की भिन्नता इतनी ही नहीं है कि उसका कथानक बहुत छोटा होता है, उसमें घटना-प्रसंग और दृश्य तथा पात्र और उनका चरित्र-चित्रण अत्यन्त न्यून, सूक्ष्म और संक्षिप्त होता है वरन् कहानी प्रस्तुत करने में लेखक के दृष्टिकोण से तथा कहानी का वातावरण अर्थात् समस्त कहानी में परिव्याप्त सामान्य मनोदशा से उसके शिल्प-विधान में ऐसी एकता और प्रभावान्विति आ जाती है जो कहानी की निजी विशेषता है और उसके रूपात्मक व्यक्तित्व की पृथकता प्रकट करती है।

कहानी के सम्बन्ध में अक्सर कहा जाता है कि कहानी वह विद्या है जो आने वाले युग में उपन्यास को उसके स्थान से च्युत करके उसके सभी उत्तरदायित्वों को स्वयं स्वीकार कर लेगी। इस प्रकार दोनों के मूल में कहानी की बढ़ती हुई लोकप्रियता ही छिपी रहती है। इन सभी सम्भावनाओं का बहुत ही विश्वास के साथ उत्तर 'न' में दिया जा सकता है। कहानी कभी भी उपन्यास को उसके स्थान से नहीं हटा सकेगी। इसका मुख्य कारण यह है कि कहानी उपन्यास के क्षेत्र को कभी भी पूर्ण रूप से नहीं ढँक सकेगी। उपन्यास द्वारा छोड़े गये स्थान में चाहे वह कितनी भी फैले, किन्तु उसे भर नहीं सकेगी। उपन्यास में मानव-जीवन की जिस व्यापक और विस्तृत पृष्ठ-भूमि को प्रस्तुत करने का प्रयत्न रहता है, कहानी उस स्वरूप की कभी और किसी भी दशा में पूर्ति नहीं कर सकती। वह तो केवल एक क्षेत्र को भर सकती है न कि उपन्यास के पूर्ण क्षेत्र को। उपन्यास यदि महासागर है तो

कहानी एक सुन्दर, सजा हुआ तथा कमल-पुष्पाच्छादित सरोवर है। वह चाहे थोड़ी देर के लिए हमारा मन अपनी ओर आकर्षित भले ही कर ले किन्तु गहनता, विस्तार, अपार जलराशि आदि की उपलब्धि समुद्र में ही सम्भव है। समुद्र में यदि खारापन है तो मोती भी तो उसी से निकलते हैं। कहानी में चरित्रों का विकास दिखाना सम्भव न होने से कहानी में व्यक्तियों के दुःख-सुख, पसन्द-नापसन्द, ईर्ष्या-द्वेष आदि की गम्भीर व्यंजना नहीं हो पाती है। चरित्र का विकास व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में डालकर और उसकी क्रियाओं को अलग-अलग रूपों में दिखाकर किया जाता है—कहानी में इस सबके लिए कोई स्थान नहीं होता। जीवन का यह स्वाभाविक अनुभव है कि हमें कुछ समय के लिए भिन्न-भिन्न प्रकृति के आदमियों के साथ रहना पड़ता है और उनसे यथार्थ रूप में परिचित होने से पूर्व भिन्न-भिन्न सम्बन्धों और परिस्थितियों में हम उन्हें देखते हैं। यथार्थ जीवन का यह अनुभव जितना यथार्थ और सत्य होता है उतना ही सत्य उपन्यास के पात्र और उनका जीवन होता है। यथार्थ जीवन की सी विविधता और गहनता उपन्यास के माध्यम से हम प्राप्त कर सकते हैं—इससे हमें अपने यथार्थ जीवन में सहायता और मार्ग-दर्शन तक प्राप्त हो जाता है। डिकिन्स (Dickens) के पात्रों के सम्बन्ध में टॉल्सटॉय (Tolstoy) ने लिखा था कि वे मेरे निजी मित्र हैं (They are my personal friends)। मित्र से हम क्या नहीं सीख सकते ? कहानी में इस सबके लिए कोई स्थान नहीं होता क्योंकि वहाँ हम पात्रों से कुछ मिनटों के लिए ही मिलते हैं। उनके चरित्र से सम्बन्धित कुछ धुँधली सी आभा दिखाई देती है—कोई स्पष्ट चित्र नहीं बनता और अस्पष्टता में अज्ञान बना रहता है। जब तक व्यक्ति जीवन के बहुमुखी होने और वैविध्य में विश्वास करते हैं तथा उनकी रुचि मनुष्य के स्वभाव की बारीकियों में बनी हुई है, तब तक हम पूर्ण विश्वास के साथ यह कह सकते हैं कि उपन्यास कला अपने प्रतिनिधि रूप को नहीं छोड़ सकती।

जहाँ तक समानताओं का सम्बन्ध है उपन्यास और कहानी दोनों ही कथा साहित्य के अंग हैं। उपन्यास और कहानी के तत्वों में कोई बड़ा भारी भेद नहीं माना जाता। दोनों के ६ तत्व माने जाते हैं जिनके आधार पर इनकी आलोचना की जाती है—

(१) कथानक,
(२) चरित्र-चित्रण,
(३) कथोपकथन,
(४) देशकाल या वातावरण,

(५) शैली,

(६) उद्देश्य,

कहानी के सारे तत्व केवल उसकी 'प्रभाव की अन्विति' में पुंजीभूत हो सकते हैं और हो जाते हैं—जबकि उपन्यास में ऐसा नहीं हो सकता। कहानी में उद्देश्य की एकता (sing'eness of the aim) आवश्यक है। इस अन्तर को सूत्र-शैली में इस प्रकार कहा जा सकता है—

कहानी	उपन्यास
१—कहानी में जीवन छोटे-छोटे चित्रों में प्रस्तुत किया जाता है।	१—उपन्यास जीवन का विस्तृत और व्यापक चित्र उपस्थित करता है।
२—कहानी में सभी तत्व इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं कि कहानी के उद्देश्य की उपलब्धि शीघ्रातिशीघ्र और अधिकाधिक मात्रा में हो सके।	२—उपन्यास के तत्वों के प्रयोग में स्वतन्त्रता रहती है। सारा कथानक तीव्रता से किसी एक दिशा में नहीं चलता।
३—कहानी में संकेतों से काम लिया जाता है और उसकी शैली संक्षिप्ति की होती है।	३—उपन्यास में वर्णनात्मकता अधिक होती है—वर्णन खूब लम्बे-लम्बे हो सकते हैं। प्रकृति वर्णन आदि के लिए भी पर्याप्त अवसर रहता है। उपन्यासकार संक्षिप्त होने की अपेक्षा विस्तारवादी होना चाहता है।
४—नदी की धारा के एक दृश्य विशेष के समान जीवन के किसी क्षण-विशेष का चित्रण होता है।	४—नदी की प्रवाहित होती हुई पूरी धारा का चित्रण किया जाता है—समग्र-जीवन स्पष्ट होकर उपन्यास का विषय बनता है।
५—कहानी में प्रासंगिक कथाएँ बिलकुल नहीं होतीं, क्योंकि इनके लिए वहाँ अवकाश नहीं होता।	५—उपन्यास में प्रासंगिक कथाएँ होती हैं। उपन्यास में प्रासंगिक कथाओं के लिए यथेष्ट अवसर भी होता है। इससे आधिकारिक कथा की नीरसता और एकरसता भंग होकर वैविध्य उत्पन्न होता है जो उपन्यास

कहानी	उपन्यास
	कला को चमत्कारिक और अधिक प्रभावोत्पादक बना देता है।
६—कहानी के सभी तत्व अपना सूक्ष्म रूप ग्रहण कर लेते हैं, क्योंकि कहानी में संवेदनीयता अति सूक्ष्म होती है। थोड़े समय में ही वहाँ महत्वपूर्ण बात कही जाती है। कहानी कलात्मक अधिक होती है, वह एक भाव-विशेष का ही चित्रण करने का प्रयत्न करती है।	६—उपन्यास सूक्ष्म कला पर आधारित न होकर व्यापक और उदात्त दृष्टिकोण को लेकर चलता है। उसमें अनेक भाव और रस अपनी समग्रता में वर्णित होते हैं। जितना वैविध्य उपन्यास में आ सकता है, उतना किसी अन्य विधा में सम्भव नहीं है।
७—कहानी का प्रभाव हल्का और क्षणिक होता है।	७—उपन्यास में परिस्थिति और पात्र का पूरा-पूरा तथा व्यापक वर्णन रहता है जिससे हृदय पर गम्भीर संस्कार जम जाते हैं। हम उपन्यास द्वारा हल्का मनोरंजन करके ही नहीं बच सकते। उपन्यास हमारी समग्र चेतना को आलोकित कर देता है और हम सोचते चले जाते हैं। गम्भीरतापूर्वक जीवन-प्रश्नों पर इसमें विचार किया जाता है।
८—कहानी किसी सामान्य घटना, मनोवैज्ञानिक तथ्य या किसी परिस्थिति विशेष का चित्रण करती है, जिसमें केवल एक प्रश्न उठाया जा सकता है।	८—उपन्यास एक दृश्य को लेकर नहीं चल सकता। एक के साथ अनेक प्रश्न जुड़े आते हैं।

कुछ विद्वान कहानी और उपन्यास को दो शैलियाँ मात्र मानते हैं।[1] जबकि एक आचार्य ने प्रथम पाँच तत्वों को कहानी में अनिवार्य बताया है और छठे की अनिवार्यता तथा मुख्यता उपन्यास में होती है—ऐसा सिद्ध किया

---

१. 'हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास' : डा० प्रताप नारायण टण्डन, पृष्ठ ६५।

है।[1] एक वयोवृद्ध आलोचक महोदय के मतानुसार कहानी को उसके पुराने रूप में उपन्यास की 'अग्रजा' और नये रूप में उसकी 'अनुजा' ही कहना अधिक समीचीन है।[2] इन्हें कहानी और उपन्यास का भेदतत्व 'कहानी की एकरसता' ही प्रतीत होता है।

---

१. 'साहित्य का साथी' : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २६।
२. 'काव्य के रूप' : डा० गुलाबराय, पृष्ठ २१७।

५. उपन्यास-तत्व

उपन्यास का वर्तमान रूप पश्चिम की देन है, यद्यपि कुछ लोग इसे संस्कृत साहित्य के उपन्यासों की परम्परा का प्रसाद मानते हैं। किन्तु इसे मान्य-मत और स्वस्थ दृष्टिकोण इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि हिन्दी उपन्यास की जो शैली-शिल्प प्रचलित है, उसमें भारतीय तत्व न पाये जाकर पाश्चात्य तत्व पाये जाते हैं। अत: उपन्यास-तत्वों के विवेचन का आधार पाश्चात्य-कथा साहित्य की कसौटी ही स्वीकार की गई है। उपन्यास के ६ तत्व माने गये हैं—

(१) कथानक,
(२) चरित्र-चित्रण,
(३) कथोपकथन,
(४) देश-काल,
(५) शैली,
(६) उद्देश्य।

इनका क्रमशः विवेचन किया जाना उचित होगा।

कथानक

कथानक 'कथ' धातु से निर्मित हुआ है। इसका सामान्य अर्थ है— 'जो कुछ कहा जाय' कथानक का शाब्दिक अर्थ 'कथा का छोटा रूप' या 'सारांश' होता है। इस शब्द के जहाँ अनेक अर्थ हैं, वहाँ उसका एक अर्थ साहित्य का कथात्मक रूप भी है। यह कथात्मक रूप महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, प्रेमाख्यान, लोककथा आदि में सर्वत्र मिलता है। इन विद्याओं में जो तत्व रीढ़ की हड्डी के समान सारी घटनाओं को गतिशील बनाता है, उसे कथानक कहते हैं। कथानक के चारों ओर घटनाएँ बेल की तरह बढ़ती, फैलती और विस्तार पाती चली जाती हैं। साहित्य में कार्य-व्यापार की योजना को ही कथानक कहा जा सकता है। प्रत्येक कथा

को कथानक नहीं कहा जा सकता है। कथा और कथानक में अन्तर किया जाय तो कहा जा सकता है कि कथा में तो घटना की प्रधानता होती है जिसमें श्रोता या पाठक यह जिज्ञास करता है कि 'हाँ फिर आगे क्या हुआ ?' और कथानक में कार्यकारण सम्बन्ध प्रमुख होता है और आगे की घटनाओं का कोई न कोई उचित कारण दे दिया जाता है। कथानक का श्रोता या पाठक जिज्ञासा करता है—'यह कैसे और क्यों हुआ ?' इसी कथन का समर्थन E. M. Forster ने किया है। वे लिखते हैं कि कथा (कहानी) घटनाओं का वर्णन मात्र होती है। कथानक में यद्यपि घटनाओं का वर्णन तो होता है किन्तु जोर उनके कारण पर दिया जाता है। 'राजा मर गया और तब रानी भी मर गई'—यह एक कहानी है। 'राजा मर गया और तब उसके वियोग में रानी मर गई, यह एक कथानक है। यद्यपि कथानक में कालानुक्रमिक वर्णन रहता है किन्तु कार्यकारण सम्बन्ध उसके ऊपर हावी रहते हैं। 'रानी मर गई, किन्तु कोई न जान सका कि क्यों, जब तक कि यह खोज न हो गई कि इसका कारण राजा की मृत्यु का शोक था।' यह एक ऐसा कथानक है जिसमें अधिकाधिक विस्तृत होने का रहस्य छिपा हुआ है। यह कालानुक्रम को भी स्थगित कर सकता है।[1] कथानक का आधार कहानी होती है और कहानी में घटनाओं का संग्रह होता है।[2]

हिन्दी साहित्य-कोश के अनुसार कथानक में समय की गति घटनावली को खोलती जाती है। और साथ ही यह भी प्रमाणित होता जाता है कि

---

1. "We have defined a story as a narrative of events arranged in their time sequence. A plot is also a narrative of events, the emphasis falling on casuality. 'The king died, and then the queen died', is a story. 'The king died, and then the queen died of grief,' is a plot. The time sequence is preserved, but the sense of causality overshadows it, or again : 'The queen died, no one knew why, until it was discovered that it was through grief at the death of the king.' This is a plot with a mystery in it, a form capable of high development. It suspends the time sequence." ('Aspects of the Novel', pp. 116-7.)

2. "The basis of a novel is a story, and a story is a narrative of events arranged in time sequence. (A story by the way, is not the same as a plot. It may form the basis of one, but the plot is an organism of a higher Type.) (*Ibid*, p. 46.)

विश्व का संघटन युक्तियुक्त है, उसमें कार्यकारण का अन्तःसम्बन्ध है तथा वह बुद्धिगम्य है। परन्तु युक्तियुक्तिता और बुद्धिगम्यता का तात्पर्य प्राकृतवाद नहीं है। कथानक की घटनाएँ यथार्थ घटनाओं की ठीक प्रतिकृति नहीं होतीं, उनकी संयोजना कला के स्वनिर्मित विधान के अनुसार होती है। कथानक देव, दानव और अतिप्राकृत तथा अप्राकृत घटनाओं से भी निर्मित होते हैं। शर्त केवल यह है कि उनका निर्माण परम्परा द्वारा स्वीकृत विधान के अनुसार हो। कथा में विश्वसनीयता ही सत्य की कसौटी है। उस सत्य घटना से जिसकी सम्भावना का विश्वास नहीं जमाया जा सका, वह असम्भव अथवा असत्य घटना कहीं अधिक उपयोगी है जिसे विश्वसनीय बनाकर कहा गया है। कथानक में विश्वास जमाने का गुण होना चाहिए, कथाकार एक सिद्ध मिथ्यावादी होता है।[1]

आज के उपन्यासों का कथानक प्राचीन उपन्यासों की अपेक्षा बदल गया है। प्राचीनकाल में किसी राजा, नायक, मंत्री, राजपुरुष, नेता (किसी भी क्षेत्र का) को लेकर उपन्यास लिखा जाता था और लिखा जा सकता था, जबकि आजकल किसी कुली, महतर, राष्ट्र, जाति, समस्या, विचार, दृष्टिकोण आदि को आधार बनाकर उपन्यास लिखा जा सकता है। आज जीवन और जगत के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार विकसित हो रहे हैं। आज का उपन्यासकार नये से नये विचारों और नई से नई शैली को स्वीकार करना चाहता है। जिस पद्धति या विचारधारा को आधार मानकर उपन्यास लिखा जाता है, उपन्यास का वर्गीकरण उसी विशेषता के आधार पर कर दिया जाता है। आज के उपन्यास कथानक की इसी विशेषता के आधार पर अनेक वर्गों में विभाजित हो चुके हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—

(१) सामाजिक,
(२) ऐतिहासिक,
(३) राजनीतिक,
(४) जासूसी,
(५) तिलिस्मी और ऐयारी,

---

1. "It is not the poets province to relate such things as have actually happened, but such as might have happened—such as are possible, according either to probable or necessary consequences............They are distinguished by this, that the one relates what has been, the other what might be." ('Poetics' : Aristotle, p. 20.)

(६) मनोवैज्ञानिक,
(७) यथार्थवादी,
(८) अति यथार्थवादी,
(९) प्राकृतवादी,
(१०) मनोविश्लेषणवादी,
(११) आंचलिक,
(१२) मार्क्सवादी,
(१३) सर्वोदयवादी या गाँधीवादी,
(१४) रोमांचकारी,
(१५) ग्रामीण समस्या प्रधान,
(१६) मध्यवर्गीय चित्रण प्रधान,
(१७) वर्ग-संघर्ष युक्त,
(१८) क्रान्तिकारी,
(१९) सामयिक (Novel of time),
(२०) विज्ञानवादी, आदि-आदि ।

कथानक को उपन्यास का सर्वप्रमुख तत्व माना गया है । यद्यपि आजकल उपन्यासकार कथानक की स्थूलता और प्रमुखता से घबरा कर उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप देने का प्रयत्न करते हैं । आजकल तो कुछ उपन्यास ऐसे भी लिखे गये हैं जिनमें कथानक का नितान्त ह्रास है । मनोविज्ञान के सिद्धान्तों, स्वप्नविज्ञान के विवरणों और दो-चार घंटे के बीच मन में आने वाली असम्बद्ध विचारधारा का वर्णन भी इन उपन्यासों का विषय हो सकता है । प्रेमचन्दजी जब उपन्यास को मानव जीवन का चित्र मान लेते हैं तो उनका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि उपन्यास के कथानक में मानव जीवन की घटनाओं, भावनाओं, आदर्शों, उपलब्धियों और समस्याओं का चित्रण होता है।

प्रेमचन्द जी उपन्यास के कथानकों के स्रोत का वर्णन करते हुए बताते हैं कि वे आँख खोलकर देखने वाले को सर्वत्र मिल सकते हैं । "अगर लेखक अपनी आँखें खुली रखें, तो उसे हवा से भी कहानियाँ मिल सकती हैं । रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार पत्रों में, मनुष्य के वार्त्तालाप में और हजारों जगहों से सुन्दर कहानियाँ बनाई जा सकती हैं ।" वे आगे अन्तिम निर्णय देते हुए बताते हैं—"उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए ।"

वालटर बेसेंट अपनी 'उपन्यास कला' नामक पुस्तक में लिखते हैं—"उपन्यासकार को अपनी सामग्री आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं,

उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखों से काम नहीं लेते। कुछ लोगों को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों में जितने नमूने थे, वे तो पूर्वकालीन लेखकों ने लिख डाले, अव हमारे लिए क्या बाकी रहा ? यह सत्य है। लेकिन अगर पहले किसी ने बूढ़े कंजूस, उड़ाऊ युवक, जुआरी, शरावी, रंगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते ? पुस्तकों में नये चरित्र न मिलें, पर जीवन में नवीनता का अभाव कभी नहीं रहा।"[१]

कथानक की योजना के समय उपन्यासकार को इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना होता है कि इसमें क्या ग्रहण किया जाय और कितना छोड़ दिया जाय। लेखक यदि पाठकों की कल्पना शक्ति का भरोसा नहीं करता और उनकी उर्वर कल्पना के लिए कुछ सामग्री नहीं छोड़ता तो पाठक ऊब उठता है और जिन बातों की कल्पना वह स्वयं कर लेता है उन्हें बिना पढ़े ही पृष्ठ पलटता हुआ चला जाता है। कथानक की सुन्दर आयोजना की विशेषता यह है कि कलाकार अपने अनुमान द्वारा यह निश्चय कर ले कि मुझे कौन बात और किस सीमा तक लिखनी है और किसका संकेत करके ही छोड़ देना है। उपन्यास की सफलता के अनेक कारणों में से एक कारण यह भी है कि जिस उपन्यास में पाठकों की कल्पना के लिए जितनी अधिक सामग्री छोड़ दी जायगी, वह उपन्यास उतना ही अधिक रोचक और सफल कहा जायगा।

कथानक का एक विशिष्ट गुण यह है कि पाठक की जिज्ञासा बनी रहे। जिस वस्तु के सम्बन्ध में हमारी जिज्ञासा जितनी निम्न कोटि की होती है, उस वस्तु को स्मरण रखने में हम उतने ही अधिक असमर्थ सिद्ध होते हैं। केवल जिज्ञासा से भी काम नहीं चल सकता। जिज्ञासा की तृप्ति होने के पश्चात् पाठक की मेधा और स्मरण शक्ति का नम्बर आता है। पाठक यदि मेधावी और अच्छी स्मरण शक्ति वाला है तो वह कथानक को भली प्रकार समझ लेगा। बिना याद रखे हम कथानक को समझने में असमर्थ रहते हैं, इसके लिए यह आवश्यक है कि कथानक न तो इतना छोटा हो कि उसमें सौन्दर्य उत्पन्न ही न होने पाये और न इतना अधिक बड़ा हो कि आगे पढ़ते चले जायँ और पीछे का भूलते जायँ। आगे जब पिछले सन्दर्भों से आगे कथा को बढ़ाया जाय तो पाठकों को पिछले पन्ने पलटने पड़ेंगे।

---

१. 'कुछ विचार' : प्रेमचन्द, पृष्ठ ८५-८६।

कुछ विद्वान आज कथानक को अनावश्यक मानते हैं। उनका कथन है कि कथानक में जीवन की दिशाओं और क्रियाओं का वर्णन रहता है। जब जीवन ही क्रमहीन और अव्यवस्थित है तो उपन्यास के कथानक में व्यवस्था खोजना और उत्पन्न करना और भी मूर्खता है। परम विद्वान नीत्शे की मान्यता है कि जो बातें पहले निश्चित कर ली जाती हैं, असत्य सिद्ध होती हैं (All that is prearranged is false)। नीत्शे के इस कथन में यथेष्ट सत्य है। वास्तव में जीवन-क्रम को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी कोई सुनियोजित पूर्वनिश्चित रूप-योजना नहीं है; वह तो अनिश्चित, असम्बद्ध, अविचारित घटनाओं का समूह मात्र है। जीवन की घटनाएँ देखकर रहस्य कम नहीं होता, उसकी उलझन घटती नहीं बढ़ती चली जाती है। जीवन नदी के प्रवाह के समान स्वच्छन्तापूर्वक आगे बढ़ता जाता है, क्रम की चिन्ता किये बिना ही। लेखक इस विश्रृंखलता में भी एक क्रम—एक श्रृंखला खोज निकालता है और उसी पर आधारित होकर उपन्यास की रचना करता है। उपन्यास में घटनाओं का क्रम सजाया जाता है और उन्हें कार्य-कारण सम्बन्ध के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। हमारा जीवन बहुत व्यापक है जिसमें सहस्रों अनुभव थोड़े से घंटों में ही हो सकते हैं। ये अनुभव एक मनुष्य को होते हैं। इस जगत् में असंख्य प्राणी हैं, सबके अनुभव भी एक से नहीं हो सकते—और न होते हैं; अतः भिन्नता होना स्वाभाविक है। अब उपन्यासकार का यह कर्त्तव्य है कि वह देखे और विचारपूर्वक इस वृहद् अनुभव-भण्डार में से कुछ को चुनकर उन पर एक कथानक को खड़ा करे। उपन्यासकार के इस चयन और स्वीकृति तथा अस्वीकृति पर ही उसकी कलात्मक सफलता और असफलता निर्भर करती है।

हमारा जीवन बहुत ही गुम्फित और तीव्र आवेगों से युक्त होता है। जीवन में जो अनुभूतियाँ अधिक मार्मिक और प्रभावकारी होती हैं—जिनका हमारे मन पर स्थायी प्रभाव हो जाता है, उन्हीं को हम काव्य में स्थान देना उचित समझते हैं। अनावश्यक भरती की और उन तीव्र अनुभूतियों के अतिरिक्त जो हमारा ध्यान स्वतः अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं—यह हमारे लिए आवश्यक होता है कि शेष को भुला दें और उन्हें उपन्यास या अन्य काव्य विधाओं में स्थान न दें। कभी-कभी उपन्यासकार अनुभूतियों का वर्णन करते-करते कल्पना के सहारे यथार्थ से बहुत दूर चले जाते हैं। उपन्यास में विलक्षणता तो आ जाती है किन्तु स्वाभाविकता और यथार्थ का सहज अभाव हो जाता है। कविता यथार्थ की उपेक्षा कर सकती है, संगीत यथार्थ को छोड़कर भी जी सकता है, पर उपन्यास और कहानी के लिए

यथार्थ प्राण है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति के अनुभव अपूर्ण, एकांगी और अधकचरे रहते हैं और उन्हीं को आधार बनाकर उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि एक गलत दृष्टिकोण विज्ञापित होने लगता है, जिससे समाज के गुमराह होने का भारी अन्देशा रहता है। इसीलिए अंग्रेजी उपन्यास लेखिका ईलियट ने कहा है कि जिन स्त्रियों ने पुरुषों के सम्बन्ध में पुरुषों की भाँति लिखने का प्रयत्न किया है तथा पुरुषों के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है, वह उचित सिद्ध नहीं हो सका है—उसमें स्त्रियोचित दृष्टिकोण को स्थान मिल गया है।[१] प्रेम (जो प्रायः सभी उपन्यासों में किसी न किसी रूप में स्थान पा ही जाता है) के सम्बन्ध में पुरुषों और स्त्रियों दोनों का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होता है। स्त्री और पुरुष की प्रकृति में भी भेद है। प्रेम में स्त्री समर्पण करती है और पुरुष उसके समर्पण को स्वीकार करता है। इस आदान-प्रदान में दृष्टिकोण का भेद बना रहता है। जिस लेखक की जिस क्षेत्र में पहुँच हो, जिस प्रकार के भाव और अनुभव उसके लिए सहज हों, उसे उन्हीं का वर्णन करना चाहिए।

कथावस्तु के दो भेद किये गये हैं—

(१) सादा (Simple),

(२) गुम्फित (Compound)।

सादे कथानक में केवल एक कथा होती है; सहायक कथाएँ उसमें नहीं होतीं। गुम्फित कथानक में दो या दो से अधिक कथाएँ होती हैं। प्रमुख या प्रधान कथा को आधिकारिक-कथा कहते हैं और सहायक-कथाओं को प्रासंगिक। गुम्फित कथानक की विशेषता यह होनी चाहिए कि सभी कथाएँ एक दूसरी से इस प्रकार जुड़ जायँ कि उनमें अन्तर न रहे—सब कुछ मिलकर वह एक कथा प्रतीत होने लगे। गुम्फित कथानकों को जोड़ कर उनमें एक-रसता उत्पन्न करना बहुत कठिन है। प्रेमचन्द जैसे महान् उपन्यासकारों को भी इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त करने में कठिनता का अनुभव होता रहा था। उनका सबसे उत्तम उपन्यास 'गोदान' दो कथाओं को लेकर चलता है। एक कथा 'होरी' की है जिसमें गाँव की समस्याएँ उठाई जाती हैं और ग्रामीण पात्र अपने परिवेश में प्रस्तुत होते हैं। दूसरी कथा शहर की कथा है जिसमें

---

1. "They tried to write like men and from men's point of view, instead of taking their stand on the fundamental differences of sex, with all that this implies, and endeavouring to portray life frankly and sincerely as a woman knows it."

मुख्य पात्र तो 'मेहता' और 'मालती' हैं, किन्तु कुछ अन्य पात्र भी लाये गये हैं जो ग्राम और शहर दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न 'नवीन-समाज' के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं, जैसे 'रायसाहव', 'गोबर' आदि। 'मालती' और 'मेहता' (जिनमें एक डाक्टर और दूसरे प्रोफेसर हैं) ग्राम-सुधार की ओर मुड़ते हैं; और उपन्यासकार ने इस प्रकार 'शहरी कथा' को 'ग्रामीण कथा' से जोड़कर गुम्फित कथानक निर्मित किया है, किन्तु घटनाएँ पात्रों के स्वाभाविक मनोविज्ञान से मेल न रखने के कारण तथा अतिशय आदर्शवाद के कारण अपनी स्वाभाविकता की रक्षा करने में असमर्थ सी लगती हैं। परिणाम यह होता है कि 'गुम्फित-कथानक' के अनिवार्य गुण उसमें उस मात्रा में नहीं आ पाये हैं कि उनका द्वैत मिटकर 'एकरूपता' और 'एकरसता' उत्पन्न हो सके। गुम्फित-कथानकों में एक विशेषता भी होती है जो 'सामान्य' या 'सादा' कथानकों में नहीं होती, और वह है तुलनात्मक दृष्टिकोण। 'गोदान' में प्रेमचन्दजी ने दो कथानक प्रस्तुत करके यह स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है कि आज के युग में शहरी और ग्रामीण सभ्यता के सम्बन्ध कैसे हैं। शहर किस प्रकार गाँवों पर और गाँव किस प्रकार शहरों पर आश्रित हैं। इनके आर्थिक सम्बन्ध किस प्रकार अटूट होते जा रहे हैं। किसान परिवार (संयुक्त-परिवार) किस प्रकार टूट रहा है और मजदूर बनकर शहर की ओर काम की तलाश में बढ़ रहा है—जहाँ संगठित होकर मजदूर आन्दोलन में भाग लेता है और रुपया कमाकर भी वह गाँव लौटना नहीं चाहता, वरन् शहर में ही बस जाना चाहता है। वह साधन न होने पर जिन बातों को बुरा समझता है, अवसर मिलने पर वही करता है। 'गोबर' होली के अवसर पर गाँव में कर्जे की तीव्र आलोचना करता है और शहर में जाकर थोड़ा सा पैसा होने पर स्वयं सूद पर रुपया उठाने लगता है। मिर्जा खुर्शेद से ब्याज तो क्या मूलधन भी वसूल हो न हो, इसलिए रुपया पास होने पर भी झूठ बोल देता है। जबकि दूसरी ओर ग्रामीण पात्र 'होरी' मर जाता है किन्तु बाहर और भीतर की अभेदता को बनाये रखता है। वह इस प्रकार का दिलेरीयुक्त झूठ कभी न बोल पाता।

इस प्रकार के तुलनात्मक दृष्टिकोण में विभिन्न जीवन दर्शनों की तुलना भी की जाती है और विभिन्न पात्रों द्वारा एक या विभिन्न परिवेशों में प्रस्तुत करके कुछ स्थापनाएँ करने का प्रयत्न किया जाता है। 'उखड़े हुए लोग' में 'नेता भैया' और उपन्यास के नायक की कथाएँ भी अलग-अलग होते हुए भी जुड़ी हुई दिखाई गई हैं। 'सूरज' सर्वहारावर्गीय (प्रगतिवादी) दृष्टिकोण का तथा 'नेता भैया' पूँजीवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधि है। उनकी

क्रियाएँ दृष्टिकोण की पोषक हैं। इसमें विभिन्न पात्रों और कथाओं द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों, जीवन-दर्शनों और सिद्धान्तों का भेद स्पष्ट किया गया है।

नाटक के कथानक की यदि उपन्यास के कथानक से तुलना करें तो स्थितियों की दृष्टि से दोनों में कुछ समानता की सम्भावनाएँ देखी जा सकती हैं।

नाटक की कथा में पाँच कार्य अवस्थाएँ होती हैं—

(१) प्रारम्भ,
(२) प्रयत्न,
(३) प्राप्त्याशा,
(४) नियताप्ति,
(५) फलागम।

अरस्तू के 'पोइटिक्स' में वर्णित निम्न अवस्थाओं से इनकी तुलना की जा सकती है—

(१) Exposition (एक्सपोजीशन),
(२) Incident (इन्सीडेन्ट),
(३) Crisis (क्राइसिस),
(४) Denoument (डिन्यूमा),
(५) Catastrophe (कैटास्ट्रौफी)।

नाटक में पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ और इन अर्थ-प्रकृतियों और कार्य-अवस्थाओं को जोड़ने वाली पाँच संधियाँ होती हैं, किन्तु उपन्यास में ये तत्व नहीं होते। उपन्यास में कार्यावस्थाएँ मिल जाती हैं।

कथानक उपन्यास में अनेक रीतियों से प्रस्तुत किया जाता है—

(१) वर्णनात्मक शैली,
(२) आत्मकथात्मक शैली,
(३) पत्रात्मक शैली,
(४) डायरी शैली।

वर्णनात्मक और आत्मकथात्मक शैलियाँ ही प्रमुख हैं। इन दोनों प्रणालियों में कथा के कहने का ढंग परिवर्तित हो जाता है। इस परिवर्तन से कथानक में कुछ मौलिक अन्तर आ जाता है। वर्णनात्मक शैली में उपन्यासकार इतिहासकार के समान कथानक की जटिलताओं को उसकी सीमा के अन्तर्गत स्पष्ट करता चलता है। कभी-कभी वह नाटक के समान घटनाओं और समस्याओं का उद्घाटन पात्रों द्वारा कथोपकथन पद्धति से

करता है, कभी स्वयं वर्णन करने लगता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत उपन्यासकार सामने आकर और खुले आम घटनाओं और पात्रों के सम्बन्ध में अपना मत देने से नहीं चूकता। किसी भी घटना और पात्र से मन की किसी भी परम-गोपनीय भावना को स्पष्ट करने में उसे हिचक नहीं होती। इस शैली को 'सर्वज्ञ शैली' कहा जा सकता है। इस शैली को उपन्यासकार के उद्देश्य को परम सफलता के साथ सम्पादित करने वाला माना गया है।[1]

आत्मकथात्मक शैली में उपन्यासकार स्वयं को उपन्यास के किसी पात्र के साथ एकरूप कर लेता है। कभी-कभी वह स्वयं को एक पात्र बना लेता है। इस शैली की कुछ सीमाएँ रहती हैं। इसमें सर्वज्ञ शैली के समान उपन्यासकार सब कुछ नहीं जान पाता और न किसी के भीतर और दूर देश की बातों को बिना उसकी जानकारी का पर्याप्त कारण बताये हुए खोल सकता है। एक पात्र के रूप में वह उन्हीं बातों और घटनाओं की जानकारी देता है जिन्हें उसके लिए जान लेना सम्भव होता है। इस प्रकार के उपन्यासों का आधार सभी चरित्रों की विशेषताएँ प्रकट करना नहीं होता, वरन् स्वयं का वर्णन करना ही होता है। इस शैली में अधिकांशतः यह होता है कि अन्य पात्र और घटनाएँ तो नाम मात्र के लिए होती हैं, वास्तविक कहानी तो स्वयं की चलती है। इस शैली के सम्बन्ध में समरसेट मॉम की सम्मति है—

"To tell a story in the first person has also certain advantages. Like the method adopted by Henry James, it lends verisinititude to the narrative and obliges the author to stick to his point ; for he can tell you only what he has himself seen, heard or done. To use this method more often would have served the great English novelists of the nineteenth century well, since, partly owing to the methods of publication, partly owing to a national idiosyncrasy, their novels have tended to be shapeless and discursive. Another advantage of using the first person is that it enlists your

---

1. "Since novels have for the most part been written from the standpoint of omniscience, it must be supposed that the novelists have found it on the whole the most satisfactory way of dealing with their difficulties." ('The Novel and Their Authors' : Somerset Maugham.)

sympathy with the narrator. You may disapprove of him, but he concentrates your attention on himself and so compels your sympathy. A disadvantage of the method, however, is that the narrator, when, as in David Copperfield, he is also the hero, cannot without impropriety tell you that he is handsome and attractive, he is apt to seem vain glorious when he relates his doughty deeds and stupid when he fails to see, what is obvious to the reader, that the heroine loves him. But a greater disadvantage still, and one that no authors of this kind of novel have managed directly to surmount, is that the hero-narrator, the central character is likely to appear pallid in comparison with the persons he is concerned with. I have asked myself why this should be, and the only explanation I can suggest is that the author, since he sees himself in the hero, sees him from the confusion, the weakness, the indicision he feels in himself, whereas he sees the other characters from the outside, objectively, through his imagination and his intuition ; and if he is and author with, say, Dickens's brilliant gifts, he sees them with a dramatic intensity, with a boisterous sense of fun, with akeen delight in their oddity, and so makes them stand out with a vividness that overshadows his portrait of himself."

डॉ० श्रीकृष्ण लाल कामत इस सम्बन्ध में निम्न प्रकार लिखते हैं—

"नायक के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उपन्यास की यह शैली सर्वोत्तम है क्योंकि स्वयं कथा कहने के कारण नायक अपने अन्तस्तल तक की वातों का अत्यन्त प्रभावपूर्ण वर्णन कर सकता है, परन्तु इस शैली में एक दोष है कि नायक के अतिरिक्त अन्य चरित्रों का सुन्दर चित्रण नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त कथा के सौन्दर्य की भी इस शैली से पर्याप्त क्षति होती है। इसमें वर्णनात्मक शैली के उपन्यासों की भाँति मनोवैज्ञानिक चित्रण तथा प्रकृति के सुन्दर चित्र नहीं मिल सकते। साधारणतः यह शैली केवल उन्हीं

उपन्यासों के लिए उपयुक्त है जहाँ केवल एक ही प्रधान चरित्र हो और अन्य सभी चरित्र बहुत साधारण हों और वे संख्या में कम भी हों।" (आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृष्ठ २८७)

आचार्य हेमचन्द्र ने कथा कहने की प्रणाली के आधार पर कथानकों का विभाजन किया है और इसको भेदक तत्त्व स्वीकार करके कथाओं के भेद भी किये हैं। काव्यानुशासन के आठवें अध्याय के अनुसार वे भेद निम्न प्रकार हैं—

उपाख्यान—कथा प्रवन्ध के बीच दूसरों को समझाने के लिए कही गई कहानी उपाख्यान कहलाती है, जैसे—नल, सावित्री आदि।

आख्यानक—उसे कहा जाता है जो दूसरों के प्रवोध के लिए किसी ग्रंथिक (ज्योतिषी) के द्वारा किसी सभा में पढ़ा, गाया या अभिनय किया गया हो, जैसे—गोविन्दाख्यान।

निदर्शन—वह कथानक है जिसमें पशु, पक्षियों या अन्य जीवधारियों की चेष्टाओं और आचरणों से कार्य-अकार्य का निश्चय किया जाय, जैसे—पंचतंत्र, मयूरमार्जारिका आदि।

प्रवाह्लिका—प्रधान (कथा) को लेकर जहाँ दो व्यक्तियों में विवादादि अर्द्ध प्राकृत भाषा में प्रकट किया जाता है, वह प्रवाह्लिका कहलाती है, जैसे—चेटकादि।

मन्थाल्लिका—प्रेत महाराष्ट्र आदि भाषाओं में उस क्षुद्र कथा (कहानी) को मन्थाल्लिका कहते हैं, जिसमें प्रारम्भ से अन्त तक पुरोहित, अमात्य, तापस आदि का उपहास किया जाय, जैसे—गोरोचन, अनंगवती आदि।

मणिकुल्या—वह कहानी है जिससे वस्तु पहले प्रकट न होकर बाद में प्रकाशित होती है, जैसे—मत्स्य इसितादि।

परिकथा—जिसमें चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से किसी एक को लक्ष्य करके विचित्र प्रकार के वृत्तान्तों को सुनाया जाता है, जैसे—शूद्रकादि।

खंडकथा—किसी प्रबन्ध के भीतर जब किसी प्रसिद्ध वृत्तान्त को उसके बीच से या छोर से लेकर वर्णन करते हैं, वह खंडकथा है, जैसे—इन्दुमती।

सकलकथा—प्रारम्भ से फल प्राप्ति के अन्त तक पूरे चरित का यथातथ्य वर्णन जिसमें होता है वह सकल कथा है, जैसे—समरादित्य।

उपकथा—जहाँ किसी चरित्र के अंग का आश्रय ग्रहण कर अति विचित्र दूसरी कथा कही जाती है वह उपकथा है।

बृहत्कथा—किसी विशाल महत्त्वपूर्ण विषय को लेकर अद्भुत कार्य की सिद्धि का वर्णन करने वाली पिशाच भाषा से युक्त कथा बृहत्कथा है, जैसे—तरवाहनदत्तादि ।

ऊपर वर्णित कथा-पदों में परिकथा, सकलकथा और बृहत्कथा तो कथा के भेद हैं। मन्थाल्लिका, माणिकुल्या क्षुद्रकथा (आधुनिक कहानी) के रूप हैं। और उपाख्यान, आख्यानक, निदर्शन, प्रवह्लिका, खंडकथा, उपकथा आदि किसी प्रधान या आधिकारिक कथा की गौण या सहायक कथाएँ हैं, जिनका कि काव्य भेद की दृष्टि से अलग और स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि प्रधान या आधिकारिक कथा के स्वरूप के स्पष्टीकरण और विश्लेषण के लिए इन गौण या प्रासंगिक कथाओं के स्वरूप का समझना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र की उपर्युक्त व्याख्या अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

कथा के ये भेद आधुनिक कथा साहित्य के विवेचन में भी महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक उपन्यास के जासूसी, ऐतिहासिक और सामाजिक इन तीन भेदों को हम क्रमशः बृहत्कथा, सकलकथा और परिकथा में प्राप्त करते हैं।[1]

अच्छे उपन्यासों में जिन तत्त्वों का होना आवश्यक है, उनमें सबसे प्रमुख और प्रभावशाली तत्त्व 'संवदेनशील कथानक' माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह कथानक किसी एक वर्ग विशेष और समाज के अंग को ही पसन्द न हो, वरन् वह इतना विशाल क्षेत्र लिये हुए हो तथा मानवता का इतना विस्तृत क्षेत्र उसकी सीमा में आता हो, कि उसका सन्देश सम्पूर्ण समाज के स्त्री और पुरुषों को प्रभावित कर सके। समाज के अंग विशेष को प्रभावित करने वाला उपन्यासकार पूर्ण कलाकार नहीं माना जा सकता।[2]

कथानक की सफलता केवल घटनाओं को जोड़ देने भर से प्राप्त नहीं हो सकती। इसके लिए आवश्यक है कि कथानक सुगठित हो। यदि उसके अंग

---

१. 'काव्यशास्त्र', पृष्ठ ६९-७०; डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार।

२. "A good novel should have a widely interesting theme, by which I mean a theme interesting not only to a clique, whether of critics, professors, highbrows, bus-conductors or bar-tenders. But so broadly human that its appeal is to men and women in general; and the theme should be of enduring interest." ('The Novels and The Authors': Somerset Maugham.)

सुगठित, सन्तुलित और परस्पर भली प्रकार जुड़कर एकता स्थापित करने में असमर्थ होते हैं तो उससे उपन्यास के प्रभाव की मात्रा कम हो जाती है। कथा की शृंखला यदि अबाध गति से नहीं चलती और बीच-बीच में असम्बद्ध और अनावश्यक घटनाओं आदि का उल्लेख होता रहता है तो उससे उपन्यास में अस्वाभाविकता और अप्रभविष्णुता आ जाती है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि जिस प्रकार जीवन में सब कुछ शृंखलाबद्ध और पूर्व आयोजित प्रणाली के अनुसार नहीं होता, हम जो चाहते हैं और जिस प्रकार चाहते हैं, पूर्ण प्रयत्न करने पर भी सदैव वैसा ही घटित कराने में सफल नहीं हो पाते, तब फिर यह कैसे सम्भव है कि उपन्यास में, जो हमारे जीवन की सबसे अधिक पूर्णतायुक्त अभिव्यक्ति है, यह सब हो सके। 'स्ट्रीम आफ कौन्शसनेस नौवेल' की धुरन्धर आलोचिका वार्जीनिया वुल्फ लिखती हैं कि हमारे मन में जिस प्रकार विचार किसी क्रम से नहीं आते और जब जिन विषयों को लाना चाहें तभी उसमें सफल नहीं हो सकते और न उनका कोई स्पष्ट कारण ही दिखाना सम्भव होता है, इसी प्रकार मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यासों में सम्बद्धता नहीं बनी रह सकती। अंग्रेजी के समान हिन्दी में भी उपन्यासकारों का एक गुट है जो इस मान्यता में विश्वास करता है।[1] इन उपन्यासों में पात्रों के हृदय की घुण्डियाँ खोलकर रखने की प्रमुखता रहती है, घटना-क्रम के औचित्य का ध्यान नहीं रखा जाता। इस कथन का यह उत्तर दिया जा सकता है कि साहित्य यद्यपि जीवन से प्रभावित होता है किन्तु जीवन ही नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि कथाकार जीवन को उसके सम्पूर्ण और व्यापक रूप में देखता है। उसमें से उसे जो कुछ प्रभावोत्पादक

---

१. "इसमें सुसंगठित कथावस्तु के प्रति उदासीनता होती है, इसमें इस बात की इतनी परवाह नहीं होती कि कथा की कड़ियाँ इतनी बारीकी से मिलाई जायें कि कहीं भी जोड़ मालूम न पड़े। इसमें घटनाएँ गौण होंगी, उपलक्षण मात्र होंगी। उनके सहारे पात्रों के भावचक्र को खोलकर रखना ही उद्देश्य होगा। आंग्ल साहित्य में तो कथा की सुव्यवस्था (orderly unfolding of plot) को छिन्न-भिन्न करके देखने वाले औपन्यासिकों का एक सम्प्रदाय ही है। पर हिन्दी में भी इसकी प्रतिक्रिया जैनेन्द्र, अज्ञेय, शिवचन्द्र तथा अंचल के कुछ उपन्यासों में स्पष्ट दीख पड़ती है।" ('आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' : डॉ देवराज उपाध्याय, पृष्ठ २९।)

और विवेचन के योग्य दिखाई देता है, वह उसका उपयोग कर लेता है और शेष को छोड़ देता है। इस प्रकार कलाकार का काम अनियमित, विशृंखल और असम्बद्ध घटनाओं और क्रियाओं का वर्णन करना न होकर किसी एक पहलू विशेष को प्रकाशित करने वाले सभी उपकरणों का सुयोजित प्रयोग है। जो उपन्यास की कथा को ही उसका एकमात्र आधार तत्त्व मान लेते हैं, उनका दृष्टिकोण भी एकांगी ही कहा जायगा। उपन्यासकार के कर्त्तव्य की इतिश्री केवल उपयुक्त कथानक का चुनाव मात्र नहीं है, वरन् उपन्यासकार के कर्म का प्रारम्भ कथानक से होता है। इस कथानक को किस प्रकार अधिकाधिक प्रभावशाली और उसमें निहित सन्देश का वाहक बनाया जा सकता है, यह उसकी कलात्मकता का मार्मिक पहलू है।

कथानक की अन्य विशेषता उसकी मौलिकता होती है। मौलिकता का अभिप्राय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का विस्तार और सूक्ष्मता है। उपन्यास का विषय एक सामान्य घटना से लेकर राज्यक्रान्ति तक हो सकता है तथा एक पशु से लेकर कोई महामानव तक उसका नायक हो सकता है, किन्तु बिना मौलिकता के उपन्यास की सफलता और महानता स्वीकार नहीं की जा सकती। इसी बात को उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"यह सच है कि संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव जीवन का हर एक पहलू, जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है, लेकिन उसके साथ ही विषय का महत्व और उसकी गहराई भी उपन्यास के सफल होने में बहुत सहायक होती है। यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्रनायक उच्च श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष, मनुष्य मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागरित करदे जो उसके पात्रों में हों। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है—उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाय।" (कुछ विचार : पृष्ठ ९६-९७ : प्रेमचन्द।)

यदि अब तक के उपन्यासों के कथानकों पर मौलिकता की दृष्टि से विचार किया जाय तो मोटे तौर से कहा जा सकता है कि सारे उपन्यासों के कथानक १०-२० मौलिक समस्याओं के रूप में विभाजित किये जा सकते हैं।

प्रश्न और समस्याएँ तो वही रहती हैं, किन्तु उनके प्रस्तुतीकरण में उपन्यास-कार की मौलिकता का परिचय मिल जाता है। इन उपन्यासों में से अधिकांश में नायक और नायिका होते हैं, जिनका किसी न किसी प्रकार मिलन होने पर कभी उभय पक्षीय और कभी एकांगी प्रेम उत्पन्न कराया जाता है। अधिकांशतः उभय पक्षीय ही होता है। दोनों एक दूसरे से मिलने का अधिकाधिक सुयोग चाहते हैं। परिस्थितियाँ मिलन को रोक देती हैं। इस कठिनाई से पार होकर कभी-कभी तो नायक और नायिका मिल जाते हैं और कभी-कभी खलनायक इतना शक्तिशाली सिद्ध होता है कि उन्हें जीवन भर नहीं मिलने देता। या तो वे विक्षिप्त हो जाते हैं, आत्महत्या कर लेते हैं अथवा कुमार्गगामी होकर सुरा-सुन्दरी की ओर उन्मुख हो जाते हैं—यदि इस ओर न झुके तो समाज-सेवा, वैराग्य आदि की ओर झुक पड़ते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वे साहसिक डाकू आदि बन जाते हैं। कभी-कभी जीवन के अन्त में जाकर मिलते हैं और कभी आग को दिल में छिपाये हुए इस जीवन को समाप्त कर देते हैं। इन सारे कथानकों में नायक और नायिकाओं को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों द्वारा उपस्थित किया जाता है। परिस्थितियों और वातावरणों की भिन्नता में तथा उसे इस प्रकार से प्रस्तुत करने में कि यथार्थ का अधिकाधिक भ्रम उत्पन्न हो जाय, मौलिकता रहती है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि पुराने समय में राजा राज्य का त्याग करता था, आज के युग में यह त्याग युग-परिस्थितियों के अनुसार भिन्न रूप धारण कर सकता है। पुराने उपन्यासों के पात्र जहाँ घर और उद्यान में मिलते थे, आज के पात्र कारखाने और उद्योगशालाओं में मिलते हुए दिखाने होंगे। देश की दशा और परिस्थितियाँ जैसे-जैसे परिवर्तित होती जायँगी, उसीके अनुसार कला के रूप में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है।

भारतवर्ष में सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा है। इस प्रथा के अपने कुछ दोष हैं तथा कुछ अच्छाइयाँ हैं। यूरोपीय उपन्यासकार के गृहस्थ की समस्याओं के चित्रण की अपेक्षा भारतीय कुटुम्ब के चित्रकार को भिन्न चित्र प्रस्तुत करना होगा।

इस क्षेत्र में एक विषय ऐसा है जो सभी समाजों, देशों और कालों में समान रूप से पाया जाता है और पाया जाता रहेगा—वह है प्रेम का विषय। इसीलिए कुछ विद्वानों ने उपन्यास की कथावस्तु के साथ प्रेम का सम्बन्ध अविभाज्य माना है। प्रेम के प्रकट करने, रोकने और उस पर अपना एकछत्र

साम्राज्य स्थापित करने आदि के प्रश्न अलग देशों में अलग-अलग रूप धारण कर लेते हैं। भारतवर्ष में ही स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण में पिछले युग की अपेक्षा आज कितना परिवर्तन आ गया है। दुनिया के कुछ देशों में तो आज भी स्त्रियों को वोट देने और अपनी राय जाहिर करने, मुँह खोलकर बाजार या अन्य सार्वजनिक स्थानों में जाने की राजकीय आज्ञाएँ नहीं हैं। दक्षिण अफ्रीका में कानून द्वारा गोरे और काले का भेद अक्षुण्ण बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। ये सारे विषय उपन्यासों के सुन्दर कथानक हो सकते हैं और होते हैं—देश और परिस्थिति के भेद से इस कथानक को समझने और महत्व देने में भी पाठकों का दृष्टिकोण समान नहीं हो सकता।

उपन्यास का विषय एक खेत से लेकर अटमबम तक हो सकता है। जैसे-जैसे विज्ञान विकासशील होता जा रहा है—मानव अधिकाधिक सभ्य होता जा रहा है, वैसे ही वैसे उपन्यासकारों को उपन्यासों के विषय भी नित नवीन मिलते जायँगे। आज के विज्ञानों में से मनोविज्ञान ने कुछ नवीन खोजें की हैं। हमारे सामान्य मन की समस्याओं का अब तक उपन्यासों में चित्रण होता रहा था। फ्रायड ने अचेतन और अर्द्धचेतन मन के गहन गह्वरों का अनुसन्धान करके एक नवीन जगत् का निर्माण कर दिया है और अनेक उपन्यासकारों के लिए बीसियों वर्षों का लेखन आधार निर्मित कर दिया है। इसी प्रकार मार्क्स ने नवीन जीवन-दर्शन देकर वर्गसंघर्ष और आर्थिक सम्बन्धों को उपन्यास के लिए एक नवीन क्षेत्र घोषित कर दिया है। सैकड़ों उपन्यासकार इस क्षेत्र में लगे हुए हैं। भारतवर्ष में गांधीवाद और सर्वोदय-दर्शन भी इसी प्रकार एक उपन्यास-आधार सिद्ध हो रहा है। जैसे-जैसे समाज आगे बढ़ता जायगा, नवीन समस्याएँ उत्पन्न होती जायेंगी और उनको नये परिवेश में प्रस्तुत करने वाले नये-नये उपन्यासकार भी आते जायेंगे। अतः उपन्यास के नये-नये क्षेत्र मिलते रहेंगे, ऐसी आशा है।

उपन्यास के कथानक का एक गुण कौशल है। कथावस्तु का पूर्ण निर्वाह प्रारम्भ से अन्त तक होना चाहिए। सभी उलझनें अन्त तक पहुँचते-पहुँचते सुलझ जानी चाहिए। भारतीय उपन्यासों के कथानक सीधे-सादे होते हैं, किन्तु उनमें कलात्मकता का प्रायः अभाव पाया जाता है। यदि सादा घटनाओं का कलात्मक ढंग से संयोजन हो जाय तो कथानक में स्वाभाविकता और चमत्कार आ जाता है।

हेनरी जेम्स के अनुसार कथानक में सत्यता का प्रदर्शन अनिवार्य तत्त्व

है।[1] इसके बिना उपन्यास अस्वाभाविक और भौंड़ा दिखाई देगा। मानव चरित्र अलग-अलग परिवेश में किस प्रकार स्वयं परिवर्तित हो जाता है, उपन्यास में दिखाया जाता है। आज के उपन्यासकार वर्तमान तथा भूत दोनों परिवेशों का सहारा लेते हैं। कुछ काल्पनिक परिवेश में लिखे गये उपन्यास भी हैं और हो सकते हैं। इन उपन्यासों के लिए भी सत्य की आवश्यकता होती है। कलाकार को अपने क्षेत्र में सम्भाव्य सत्य का वर्णन करना चाहिए। कोई घटना सम्भव है या असम्भव इससे कला का इतना सम्बन्ध नहीं है जितना कि इससे कि वह संभाव्य है या असम्भाव्य।

कला और सत्य के सम्बन्ध में प्राचीन काल से विचार होता आया है। प्लेटो कला को सत्य से दूर मानता था। उसका कथन था कि जगत् ब्रह्म (idea) की अपूर्ण अनुकृति है। काव्यादि इस अपूर्ण अनुकृति की भी अपूर्ण अनुकृति है—इस प्रकार कला और काव्य सत्य से दुहरी दूरी पर अवस्थित हैं। अरस्तू इस विश्लेषण से असहमत होते हुए बताते हैं कि 'वस्तु-सत्य' और 'काव्य-सत्य' अलग-अलग होते हैं। दोनों को मिला देना उचित नहीं है। अरस्तू की मान्यता है कि—

"कवि का कर्त्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है उसका वर्णन करना नहीं है, वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के अधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है। कवि और इतिहासकार में भेद यह नहीं है..........वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका जो घटित हो सकता है।"[2] ('अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृष्ठ २५-२६।)

---

१. हेनरी जेम्स लिखते हैं—"यह कहना व्यर्थ है कि सत्यता के विवेक के अभाव में आप एक अच्छा उपन्यास नहीं लिख सकते, किन्तु उस सत्य को अपने जीवन में पाने की कोई विधि आपको बता सकना कठिन है.... मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि सत्यता का वातावरण एक उयन्यास का सबसे बड़ा सद्‌गुण है, जिस पर अन्य सभी गुण निर्भर हैं। यदि वह नहीं है, तो सब कुछ होना व्यर्थ है। यदि वह है तो वह उन प्रभावों का ऋणी है, जिनके द्वारा लेखक ने जीवन के भ्रम को खड़ा किया। इस सफलता को पाने की प्रणाली उपन्यास की कला का प्रारम्भ और अन्त है।" 'हिन्दी उपन्यासकार में कथा-शिल्प का विकास', पृष्ठ ७८ से उद्धत।)

२. "It is not the poet's province to relate such things as have

कथानक में अन्विति का होना परम आवश्यक है। कुछ मनोविश्लेषण-वादी उपन्यासों में अन्विति का ध्यान नहीं रखा जाता और उसका आधार है फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त। अरस्तू ने नाटक का विवेचन करते समय यह आवश्यक माना था कि कथानक का आधारभूत और प्रमुख गुण एकान्विति है। कथानक के ऐक्य का उद्देश्य है 'कार्य का ऐक्य'। जो कार्य वास्तव में एक हो उसी पर कथानक को आधारित करना चाहिए। कथानक की रचना इस कौशल और चातुर्य के साथ की जाय कि यदि उसमें से एक वाक्यांश भी इधर-उधर हटायें या जोड़ें-घटायें तो सारे काव्य की इमारत ढह जाय। कहीं से भी कुछ जोड़ने या घटाने की गुञ्जायश न हो।

अरस्तू के अनुसार कथानक पूर्ण और एक होना आवश्यक है। कथा-नक का आधार जहाँ कार्य है, वहाँ प्रत्येक घटना को इस कार्य का अंग होना भी आवश्यक है। कार्य से सम्बन्धित होने के साथ-साथ वे घटनाएँ एक दूसरी से भी भली प्रकार जुड़ी होनी चाहिए। आचार्य कुन्तल ने भी अपने 'वक्रोक्ति जीवितम्' (४/५-६) में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। एकता के अतिरिक्त पूर्णता के सम्बन्ध में अरस्तू की मान्यता है कि विस्तार के अभाव वाली पूर्णता कला में प्रशंसनीय नहीं हो सकती। काव्य या कला की पूर्णता वह होती है जिसमें आदि, मध्य और अन्त होता है। आदि, मध्य और अन्त की परिभाषा देकर इस विषय को उन्होंने बहुत ही स्पष्ट कर दिया है। कथा के अन्त में पाठक की जिज्ञासा शान्त हो जानी चाहिए।

जिज्ञासा उपन्यास के कथानक में सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व है। जिज्ञासा से ही रोचकता जुड़ी रहती है। रोचकता के लिए कौतूहल और नवीनता आवश्यक है। जो कौतूहल प्रारम्भ से जाग्रत हो, वह अन्त तक बना रहना चाहिए। यदि कौतूहल जाग्रत नहीं हुआ या जाग्रत होकर एक बार शान्त हो गया तो निश्चित है कि उपन्यास नीरस समझा जायगा और उसकी उत्कृष्टता समाप्त हो जायगी। उपन्यास का कथानक इस प्रकार गठित किया जाय कि कौतूहल का शमन धीरे-धीरे हो। आकस्मिक और अप्रत्याशित को स्थान देने से रोचकता और कुतूहल बना रहता है। रोचकता के लिए मौलिकता आव-श्यक है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि लेखक ऐसी घटनाओं का वर्णन करे जो अस्वाभाविक हों या सामान्यतः जिनको पूर्व घटनाओं का परिणाम न सिद्ध किया जा सके। वह अप्रत्याशित भी कार्य-कारण शृंखला से बाहर न होना

---

actually happened, but such as might have happened, such as are possible, according either to probable or necessary consequence." ('Poetics', p. 20.)

चाहिए । चाहे पाठक की कल्पनाशक्ति यह न समझ सकती हो कि ऐसा हो सकता है । आवश्यक बातों को, जिनसे घटना के समझने में सहायता मिलती है, उपन्यासकार को नहीं छिपाना चाहिए, किन्तु ऐसा भी न करना चाहिए कि सारी बातों को पहले ही स्पष्ट कर दे, जिससे उपन्यास में उत्पन्न होने वाली जिज्ञासा एकदम समाप्त हो जाय । डॉ० नगेन्द्र की मान्यता है—

"प्रत्येक सफल कथानक में कौतूहल वृत्ति का परितोष करने की शक्ति होनी चाहिए । इसके लिए आवश्यक यह है कि घटनाएँ हमारे समक्ष अचानक ही उपस्थित हों—यह प्रभाव उस दशा में और भी गहरा हो जाता है जब इसके साथ ही उसमें कार्य-कारण की पूर्वापरता भी हो । उनके अपने आप या संयोगवश घटित होने की अपेक्षा ऐसी स्थिति में त्रासदीय विस्मय का भाव अधिक प्रबल होगा, क्योंकि प्रयोजन का आभास मिलने पर सांयोगिक घटनाएँ भी अत्यधिक रोचक हो जाती हैं ।"[१] हिन्दी साहित्य कोशकार की मान्यता इस विषय में अमूल्य है—

"कथानक कला का एक साधन है, अतः जीवन की प्रत्ययजनक यथार्थता के साथ उसमें आकस्मिकता का तत्त्व भी आवश्यक है । इसी के द्वारा उसमें भावोत्तेजना आती है ।"[२] टामस हार्डी के शब्दों में "सार्वकालिक और विश्वजननि के साथ असाधारण के सामंजस्य में ही कथा और नाटक के संघटन का रहस्य छिपा है । किसी उपन्यास या नाटक की कथा की यदि यह प्रतिक्रिया हो कि वह कितनी सच्ची है और फिर भी कितनी आश्चर्यजनक, तभी उसकी सफलता है ।"

ई० एम० फार्स्टर का मत इस सम्बन्ध में यह है—

"This element of surprise and mystery.........is of great importance in a plot.......Mystery is essential to a plot, and cannot be appreciated without intelligence......It may and should contain mysteries, but it ought not to mislead. And over it, as it unfolds, will hover the memory of the reader, and will constantly rearrange and reconsider, seeing new clues, new chains of cause and effect, and the final sense will not be of clues or chains, but of something aesthetically

---

१. 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' : डॉ० नगेन्द्र की भूमिका, पृष्ठ ७४ ।

२. 'हिन्दी साहित्य-कोश' : प्र० स० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ १८४ ।

compact, something which might have been shown by the novelist straight away it would never have become beautiful."[1]

उपन्यास यदि मानव जीवन का चित्र है तो उसमें उसी की समस्याओं की व्याख्या की जानी चाहिए और इसी को उसकी कसौटी स्वीकार किया जाना चाहिए। मानव जीवन के विविध पक्षों को उनके परिवेश में चित्रित करना आवश्यक है। युग और समाज के प्रश्न भी इसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से आ जाते हैं। जीवन के विविध पक्षों के महत्व का मूल्यांकन करते समय सभी सम्भावित दृष्टिकोण उसके सामने रहते हैं। 'कला अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है' के समान उपन्यास भी मानव-अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति ही माना जायगा। ये अभिव्यक्तियाँ जितनी मार्मिक होती हैं और पूर्णता से संयुक्त होती हैं, उपन्यास उतना ही सफल और उच्चकोटि का माना जाता है। उपन्यास की सफलता का एक बड़ा अंश कथानक पर ही निर्भर रहता है। कथानक कितना विशद, महान, सशक्त और प्रखर है इसीके आधार पर उपन्यास की सफलता निर्भर है। जीवन को जो जितनी अधिक गहराई से देखता है— उसमें भीतर पैठ सकता है, वह उतना ही श्रेष्ठ उपन्यासकार हो सकता है।

चरित्र-चित्रण

उपन्यास के तत्वों में कथानक के पश्चात् चरित्र-चित्रण आता है। उपन्यास में कोई कहानी होती है। उस कहानी में कुछ घटनाएँ होती हैं। वे घटनाएँ जिनसे सम्बन्धित होती हैं या जिनको लेकर उन घटनाओं का घटित होना दिखाया जाता है—वे पात्र कहलाते हैं। पात्रों के बिना कोई कथानक नहीं चल सकता। उपन्यास का विषय तो मनुष्य का जीवन है। अतः उपन्यासकार यही दिखाने का प्रयत्न करता है कि उनके चरित्र में क्या-क्या विशेषताएँ और क्या-क्या कमजोरियाँ हैं। परिस्थिति के बदल जाने पर इन चरित्रों की विशेषताएँ किस प्रकार परिवर्तित हो उठती हैं। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और वातावरण में ये चारित्रिक विशेषताएँ क्या गुल खिलाएँगी—यह दिखाना उपन्यासकार का कर्त्तव्य है। हमारे विचार सदैव एक से नहीं रहते। बड़े से बड़े धर्मात्मा और सत्यवादी व्यक्ति भी किसी क्षण विशेष में अपनी मर्यादा का उल्लंघन करते देखे जाते हैं और भयंकर से भयंकर और हृदयहीन साहसिक का हृदय भी द्रवित हो उठता है। मानव-मन की सृष्टि अत्यन्त विचित्र और आसानी से समझ में न आ सकने वाली है। मानव-मन की इन विशेषताओं और उनके परिवर्तन आदि की कहानी उपन्यास का प्राण है।

---

1. 'Aspects of the Novel', pp. 118-19.

जगत् में कोई भी दो प्राणी एक से नहीं होते। हर एक में कुछ न कुछ भिन्नता होती है। चरित्र-चित्रण में इस भिन्नता को स्पष्ट करना उपन्यासकार का कर्त्तव्य माना जाता है। उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द इस तथ्य को इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं—

"किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं—पर इतनी समानता पर भी जिस तरह उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सब आदमियों के चरित्रों में भी बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।

"सन्तान-प्रेम मानव-चरित्र का व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो। लेकिन इस सन्तान-प्रेम की मात्राएँ हैं—उसके भेद हैं। कोई तो सन्तान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन, धर्मभीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नहीं करता। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी सन्तान के लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्य का लेश मात्र भी विचार नहीं करता—जिस तरह भी हो कुछ धन संचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े—वह सन्तान प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है जहाँ सन्तान का चरित्र प्रधान कारण होता है—जबकि पिता सन्तान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी सन्तान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानव-गुणों की मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म—जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। सन्तान-प्रेम की एक दशा यह भी है कि जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी सन्तान-प्रेम ही है जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह सन्तान-प्रेम भी देखने में आता है जहाँ शराबी-जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।"[१]

१. 'कुछ विचार' : प्रेम चन्द, पृष्ठ ७२-७३।

संसार में महान से महान चरित्र में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं जो अवसर पाकर प्रकट हो जाती हैं। निकृष्ट से निकृष्ट में कोई न कोई ऐसी महानता होती है जो उसके चरित्र की कालिमा को सदैव के लिए धो देती है। इस विचित्रता को स्पष्ट करके सही रूप को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना उपन्यासकार का कर्त्तव्य है। कुछ उपन्यासकारों ने या तो पात्रों को देवता बना दिया है या राक्षस। नायक में सभी सद्गुण और खलनायक में सभी दुर्गुण दिखाने का प्रयत्न किया गया है। अंग्रेजी के यथार्थवादी उपन्यासकारों के पिता बनियन (Bunyan) ने मि० बैडमैन (Mr. Badman) और मि० क्रिश्चियन (Mr. Christian) को क्रमशः बुराइयों (पापों) और गुणों (पुण्यों) का साकार रूप दिखाया है। मि० बैडमैन झूठ, दगाबाजी, शोषण आदि से युक्त हैं और मरते समय उन्हें एक स्वाभाविक मृत्यु ही प्राप्त होती है (यह यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण है)। मि० क्रिश्चियन सत्य की खोज और आत्मिक आनन्द के लिए सारे कष्ट उठाते हुए अपने निर्दिष्ट मार्ग पर आगे बढ़ते जाते हैं। धीरे-धीरे युग के परिवर्तन के साथ इसे यथार्थवाद की सीमा में अस्वीकृत किया जाने लगा। इस प्रकार के पात्रों और चरित्र-चित्रण पर आज लोग हँस सकते हैं—उसे स्वाभाविक कदापि स्वीकार नहीं कर सकते। यथार्थ ही आज के चरित्र-चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता है, जैसा हम जीवन में देखते हैं वैसा उपन्यास में दिखाएँ तथा जीवन में हमारी दृष्टि स्वार्थलिप्त और संकुचित रहती है, अतः उपन्यास हमें चरित्रों की वे विशेषताएँ और सूक्ष्य मान्यताएँ भी दिखाता है जहाँ सामान्यतः हमारी दृष्टि पहुँच नहीं पाती। प्रेमचन्दजी यथार्थ की आवश्यकता सजीवता के लिए मानते हैं। सजीवता बिना यथार्थ के नहीं आ सकती है। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि पात्रों को बिना किसी उद्देश्य वाला और निकृष्ट दिखाया जाय। पात्रों में उदात्त गुण और विशेषताएँ भी होती हैं, उन्हें न दिखाना भी अयथार्थवादी दृष्टिकोण है। प्रेमचन्दजी मानते थे कि आदर्श को यथार्थ की सहायता से सजीव बनाना चाहिए। पात्रों के चरित्र द्वारा केवल हमारा मनोरंजन ही नहीं होना चाहिए वरन् हमें उनसे प्रेरणा और कर्मपथ में अग्रसर होने के लिए नया जोश मिलना चाहिए। पात्रों का दृष्टिकोण स्वीकारात्मक हो—नकारात्मक न हो। वे जीवन के लिए प्रेरणा दें—आशान्वित रहें। निराशावादी दृष्टिकोण अस्वस्थकारी और असामाजिक बुराइयों को जन्म देता है। हमें चाहिए कि पाठकों को ऐसे चरित्रों से बचाएँ। प्रेमचन्दजी ने इस बात को इस प्रकार मान्यता प्रदान की है—

"चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो—महान से महान पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्शों की छाप लगी हुई है। वह खेल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। वह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद कहीं इससे ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है,—कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसें, बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजयनाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।"[1]

चरित्र-चित्रण के मूल सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए अरस्तू ने 'पोयटिक्स' में बताया है कि मुख्यतः पात्र भद्र होने चाहिए। चरित्र की क्रिया या कथन उसकी भद्रता का मापदण्ड माना जाता है। जैसे वह कहता और करता है वैसा ही सोचता होगा—वैसे ही उसके विचार होंगे। उसकी भद्रता और अभद्रता को द्योतित करने वाली यही वस्तुएँ हैं। चरित्रगत भद्रता प्रत्येक वर्ग में पाई जा सकती है—इसके लिए पात्रों को किसी वर्ग विशेष से ही खोजना आवश्यक नहीं है। कोई स्त्री और दास (जो अरस्तू-काल में हेय माने जाते थे और समाज में उनका निम्न स्थान था) भी वैसे ही भद्र हो सकते हैं जैसे कि अन्य पात्र।[2]

---

१. वही, पृष्ठ ७६-७७।

2. "They should be good. Now manners, or character, belong, as we have said before, to any speeeh or action that manifests a cartain disposition ; and they are bad or good as the the disposition manifested is bad or good. This goodness of manners may be found in persons of every

अरस्तू के अनुसार चरित्र-चित्रण का दूसरा सिद्धान्त औचित्य है। पुरुषों में एक प्रकार की शूरता होती है किन्तु इस शूरता का प्रदर्शन स्त्री-पात्रों में करना औचित्य-सिद्धान्त के विपरीत होगा।[१]

तीसरा सिद्धान्त पात्रों को इस प्रकार अंकित करना है जिसमें वह जीवन के अनुरूप प्रतीत हों। यह गुण न 'भद्रता' के अन्तर्गत आता है और न 'औचित्य' के। इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि पात्र ऐसे जीवन्त और स्वाभाविक हों जैसे कि यथार्थ जीवन में होते हैं। उन पात्रों का चरित्र-चित्रण वास्तविक जीवन के अनुसार होना उचित है।[२] ऐतिहासिक और पौराणिक पात्रों का प्रयोग करते समय कलाकार को चाहिए कि उनके परम्पागत रूप को विकृत न करे—जैसा रूप चला आया है उसी के अनुसार चित्रण करे। रावण को सज्जन और सन्त दिखाना तथा राम को पापी, धूर्त तथा स्त्री-चोर दिखाना अनुचित होगा।

'एकरूपता' चरित्र-चित्रण की चौथी विशेषता बताई गई है। यदि मूल-कार्य में चारित्रिक-अनेकता हो, तब भी इस अनेक रूपता में भी 'एकता'—'एकरूपता' की योजना होनी चाहिए।[3] चरित्र में चाहे एकरूपता न हो–यह नहीं भी हो सकती है—उसमें चंचलता हो सकती है; किन्तु उस चरित्र के इस 'चंचल होने' की विशेषता में भी 'एकरूपता' दिखाया जाना आवश्यक होगा। पात्र के चरित्र में परिवर्तन तो हो सकता है किन्तु इस परिवर्तन के लिए यथेष्ट पृष्ठभूमि और समुचित कारण अवश्य देने चाहिए।

---

description. The manners of a woman or of a slave may be good." (Poetics', p. 29.)

1. "The second requisite of the manners is propriety. There is a manly character of bravery and fiierceness which cannot, with propriety, be given to a woman." (Ibid.)
2. "The third requisite is resemblance ; for this is a different thing from their being good and proper, as above deseribed." (Ibid.)
3. "The fourth is uniformity ; for even though the model of the poet's imitation be some person of ununiform manners, still that person must be represented as uniformly ununiform." (Ibid.)

पात्रों के चरित्र-चित्रण में 'सम्भाव्य' का ध्यान रखना चाहिए। पात्र को वही कहना और करना चाहिए जो आवश्यक और सम्भाव्य हो। जिस प्रकार आवश्यक और सम्भाव्य क्रम से घटनाएँ आती चली जाती हैं वही क्रम चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में भी रहना चाहिए।[1]

चरित्र-चित्रण के समय कलाकार को सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों का आदर्श सामने रखना चाहिए। इन चित्रकारों में यह विशेषता होती है कि वे मूल के चित्रण के साथ ही साथ एक ऐसी प्रतिकृति प्रस्तुत करते हैं, जो जीवन के अनुरूप तो होती ही है, साथ ही जीवन से कहीं अधिक सुन्दर भी होती है।[2] अर्थात् यथार्थ जीवन में हमें जो कुछ असुन्दर मिलता है—सुन्दर चित्रों में कलाकार उसका स्थान सौन्दर्य को प्रदान करके कल्पना और भावना के अपूर्व संयोग द्वारा ऐसी कलाकृति का निर्माण करता है जिससे अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यास में चरित्र-चित्रण यथार्थवादी होना चाहिए—अच्छाइयों और बुराइयों का साकार रूप नहीं।[3] पात्रों का निर्माण काल्पनिक न होकर साक्षात अनुभव पर आधारित होना चाहिए।[4] काल्पनिक पात्रों में निर्जीवता और

---

1. In the manners, as in the fable the poet, should always aim either at what is necessary or what is probable ; so that such a character shall appear to speak or act, necessarily or probably in such a manner, and this event to be the necessary or probable consequence of that. (Ibid.)
2. "We should follow the example of skilful portrait painters ; who, while they express the peculiar lineaments, and produce a likeness, at the sametime improve upon the original." (Ibid, p. 51.)
3. "The characters in a novel, then are neither to be unexceptionable nor completely depraved, but a mixture of good and bad, like the characters we know in real life, from self knowledge or from observation."
4. "Character, in any sense in which we can get at it, is action, and action is plot, and any plot which hangs together, even if it pretends to interest us only it the fashion of chinese puzzle, plays upon our emotion, our suspense, by means of personal references." (Henry James.)

अप्रभावोत्पादकता रहती है। उनमें कुछ गुण भी होने चाहिए जिनका प्रयोग वे अपने जीवन में करें—तभी इन्हें कठपुतली होने से बचाया जा सकता है।[1] थैकरे जैसा उपन्यासकार कहता है कि मैं पात्रों का निर्माण तो स्वयं कर देता हूँ किन्तु निर्माण करके फिर उन्हें छोड़ देता हूँ—स्वतन्त्र कर देता हूँ और फिर वे जहाँ चाहते हैं मुझे ले जाते हैं। उपन्यासकार का जीवन-दर्शन इन्हीं पात्रों के माध्यम से स्पष्ट होता है।[2] समरसेट मॉम की मान्यता है कि उपन्यासकार द्वारा निर्मित पात्रों की क्रियाएँ उनकी चारित्रिक विशेषताओं से उत्पन्न होनी चाहिए। पाठक कभी यह न कह सके कि 'फलाँ पात्र ने ऐसा कभी न कहा होगा' वरन् उससे यही कहलवाना उपन्यासकार का ध्येय होना चाहिए कि—'वास्तव में यही वह है जिसकी इस पात्र से मैं आशा करता था।' यदि पात्र अपने आप में दिलचस्प हैं तो इससे बड़ी और क्या बात हो सकती है।[3]

जिस प्रकार कथानक के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसमें रोचकता और आकस्मिकता के लिए पर्याप्त अवकाश होना चाहिए—ऐसा चरित्रों के सम्बन्ध में नहीं है। उपन्यासकार को चरित्र-चित्रण द्वारा हमारी

---

1. "The great source of character creation is ofcourse the novelists' ownself. Some form of self projection must always take place, of reincarnation in the fictional character." (Ibid.)
2. "This is not to say that the novelist often puts people just as they are into his books, a thing which his acquaintance seem to fear and hope. For life and art are very different things, and existencc in one is very different from existence in the other." (Ibid.)
3. "The creatures of the novelists' invention should be observed with individuality, and their action should proceed from their characters ; the reader must never be allowed to say : 'so and so would never behave like that', on the contrary, he should be obliged to say : 'That is exactly how I should have expected so and so to behave'. I think it is all the better if the characters are in themselves interesting." ('The Novels and Their Authors' : Somerset Maugham.)

बुद्धि और कल्पना को अपने अधिकार में करना चाहिए। उपन्यासकार को चरित्रों के सम्बन्ध में एक सुविधा यह है कि पात्र मानवीय होते हैं और उपन्यासकार स्वयं मानव होने के कारण उनके हृदय की अनुभूतियों और रुचि-अरुचि से पूर्णरूपेण परिचित रहता है। इसी परिचय के आधार पर वह हमारे सामने उन्हें प्रस्तुत करता है। उसका कर्त्तव्य यही है कि जो रूप दूसरों के सामने नहीं है या दूसरे देखते हुए भी जिन चीजों, गुणों, विशेषताओं को नहीं देख पाते, उपन्यासकार उन्हें दिखाता है। देखते समय सम्बन्ध और दृष्टिकोण के कारण हमारी दृष्टि सीमित और बँधी-बँधी रहती है, जबकि उपन्यासकार उन्मुक्त और स्वतन्त्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करके हमें चौंका देता है। हम आश्चर्यान्वित होकर देखते हैं—यह दृष्टिकोण भी हो सकता था—जो हमारी समझ में कभी नहीं आया। इतिहास, मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान जो कुछ छोड़ जाते हैं उपन्यास उसे स्वीकार कर लेता है और उसका ऐसा सजीव चित्र खींचता है कि थोड़ी देर के लिए हम प्रभाव में आ जाते हैं।

उपन्यास में चरित्र-चित्रण तीन प्रकार से किया जाता है। यह चरित्र-चित्रण नाटक और उपन्यास में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। इस सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य-कोशकार की सम्मति है[1] कि कथा के पात्रों को किस प्रकार उपस्थित किया जाय। यह कलाकृति के रूप, लेखक की रुचि तथा योग्यता और उसकी कृति के उद्देश्य पर निर्भर है। काव्य की विभिन्न विधाओं में चरित्र-चित्रण भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। मुख्यतः चरित्र-चित्रण की तीन विधाएँ होती हैं—

(१) पात्रों के कार्यों द्वारा,
(२) पात्रों की बातचीत द्वारा,
(३) कथा लेखक के कथन और व्याख्या द्वारा।

प्रथम दो को तो अप्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण कहा जाता है (अधिकांशतः इनका प्रयोग नाटकों आदि में होता है) और तीसरे को विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण। नाटक में साधारणतया अप्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण द्वारा ही अर्थात् पात्रों के कार्यों और उनकी तथा उनके विषय में दूसरों की बातचीत के सम्मिलित प्रभाव के द्वारा ही हम उनके चरित्र के विषय में कोई धारणा बना सकते हैं—साधारणतया इसलिए कि कभी-कभी किसी पात्र विशेष के विषय में लेखक किसी अन्य पात्र के माध्यम से चारित्रिक विश्लेषण उपस्थित

---

१. 'हिन्दी साहित्य-कोश', पृष्ठ ४४७-४८।

करके उस पात्र को समझने में दर्शकों की सहायता करता है, परन्तु नाटक के चरित्र-चित्रण में अप्रत्यक्ष या नाटकीय ढंग ही स्वाभाविक और समीचीन है। इस प्रचार के चरित्र-चित्रण की खूबी यह है कि दर्शक या पाठक तथा पात्रों के बीच सीधा सम्बन्ध रहता है और पात्रों के सम्बन्ध में धारणा बनाने की पाठक या दर्शक को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। नाटकीय चरित्र-चित्रण जितना ही व्यंजनापूर्ण और संक्षिप्त होता है, उतना ही अधिक प्रभावशाली। परन्तु चरित्र की आन्तरिक सूक्ष्मताओं और मनोवैज्ञानिक रहस्यों को इस शैली में उतने स्पष्ट और असंदिग्ध रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता, जितना विश्लेषणत्मक शैली में सम्भव है। उपन्यास के चरित्र-चित्रण में अभिनयात्मक तथा विश्लेषणत्मक शैलियों को मिलाकर चरित्र-चित्रण अधिक विशद रूप में किया जा सकता है। उपन्यास के चरित्र-चित्रण में लेखक को व्याख्या और टीका-टिप्पणी करने की इतनी स्वतन्त्रता होती है कि वह चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटन में नाटक की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तार और गहनता ला सकता है। नाटक और उपन्यास के चरित्र-चित्रण का यह अन्तर स्पष्ट ही इस बात का सूचक है कि नायक में कार्य की प्रधानता होती है, जबकि उपन्यास का महत्व चारित्रिक अध्ययन में ही अधिक माना जाता है। कार्य या घटना को प्रमुखता देने वाले उपन्यास उच्चकोटि के नहीं बन पाते। इसके विपरीत नाटक में चरित्र-चित्रण का आधिक्य यदि कार्य व्यापार को दबा दे तो नाटकीयता को क्षति पहुँच सकती है। नाटक में देश और काल की सीमाओं के कारण चरित्र का विकास भी उतनी स्वतन्त्रता से नहीं दिखाया जा सकता। उपन्यास में चरित्र को धीरे-धीरे विकसित होता हुआ दिखाकर विभिन्न परिस्थितियों में उसके उत्थान-पतन के अगणित परिवर्तनों को चित्रित किया जा सकता है। सुविधानुसार उपन्यासकार नाटकीयता और विश्लेषण का समुचित समन्वय करके मानवीय मनोवेग, भावावेश, विचार, भावना, उद्देश्य, प्रयोजन आदि का सूक्ष्म से सूक्ष्म आकलन कर सकता है। गतिशील चरित्रों की सृष्टि ही कथा साहित्य की महत्ता की कसौटी है। एक ही पात्र के स्वभाव तथा उसके आधार पर किये गये कार्यों में मनोविज्ञान-सम्मत परिवर्तन तथा कभी-कभी आश्चर्यजनक विरोध का चित्रण करके कथा साहित्य में जिस सौन्दर्य की सृष्टि की जा सकती है, वह साहित्य के अन्य रूपों के लिए ईर्ष्या की बात हो सकती है। आर्नल्ड बेनेट के शब्दों में हम कह सकते हैं कि कथा साहित्य का मूलाधार चरित्र-चित्रण ही है, अन्य कुछ नहीं। कथा की घटनाएँ तो प्रायः पात्रों के स्वभाव और प्रकृति से ही प्रसूत होती हैं। उसके वातावरण या देशकाल का निर्माण चरित्रों को स्वाभाविकता और

वास्तविकता प्रदान करने के लिए ही किया जाता है। कथोपकथन घटनाओं से भी अधिक चरित्र को ही व्यंजित और प्रकाशित करता है तथा कथा के उद्देश्य की महत्ता भी चरित्र में ही निहित होती है। मनोविज्ञान को साहित्य में जो महत्ता मिली है उसका आधार भी चरित्र-चित्रण ही है।

पात्रों का वर्गीकरण एक और प्रकार से किया जाता है। इसके अनुसार पात्र दो प्रकार के माने जाते हैं—व्यक्तिवादी (Individual) तथा प्रतिनिधि (Type)। व्यक्तिवादी पात्रों में अपनी निजी विशेषताएँ अधिक होती हैं। वे उपन्यास में ऐसी क्रियाएँ करते हुए और उस प्रकार से सोचते हुए नहीं दिखाये जाते जैसे कि अधिकतर व्यक्ति करते हैं। उनका रहन-सहन, सोचना-विचारना आदि दूसरे लोगों से कुछ भिन्न प्रकार का—एक नयापन लिये हुए होता है—इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे अतीन्द्रिय लोक के काल्पनिक-पात्र होते हैं, वरन् इसका अभिप्राय यह है कि उनके चरित्र की उन विशेषताओं को उभरा और विकसित दिखाया जाता है, जिनके आधार पर उन्हें सर्वसाधारण के साथ नहीं लिया जा सकता। इन पात्रों का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। उदाहरणस्वरूप इलाचन्द्र जोशी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पात्र स्वीकार किये जा सकते हैं। 'चित्रलेखा' के 'कुमार गिरि' इस कोटि में समा सकते हैं।

प्रतिनिधि पात्रों में वे विशेषताएँ विशेष रूप से सामने लाई जाती हैं जो समाज के अन्य व्यक्तियों में भी सामान्य रूप से मिलती हैं। इस स्थान पर आकर पात्र समाज के एक प्रतिनिधि का स्वरूप धारण कर लेता है। वह समाज का मुख बन जाता है। व्यक्तिगत जीवन भी समाज का ही अंग है और यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या किसी व्यक्ति का अंतरंग या बहिरंग-जीवन समाज के प्रभाव से अछूता रह सकता है? व्यक्ति के समाज के प्रभाव से अछूता कौन सा तत्त्व होता है? क्या उसका मस्तिष्क और सोचने की पद्धति आदि तक समाज से प्रभावित नहीं होते? क्या सूक्ष्म संस्कार तक समाज की देन नहीं हैं? इन प्रश्नों का कोई पूर्ण उत्तर नहीं दिया जा सकता और न दिया जा सका है। व्यक्ति के दो रूप होते हैं और जैसे हम हैं—जैसा हमारा वास्तविक रूप है, उसे इस समाज के सामने लाने में लज्जा का अनुभव करते हैं; इसीलिए अपने रूप को सँवार कर समाज के सामने उसके सर्वोत्तम रूप में प्रस्तुत करते हैं। मानव-समाज का सामान्य जीवन इसका प्रमाण है। हमारे वस्त्र, सुसंस्कृत भाषा, सुन्दर विचार, कोमल और समाजोपयोगी मनोभाव आदि इसी प्रयत्न के परिणाम हैं। यह प्रारम्भ से चला आया है और ऐसे ही चलता जायगा। मनुष्य के जब इन दो रूपों का

वर्णन होता है तो उसका अभिप्राय यह होता है कि जो व्यक्ति (पात्र) समाज के बाहरी रूप से अधिक सम्बन्धित दिखाया जाता है, उसकी आजादी उतनी ही कम हो जाती है। वह सारी क्रियाएँ करते समय वैसा ही दिखाया जाता है, जैसे कि उस समाज के अधिकांश व्यक्ति करते हैं। उसका व्यक्तित्व केवल उसका न रहकर समाज का हो जाता है, जहाँ उसे विस्तार तो मिलता है किन्तु परतन्त्रता की सीमाएँ अधिक स्पष्ट हो जाती हैं, जिनके बाहर जाने पर रोक लग जाती है। ऐसे पात्रों में उपन्यासकार समाज की विशेषताओं को ही प्रधानता देता है और उनके जीवन का वही भाग चित्रित करता है जिनमें वे विशेषताएँ उभर कर सामने आ सकें।

इस टाइप और व्यक्तिगत चरित्र के प्रश्न को आज के यथार्थवादी आलोचकों ने भी अपने प्रकार से उठाया है। इस सम्बन्ध में हँगेरियन मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्री लुकाच (Lukacs) अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Studies in European Realism' में यथार्थ की कसौटी निश्चित करते हुए इसका सारा श्रेय 'टाइप' को प्रदान कर देते हैं। उनकी मान्यता है—

"The central catagory and criterion of realist literature is the type, a particular synthesis which organically binds together the general and the particular both in characters and situations."

जहाँ व्यक्तिगत और समाजगत गुण एक ही पात्र में विभिन्न परिस्थितियों में दिखाये जाते हैं, उसी पात्र को लुकाच टाइप मानते हैं। किसी 'टाइप' की रचना केवल मनुष्य के औसत गुणों से नहीं होती और न मनुष्य की व्यक्तिवादी धारणाओं से होती है। टाइप की रचना के लिए उपन्यासकार को जिन विशेष गुणों का ध्यान रखना आवश्यक माना गया है वे ये हैं—

(१) 'टाइप' में सम्पूर्ण मानवीय और सामाजिक तत्व अपनी चरमसीमा तक विकसित होना आवश्यक है।

(२) इन मानवीय और सामाजिक तत्त्वों में सभी सम्भावनाओं का उद्घाटन हो जाना चाहिए।

(३) इस चित्रण में मानवीय और सामाजिक [तत्त्वों की अतिवादी सीमा का दर्शन भी स्पष्ट रूप से करा दिया जाय। और

(४) मनुष्य तथा युग की विकास-उच्चता स्पष्ट रूप से हमारे सामने स्पष्ट की जाय।

'टाइप' की परिभाषा करते हुए मास्को से निकलने वाले

'Kummunist' नामक पत्र की संख्या १८, सन् १९५५ के सम्पादकीय लेख में बताया गया है--

"Typification is the correct reflection of life in realist art."

इनके अनुसार यथार्थवादी साहित्य में जीवन का यथार्थ चित्रण 'टाइप' द्वारा ही सम्भव है। इसका मूलभूत कारण यह भी हो सकता है कि मार्क्सवादी मान्यताओं के अनुसार समाज-जीवन इतना सामान्य—एक सा और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से रहित हो जाता है कि उसमें ऊपर से एकरूपता के ही दर्शन होते हैं, अतः यदि उसके पात्रों को 'टाइप' ही माना जाय तो ऊपर से कोई विशेष अनौचित्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतीय और अमार्क्सवादी आलोचकों का मत इस सम्बन्ध में दूसरा है। उनके अनुसार जिस पात्र में व्यक्तिगत विशेषताएँ प्रधान न हो कर समाजगत विशेप्रताओं की प्रधानता रहती है—वही टाइप कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में एँगिल्स का मत अधिक संयमित और उचित कहा जा सकता है। उनकी मान्यता है कि—

"........each person is a type, but at the same time a quite definite personality."

प्रत्येक व्यक्ति में समाजगत और वैयक्तिक दोनों प्रकार के गुण अवस्थित रहते हैं। मार्क्स, एँगिल्स, लेनिन और गोर्की आदि सभी ने इस बात को कई बार स्वीकार किया है कि जब तक पात्र में व्यक्तिगत विशेषताएँ नहीं होंगी, तब तक वह इस दुनिया का व्यक्ति किस प्रकार माना जायगा? फिर तो वह prototype हो जायगा। प्रेमचन्दजी भी पात्रों के स्वाभाविकता और सफलता की कसौटी इसी टाइप और व्यक्तिगत विशेषता के अपूर्व समन्वय को मानते हैं। प्रकारान्तर से वह भी इसी बात को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

"अगर पाठक का यह भाव हो कि इस दशा में ऐसा नहीं होना चाहिए था तो इसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र को अंकित करने में असफल रहा। चरित्रों में कुछ न कुछ विशेषता भी रहनी चाहिए। जिस प्रकार संसार में कोई दो व्यक्ति समान नहीं होते, उसी भाँति उपन्यास में भी न होना चाहिए। कुछ लोग तो बातचीत या शक्ल-सूरत से विशेषता उत्पन्न कर देते हैं, लेकिन असली अन्तर तो वह है, जो चरित्रों में हो।" ('कुछ विचार', पृष्ठ १०२।)

प्रेमचन्दजी गोर्की की कोटि में आकर 'यथार्थ' केवल उस वास्तविकता को ही नहीं मान बैठते, जो कि 'है'; वरन् उस सत्योद्घाटन को भी

अनिवार्य समझ लेते हैं जिसमें वह 'क्या था ?' और 'क्या होना चाहिए ?' भी सम्मिलित है। यथार्थवादी इसीलिए यथार्थ जीवन की वर्तमान समस्याओं तथा अन्तर्विरोधों को तो पात्रों में दिखाते ही हैं, साथ ही यथार्थ जीवन की सम्भावनाओं को भी दिखाना आवश्यक समझते हैं।

'टाइप' के चित्रण के लिए गोर्की अतिशयोक्ति को इस चित्रण का आवश्यक अंग स्वीकार करते हैं—

"Exaggeration is the broad typification of phenomena."

अत्युक्ति वह साधन है जिसके द्वारा कलाकार अनेक घटनाओं को आपस में सम्बन्धित दिखाता है; उनके आन्तरिक अर्थ को स्पष्ट करता है। उसमें क्या विशेषता है और उन व्यक्तिगत गुणों के माध्यम से सामाजिक गुणों, दुर्गुणों, परिस्थितियों आदि का दिग्दर्शन कराता है। गोर्की अत्युक्ति को 'टाइप' का साधन मात्र न मानकर, उसका अविभाज्य अंग मानते हैं। अप्राप्य और असाधारण भी 'टाइप' होते हैं, यदि उनके द्वारा कोई नया जीवन (लोक चेतना) स्पष्ट होता हो जिसका भविष्य में विकास सम्भव हो। इसका उदाहरण 'माँ' से देते हुए कहते हैं कि 'पावेल व्लासोव' और उसकी माँ 'निलोवना' टाइप हैं, यद्यपि कुछ आलोचक उनमें उस समाज की अधिकांश जनता का प्रतिनिधित्व नहीं पाते हैं, साथ ही उनमें उनके चरित्र की व्यक्तिगत विशेषताएँ भी इतनी हैं कि उन्हें सहज ही पहचाना जा सकता है। इन विशेषताओं के आधार पर ही इस उपन्यास के अंग्रेजी अनुवाद में उनके चित्र भी बनाये गये हैं। वे उन लाखों के प्रतिनिधि थे जिन्होंने आगे आकार अपनी सत्ता स्थापित की और इस प्रकार उन्हें अनिवार्य समाज-चेतना का पूर्व प्रहरी होने के नाते 'टाइप' माना गया है।

इन प्रतिनिधि मानव-चरित्रों में निजी सुख-दुःख, घृणा-प्रेम, रुचि-अरुचि, साहस-कायरता, औदार्य-कंजूसी, न्याय-पक्षपात, सौन्दर्य-असौन्दर्य, वीरता-भीरुता तथा दयालुता-नृशंसता आदि देश-काल-सापेक्ष गुण और विशेषताएँ होती हैं। उनके इस मनोभावों और संवेदनाओं के वर्णन में पाठकों को अपने जीवन की झाँकी मिल जाती है—उनकी समस्याएँ जो उनसे मिलती-जुलती होती हैं, बोलने लगती हैं। इस प्रकार कला के माध्यम से उपन्यासकार की कल्पना और आदर्श विश्वसनीय और सत्य बन जाते हैं, जिन पर कोई अविश्वास नहीं कर पाता और उलटे उससे स्फूर्ति और प्रेरणा लेते हैं।

चरित्र-चित्रण में सत्य का अनुभव कराना कलाकार की सफलता का आवश्यक तत्त्व है। सत्य को प्राप्त करना क्रिया द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि

सत्य को व्यक्ति के किसी वस्तु सम्बन्धी गहन शोध-परिणामों की निजी अभिव्यक्ति माना जाता है।

'प्रतीक पात्रों' का विश्लेषण किये बिना यह विषय अधूरा समझा जायगा। आजकल इधर कुछ नये उपन्यास निकले हैं जिनमें प्रतीक पात्रों का प्रयोग किया गया है। प्रतीक पात्र प्रतिनिधि तो होते हैं किन्तु उनका प्रतिनिधित्व असामान्य होता है। इसमें पात्र किसी विचारधारा, मान्यता, परम्परा या जीवन-दर्शन को आगे लेकर चलते हैं—उसको प्रकारान्तर से प्रस्तुत करते हैं। यह प्रस्तुतीकरण इतना स्पष्ट, व्याख्यात्मक और विस्तारवादी तक हो जाता है कि लोग ऊब उठते हैं। वे दर्शन शास्त्र, राजनीति शास्त्र और सृष्टि विज्ञान की लम्बी-लम्बी बहसें पढ़ने तो उपन्यास को उठाते नहीं ! सोचने लगते हैं कि इससे तो इन विषयों पर अधिकारी विद्वानों के ग्रन्थ ही देखें, इन उपन्यास के नाम पर बिकने वाली पुस्तकों से सिर क्यों मारें ! यद्यपि यह सारा विवेचन उपन्यास की परिधि में होता है किन्तु उससे औपन्यासिकता की भारी क्षति हो जाती है। वह पुस्तक उपन्यास की कला से उतनी ही हीन हो जाती है जितनी शास्त्र की दृष्टि से अच्छी होती है।

आजकल कुछ प्रयोगवादी उपन्यासकारों ने पेड़ों, पौधों, मेज-कुर्सियों आदि को प्रतीक मानकर उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया है—इन उपन्यासों में युग-सत्य स्पष्ट हो उठता है और अनेक युग-प्रश्न सामने आकर अपना हल माँगने लगते हैं। पाठकों के मस्तिष्क की नसें तन जाती हैं। उनके विचार-तन्तु तेजी से कार्यशील हो उठते हैं। हथौड़े की सी चोट पड़ती है और वे बिना सोचे रह नहीं सकते। इन उपन्यासों से विचारों को भारी उत्तेजना मिलती है।

चरित्र-चित्रण की दो विधियाँ मानी जाती हैं—

(१) विश्लेषणात्मक, और

(२) अभिनयात्मक।

(१) विश्लेषणात्मक विधि

इस विधि के अन्तर्गत उपन्यासकार स्वयं अपनी ओर से चरित्र-चित्रण करता है। लेखक सर्वज्ञ बनकर पात्रों के बाहर और भीतर की सभी स्थितियों का, आचार-विचार और व्यवहार आदि का स्पष्ट चित्रण करता है। पाठक इसी वर्णन द्वारा पात्रों के सम्बन्ध में (जानकारी प्राप्त करके) अपनी धारणा बनाता है। लेखक इस प्रणाली में स्वयं अपने ऊपर भारी उत्तरदायित्व स्वीकार कर लेता है। पात्रों को स्पष्ट रूप देना—उन्हें विकासशील या स्थिर बनाना

सब कुछ उपन्यासकार की सीमाओं और मान्यताओं आदि पर निर्भर करता है ।

(२) अभिनयात्मक विधि

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में जब उपन्यासकार स्वयं बिलकुल शान्त रहता है—इस कर्तव्य को पालन करने के लिए पात्रों को आगे बढ़ा देता है ; पात्र आपसी बातचीत के द्वारा कथोपकथनों में दूसरे पात्रों के सम्बन्ध में अनेक बातों की सूचना देते हैं, तो इस पद्धति को चरित्र-चित्रण की अभिनयात्मक विधि कहा जाता है । इस विधि में कलात्मकता अधिक होती है । इसमें ऐसा लगता है जैसे सब कुछ स्वाभाविक रीति से सामने आ गया हो—प्रयत्नपूर्वक सामने लाया गया प्रतीत नहीं होता । विश्लेषणात्मक विधि में यथार्थ और स्वाभाविक का इतना बड़ा और सच्चा भ्रम उत्पन्न होने में कठिनाई होती है ।

इन दोनों प्रणालियों के अन्तर्गत कुछ अन्य पद्धतियाँ भी स्वीकार की जाती हैं, जैसे विवरणात्मक, संकेतात्मक, प्रतीकात्मक, मनोवैज्ञानिक आदि विधियाँ; किन्तु इन्हें उपर्युक्त दोनों प्रणालियों के अन्तर्गत ही माना जाता है, अतः इनको अलग से वर्गीकृत करना उचित नहीं प्रतीत होता ।[१] डॉ० श्यामसुन्दरदास ने भी 'साहित्यालोचन' में इन्हीं दो प्रणालियों को स्वीकार किया है—

"चरित्र-चित्रण में प्रायः दो उपायों का अवलम्बन किया जाता है, एक को विश्लेषात्मक या साक्षात् और दूसरे को अभिनयात्मक या परोक्ष कहते हैं । पहले प्रकार का उपन्यास-लेखक अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वयं अपने

---

१. कथा के पात्रों को किस प्रकार उपस्थित किया जाय, यह कलाकृति के रूप, लेखक की रुचि तथा योग्यता और उसकी कृति के उद्देश्य पर निर्भर है । काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि में पात्रों के प्रयोग अर्थात् चरित्र-चित्रण के अपने-अपने ढंग और विधान होते हैं। सब मिलाकर पात्रों का चरित्र-चित्रण तीन प्रकार से हो सकता है :--
(१) पात्रों के कार्यों द्वारा,
(२) उनकी बातचीत के द्वारा, तथा
(३) लेखक के कथन और व्याख्या द्वारा ।
पहले दो को नाटकीय या अप्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण कहते हैं और तीसरे को विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण ।
('हिन्दी साहित्य-कोश', पृष्ठ ४४७ ।)

शब्दों में करता है। वह पात्रों के भावों, विचारों, प्रकृतियों और राग-द्वेषों को समझता, उनकी व्याख्या बताता और प्रायः उन पर अपना विवेचनापूर्ण मत भी प्रकट करता है। दूसरे प्रकार में लेखक आप मानो अलग खड़ा रहता है। स्वयं पात्रों को अपने कथन और व्यापार से तथा उसके सम्बन्ध में दूसरे पात्रों की टीका-टिप्पणी तथा सम्मति से अपना चरित्र-चित्रण करने देता है।"

('साहित्यालोचन', पृष्ठ १६५)

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नाटक और उपन्यास में भेद होता है। नाटक में सामान्यतः चरित्र-चित्रण के समय पात्रों के कार्यों, उनकी बातचीत आदि को ही विशेष महत्व प्रदान किया जाता है, जबकि उपन्यास में रंगमंच के अभाव के कारण यह सब होना सम्भव नहीं होता। नाटक में केवल अप्रत्यक्ष और नाटकीय ढंग ही स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार के नाटक में पात्रों और दर्शकों का परस्पर सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे पात्रों को दर्शक अधिकाधिक सम्वेदना के साथ स्वीकार करते हैं। पात्रों के सम्बन्ध में अपनी धारणा निश्चित करने में उन्हें विशेष कठिनाई प्रतीत नहीं होती। नाटकीय चरित्र जितना ही व्यंजनापूर्ण और संक्षिप्त होता है, उतना ही उसका प्रभाव अधिक पड़ता है। उपन्यास में चरित्र जितना विस्तार से चित्रित किया जाता है—भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में डालकर उसके मन की गुत्थियों का विश्लेषण किया जाता है—वह उतना ही स्पष्ट, प्रभावशाली और स्वाभाविक सिद्ध होता है। उपन्यास समग्र या एक बड़े भाग वाले जीवन का चित्र होता है। उपन्यास में मानव मन की गोपनीय और रहस्यमय भावनाओं और वासनाओं को स्पष्ट करना आवश्यक होता है। अतः विश्लेषणतमक शैली ही इसके लिए उपयुक्त मानी गई है। नाटक और उपन्यास में एक और प्रमुख भेद यह है कि जहाँ नाटक में कार्य की प्रधानता रहती है, वहाँ उपन्यास में चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की। पात्रों के कार्यों को प्रधानता देने वाले घटना-प्रधान उपन्यास कभी भी श्रेष्ठ और उत्तम कोटि के नहीं माने जाते। इन उपन्यासों में मनो-विश्लेषण को कोई स्थान नहीं दिया जाता। मनोविश्लेषण की कमी से इन उपन्यासों में वैविध्य और विशदता नहीं आ पाती। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में मनो-विश्लेषण को प्रधान माना जाता है—चरित्रों की गहनताओं को विश्लेषणात्मक शैली द्वारा ही वर्णित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य कोश की सम्मति बहुत ही महत्वपूर्ण और उपयुक्त है।[1]

---

१. "उपन्यास के चरित्र-चित्रण में अभिनयात्मक तथा विश्लेषणात्मक शैलियों को मिलाकर चरित्र-चित्रण अधिक विशद रूप में किया जा सकता है।

चरित्र-चित्रण की विशेषताएँ

चरित्र-चित्रण के लिए मौलिकता, स्वाभाविकता, अनुकूलता, सजीवता, सहृदयता आदि गुणों का होना आवश्यक है ।

उपन्यास के चरित्र-चित्रण में लेखक को व्याख्या और टीका-टिप्पणी करने की इतनी स्वतन्त्रता रहती है कि वह चारित्रिक विशेषाओं के उद्घाटन में नाटक की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तार और गहनता ला सकता है । नाटक और उपन्यास के चरित्र-चित्रण का यह अन्तर स्पष्ट ही इस बात का सूचक है कि नाटक में कार्य की प्रधानता होती है, जबकि उपन्यास का महत्व चारित्रिक अध्ययन में ही अधिक माना जाता है । कार्य या घटना को प्रमुखता देने वाले उपन्यास उच्चकोटि के नहीं बन पाते । इसके विपरीत नाटक में चरित्र-चित्रण का आधिक्य यदि कार्य-व्यापार को दबा दे तो नाटकीयता को क्षति पहुँच सकती है । नाटक में देश और काल की सीमाओं के कारण चरित्र का विकास भी उतनी स्वतन्त्रता से नहीं दिखाया जा सकता । उपन्यास में चरित्र को धीरे-धीरे विकसित होता हुआ दिखाकर विभिन्न परिस्थितियों में उसके उत्थान-पतन के अगणित परिवर्तनों को चित्रित किया जा सकता है । सुविधानुसार उपन्यासकार नाटकीयता और विश्लेषण का समुचित समन्वय करके मानवीय मनोवेग, भावावेश, विचार, भावना, उद्देश्य, प्रयोजन आदि का सूक्ष्म से सूक्ष्म आकलन कर सकता है । गतिशील चरित्रों की सृष्टि ही कथा साहित्य की महत्ता की कसौटी है । एक ही पात्र के स्वभाव तथा उसके आधार पर किये गये कार्यों में मनोविज्ञान-सम्मत परिवर्तन तथा कभी-कभी आश्चर्यजनक विरोध का चित्रण करके कथा साहित्य में जिस सौन्दर्य की सृष्टि की जा सकती है वह साहित्य के अन्य रूपों के लिए ईर्ष्या की बात हो सकती है । आर्नल्ड बेनेट के शब्दों में हम कह सकते हैं कि कथा-साहित्य का मूलाधार चरित्र-चित्रण ही है, अन्य कुछ नहीं । कथा की घटनाएँ तो प्राय: पात्रों के स्वभाव और प्रकृति से ही प्रसूत होती हैं । उसके वातावरण या देशकाल का निर्माण चरित्रों को स्वाभाविकता और वास्तविकता प्रदान करने के लिए ही किया जाता है । कथोपकथन घटनाओं से भी अधिक चरित्र को ही व्यंजित और प्रकाशित करता है तथा कथा के उद्देश्य की महत्ता भी चरित्र में ही निहित होती है । मनोविज्ञान को जो साहित्य में महत्ता मिली उसका आधार भी चरित्र-चित्रण ही है ।"

('हिन्दी साहित्य-कोश', पृष्ठ ४४८ ।)

मौलिकता—मौलिकता का अभिप्राय चरित्र-चित्रण में यह माना जाता है कि संसार में जहाँ एक जाति दूसरी जाति से जिन गुणों या विशेषताओं के कारण अलग मानी जाती है, उसी के आधार पर उस जाति वालों में आपस में समानता मानी जाती है, फिर भी किसी जाति के दो प्राणी एक से नहीं हैं। वाह्य अन्तर के अतिरिक्त मनुष्यों के मनों में ऐसा भारी भेद और अन्तर है कि उसे किसी भी दशा में समान नहीं किया जा सकता है। मौलिकता में इन दोनों रूपों का वर्णन आता है। जो उपन्यासकार जितना मौलिक होता है, उसके पात्र उतने ही मौलिक (दूसरों से भिन्न) और हमारे मन को स्वाभाविक लगने वाले होते हैं। मौलिकता की झोंक में उपन्यासकार यदि ऐसे पात्रों का निर्माण करता चला जायगा, जिनका अस्तित्व इस दुनिया में न हो तो वे मौलिक के स्थान पर अस्वाभाविक और कृत्रिम सिद्ध होंगे। हमें चाहिए तो यह कि पात्र जहाँ एक ओर वे अपने समाज से जुड़े रहकर और अन्य प्राणियों जैसी विशेषताओं से युक्त रहकर भी उनमें दूसरों की अपेक्षा रहने वाला भेद भी स्पष्ट हो सके, इस भेद को वैयक्तिकता और समानता को सामाजिकता के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। व्यक्ति न तो केवल वही है जो दूसरे हैं और न उनसे नितान्त भिन्न है—यहीं विभिन्नत्व में अभिन्नत्व और अभिन्नत्व में भिन्नत्व कहा गया है।

स्वाभाविकता—पात्र हमें अपनी ओर आकर्षित कर सकें, इसके लिए उनमें स्वाभाविकता का गुर होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वाभाविकता का अभिप्राय यह है कि पात्रों का चित्रण इस प्रकार होना चाहिए कि वे हमें इसी जगत् के—अपने आसपास के प्राणी प्रतीत हो सकें। डिकिन्स के पात्रों के सम्बन्ध में टॉल्सटॉय ने एक स्थान पर लिखा है कि 'वे मेरे निजी मित्र हैं' (They are my personal friends), इससे उनका अभिप्राय यही है कि उनमें स्वाभाविकता का गुण है।

पूर्वकाल में उपन्यासों में गुण और दोषों को भी पात्रों का रूप दिया जाता था। कोई पात्र या तो 'अच्छा ही अच्छा' (आदर्श) दिखाया जाता था अथवा 'बुरा ही बुरा' (पापी) दिखाया जाता था। यथार्थ जीवन में कोई व्यक्ति इस प्रकार का नहीं होता। या तो वह अधिक बुराइयों के साथ कोई गुण अपने में छिपाये रहता है अथवा वहुत से गुणों के साथ कोई न कोई बुराई उसके चरित्र में छिपी रहती है। आजकल अच्छाई और बुराई दोनों को स्वीकार करके चलने वाले पात्रों को ही उचित और स्वाभाविक माना जा सकता है। हमें इसी प्रकार के पात्रों का निर्माण करना चाहिए।

अनुकूलता—पात्रों का कथानक के अनुकूल होना उपन्यास की श्रेष्ठता

के लिए आवश्यक गुण माना गया है। उपन्यासकार उपन्यास का कथानक जिस प्रकार का निर्मित करना चाहता हो, उसे चाहिए कि वह पात्रों की योजना भी ऐसी करे जिससे उसकी पूर्ति हो सके। पात्र कथानक के प्रतिकूल पड़ जाते हैं तो उससे उद्देश्य की पूर्ति होने में बाधा उपस्थित हो जाती है। पात्र एक ओर अग्रसर होते हैं और कथानक दूसरी ओर बहने लगता है। कथा का विकास होने के साथ ही साथ पात्रों का विकास होना भी आवश्यक माना जाता है और यदि कथा एक दिशा में बढ़े और पात्र दूसरी दिशा में तो इससे दोनों तत्वों का निर्वाह नहीं हो पाता। अतः पात्रों का सृजन कथा और परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए।

सजीवता—पात्रों के अन्तर्गत मिलने वाले अनेक गुणों के संयोग से सजीवता की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है। अनुकूलता और स्वाभाविकता आदि गुण जब चरित्र-चित्रण में उपस्थित रहते हैं, तभी उसमें सजीवता छा जाती है। पात्र हमें निर्जीव और निष्प्रभ प्रतीत होने की अपेक्षा सजीव प्रतीत होने चाहिए।

सहृदयता—उपन्यास के पात्र अधिक से अधिक मानवीय और हमारे सुःख-दुःख आदि के साथ जुड़े रहने चाहिए। हमारी सहानुभूति और संवेदना के वे अधिकारी हों तथा वे हमें अपने विश्वास में ले सकें, ऐसा होना आवश्यक है।

कथोपकथन

कथोपकथन को उपन्यास का आवश्यक तत्व माना गया है। आज के उपन्यासों में कथोपकथन के बिना भी काम चल जाता है, अतः आजकल यह अनिवार्य तत्व नहीं कहा जा सकता। जितने उपन्यास साहित्य के आलोचक हैं उन्होंने इसका विवेचन किया है और पाश्चात्य उपन्यास साहित्य के मीमांसकों ने तो इसके सम्बन्ध में यह धारणा तक व्यक्त की है कि उपन्यास की स्वाभाविकता कथोपकथन पर निर्भर करती है। जिस प्रकार के पात्र हों और जिस स्थिति में वह कुछ कर रहे हों, उससे उनके कथन विपरीत नहीं होने चाहिए। कथानक से कथा आगे बढ़े और चरित्रों की विशेषताएँ स्पष्ट हों, यह आवश्यक माना गया है। कथोपकथनों द्वारा उपन्यासकार अपने दार्शनिक और अन्य प्रकार के विचारों के प्रतिपादन के लिए आवश्यक विस्तार-वादी नीति न अपनाये यह आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह कथन ध्यान देने योग्य है—

"Just as behaviour should proceed from character, so should speech. A woman of fashion should talk like a

woman of fashion, a street walker like street walker, a racing tout like a racing tout and an attorney like an attorney. The dialogue should be neither desultory nor should it be an occassion for the author to air his views ; it should serve to characterize the speaker and advance the story."

कथोपकथन के मुख्यतः तीन गुण माने जाते हैं और इन तीन गुणों द्वारा उपन्यास को तीन प्रकार की सहायता मिलती है। कथोपकथन कथानक का विकास, पात्रों की व्याख्या तथा लेखक के उद्देश्य की स्पष्टता के लिए उपयुक्त होते हैं।

कथानक का विकास—बहुत सी घटनाएँ ऐसी होती हैं जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता है। या तो वह भूतकाल में हो चुकी होती हैं अथवा ऐसे स्थान और परिस्थिति में होती हैं जिनका उपन्यास से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु उपन्यास के कथानक की पूर्णता और चरमविकास की दृष्टि से उनका वर्णन करना आवश्यक होता है तो उपन्यासकार स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिए किसी ऐसे पात्र द्वारा उनका वर्णन करा देता है जो उस घटना से परिचित होता है और इस प्रकार कथानक में गत्यावरोध उत्पन्न नहीं होता और घटनाक्रम आगे वढ़ता चला जाता है।

कथानक के विकास की दृष्टि से 'गोदान' की गोविन्दी और मेहता के कथोपकथन (जब वह खन्ना साहब का घर छोड़कर पार्क में मेहता को मिलती है) एक सुन्दर उदाहरण सिद्ध होते हैं। मिसेज खन्ना के साथ उनके पति किस प्रकार का व्यवहार करते हैं और उन्हें घर छोड़ने पर मजबूर कर देते हैं, इस सबका वर्णन हमें गोविन्दी देवी के उन कथनों द्वारा मिलता है जिन्हें वह मेहताजी की सान्त्वना से मिलकर स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करती है। जैनेन्द्रजी के 'त्यागपत्र' में भी कथोपकथनों द्वारा अनेक घटनाओं का ज्ञान कराया जाता है। 'त्यागपत्र' की नायिका अपने जीवन में घटी घटनाओं को अपने भतीजे को सुनाती है।

कथोपकथनों द्वारा कथा जहाँ आगे बढ़ाई जाती है उसमें कथाकार को यथेष्ट सावधानी बरतनी होती है, कथोपकथनों द्वारा कभी भी आवश्यकता से अधिक और पृष्ठभूमि तथा वातावरण को बिना स्पष्ट किये सूचनाएँ मात्र प्रस्तुत करना उपन्यास को अस्वाभाविक बनाने के लिए पर्याप्त होता है। कथोपकथनों द्वारा केवल वही सूचनाएँ देनी चाहिए जो आवश्यक, स्वाभाविक और परिस्थितियों के अनुकूल हों।

पात्रों की व्याख्या करना—यद्यपि कथोपकथनों का सम्बन्ध घटनाओं

और कथानक से होता है किन्तु वे किसी न किसी द्वारा कहे जाते हैं और उनका सम्बन्ध किसी न किसी अन्य पात्र से भी होता है, अतः चरित्रों पर प्रकाश डालना इनका मुख्य कर्त्तव्य है। कथोपकथनों द्वारा पात्र अपने विचार, परम्पराएँ, मर्यादाएँ, ऊहापोह, विचार, सुख-दुःख तथा जीवन के प्रति अपनी मान्यताएँ प्रकट करते हैं। कथोपकथन ही पात्रों की अभिव्यक्ति का साधन हैं। हम पात्रों को उनके कथन द्वारा ही समझने में समर्थ होते हैं। पाठकों और पात्रों के बीच का सम्बन्ध कथनों पर ही आधारित रहता है।

आज का युग मनोविज्ञान का है। हमारे बाहर का जगत् जितना गुम्फित, संघर्षमय और कठिनाई से समझ में आने वाला है—अन्दर का जगत्—मनोजगत् इससे कहीं अधिक गुम्फित, कुण्ठामय और संघर्षशील है। मन में अनेक प्रकार की विचारधाराएँ उठती और गिरती रहती हैं। एक विचार आता है और दूसरे से टकराकर बिखर जाता है—फिर एक नया विचार उठता है और वह पहले वाले को मिटा देता है—इन सारे संघर्षों का वर्णन पात्र स्वयं अपने कथनों द्वारा कर सकते हैं अन्यथा उसकी स्वाभाविता और सहजता का लोप हो जाता है।

अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के पात्र लम्बे-लम्बे स्वगत भाषण देते हैं—यह अन्य पात्रों से लम्बे-लम्बे वाक्यों द्वारा काफी देर तक बात करते रहते हैं—और इस बातचीत के द्वारा वे अपने को अभिव्यक्त करते हैं। यदि इन कथनों का प्रयोग न किया गया होता तो हमें यह ज्ञात होने में भारी कठिनाई होती कि इस पात्र के किसी विषय विशेष के सम्बन्ध में पहले क्या विचार थे और अब क्या विचार हैं। पात्रों के विकास की क्रमरेखा स्पष्ट होने में इससे पूरी-पूरी सहायता मिलती है।

'गोदान' में मालती और मेहता का प्रसंग इसका एक सुन्दर उदाहरण है। मेहताजी के लम्बे-लम्बे भाषण उनके चरित्र की विशेषताओं और उनकी विचारधारा के सुन्दर दर्पण हैं। मालती मेहता के समीप आकर अपना प्रणय निवेदन करती है और मेहता से जब वह वनबाला (शिकार प्रसग में) आकर मिलती है तो मेहता उसके मेहमान बनना स्वीकार कर लेते हैं और मालती अपनी ईर्ष्या की अभिव्यक्ति अपने कथनों द्वारा करती है। मालती जो स्वयं दूसरों को फाँसकर उल्लू बनाना अपना परम कर्त्तव्य समझती थी—मेहता पर आसक्त उस वनबाला को देखकर जल उठती है। यदि मालती उस विषय में अपने कथनों द्वारा कुछ न कहती तो उसके मनोगत भाव किस प्रकार प्रकट होते? जैनेन्द्रजी का प्रसन्न जब तक अपने मन

की कुण्ठा को व्यक्त नहीं करता, तब तक उसके मित्र की पत्नी उसकी पीड़ा को नहीं समझ पाती और समझने पर आत्मसमर्पण कर देती है।

लेखक के उद्देश्य को स्पष्ट करना—कहानी कहने की आज अनेक शैलियाँ प्रचलित हो गई हैं। पहले कहानी ऐतिहासिक प्रणाली से कही जाती थी, अब उसे आत्मकथात्मक और अन्य अनेक शैलियों के माध्यम से भी कहा जाता है। प्रत्येक उपन्यास के लिखते समय उपन्यासकार का भी एक दृष्टिकोण होता है और जीवन में से जो कुछ उसकी अभिव्यक्ति के लिए उपयोगी होता है उसे वह छाँट लेता है और जो कुछ अनावश्यक होता है उसे छोड़ देता है। इस स्वीकृति और अस्वीकृति के पश्चात् अपने विचारों को पात्रों के द्वारा प्रकट करता है। पात्र अपने मुख से उपन्यासकार की वाणी को स्पष्ट करते हैं। माना यह जा सकता है कि उपन्यासकार परोक्ष रूप से कथनों को अपने लिए ही प्रयोग में लाता है। समाज की वर्तमान और भूतकालिक समस्याओं आदि को उठाने के लिए घटनाएँ जहाँ से संगठित नहीं की जा सकतीं, वहाँ उपन्यासकार केवल कथोपकथनों से भी काम चला लेते हैं।

'वैशाली की नगरवधू' तथा 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' जैसे ऐतिहासिक उपन्यासों में अनेक प्रकार की सूचनाएँ तथा लेखक की शोधें और मान्यताएँ पात्रों द्वारा कही जाती हैं। पात्र तो केवल उन्हें पाठकों तक पहुँचा देने के लिए हैं। 'गोदान' के मेहता का विवाह और प्रेम के सम्बन्ध में तथा कुटुम्ब में नारी के स्थान के विषय में जो मत है वह प्रेमचन्दजी का अपना मत है—ऐसा अनेक आलोचकों ने स्वीकार किया है। जैनेन्द्रजी के उपन्यासों के अनेक कथन उनकी मान्यताओं की अभिव्यक्ति मात्र हैं।

वातावरण सृष्टि—वातावरण प्रधान कहानियों और उपन्यासों में लेखक वातावरण के चित्रण का कार्य कथोपकथनों द्वारा करता है। प्रेमचन्दजी की 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी के कथोपकथन वातावरण सृष्टि के उपादान हैं।

अन्य

संवादों द्वारा पात्रों को सजीवता और कथानक को नाटकीयता की उपलब्धि होती है, जिससे उपन्यास का प्रभाव अधिक तीव्र और मार्मिक हो जाता है। कभी-कभी यह देखने में आता है कि किसी शब्द, वाक्यांश या कथन पर सारे उपन्यास का तत्व निर्भर रहता है और प्रारम्भ से अन्त तक पूरे उपन्यास में वही बात गूँजती रहती है।

कथोपकथन के गुण

कथोपकथन के सम्बन्ध में अब तक जो लिखा गया है उससे उसके अच्छे और बुरे होने की कसौटी स्पष्ट नहीं होती। है कथोपकथन यद्यपि ऐसा उपन्यास-तत्त्व है जिसके बिना भी काम चल जाता है और कुछ उपन्यासों में तो इसका एकदम प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु स्वाभाविकता बनाये रखने और रोचकता लाने के लिए कथोपकथनों आ प्रयोग किया जाता है, जिसे अनुचित नहीं माना जा सकता। कथोपकथन में स्वाभाविकता, उपयुक्तता, अनुकूलता, सम्बद्धता, संक्षिप्तता, सोद्देश्यता आदि गुण होने चाहिए। इन गुणों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

स्वाभाविकता—कुछ उपन्यास कथोपकथन शैली में ही लिखे जाते हैं। वहाँ ऐसी बातें पात्रों द्वारा कहलाई जाती हैं जिनके कहलाने का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। पात्र जिस स्थान पर उपस्थित नहीं है, जिन घटनाओं और व्यक्तियों को उसने देखा या सुना नहीं, उनका वर्णन अपने कथन द्वारा कहाँ तक उचित माना जा सकता है—यह एक विचारणीय प्रश्न है। कथोपकथनों का समावेश आवश्यकतानुसार और स्वाभाविक रूप में होने पर ही उपन्यास के सौन्दर्य को बढ़ाया जा सकता है। कथोपकथन की स्वाभाविकता का गहरा सम्बन्ध पात्रों और घटनाओं तथा कथासूत्र की स्वाभाविकता के साथ सम्बद्ध है। कथोपकथन तभी स्वाभाविक बन सकेंगे जबकि वे यथार्थ जीवन से अलग और हटे हुए प्रतीत न हों। उपन्यास पढ़ने से यह प्रतीत होना चाहिए कि हम यथार्थ जीवन की घटनाओं के अन्तर्गत होने वाली अपने मित्रों की बातचीत सुन रहे हैं। जहाँ इस अनुभव में जरा सी भी गड़बड़ी पैदा होती है कि सारी स्वाभाविकता समाप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना उपादेय होता है कि घटना-स्थल पर केवल आवश्यक पात्रों को ही उपस्थित दिखाया जाय और उनसे केवल वही वाक्य या वाक्यांश कहलाये जायें, जिनके कहने से या तो घटनाओं का रहस्योद्‌घाटन होता हो या किसी पात्र के चरित्र पर प्रकाश पड़ता हो अथवा कथासूत्र आगे चलता हो, आदि आदि। कहीं-कहीं व्यर्थ की बहस या लम्बी-लम्बी स्पीचें दे दी जाती हैं जो उचित नहीं हैं। 'सत्ती मैया का चौरा' में मुन्नी और मन्ने मियाँ के लम्बे-लम्बे कथन उपन्यास की स्वाभाविकता और सरसता के राहु सिद्ध हो गये हैं। उपन्यास में लेखक ने अपनी मार्क्सवादी मान्यताओं की वैज्ञानिकता को व्याख्यात्मक रूप देने में पात्रों के विकास, घटनाओं और वातावरण के परिवर्तन आदि का सहारा लेने की अपेक्षा कथोपकथनों का सहारा (जो सम्भवतः सबसे आसान और अल्प परिश्रम साध्य है) लिया है। इससे उपन्यास

की शक्ति और प्रभाव स्वाभाविक रूप से काफी कम हो गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस उपन्यास में स्वाभाविक, सजीव, सरस और औचित्यपूर्ण कथोपकथन हैं ही नहीं। वे हैं और पर्याप्त मात्रा में हैं, किन्तु ये कमियाँ और दूर हो जातीं तो प्रभाव की कमी अनुभव न होती।

कुछ लोग स्वाभाविकता का अर्थ यह लेते हैं कि यथार्थ जीवन में हम जैसी भाषा सौर शब्दावली प्रयुक्त करते हैं, साहित्य में उसे ज्यों का त्यों उतार कर रखना चाहिए; यदि ऐसा नहीं किया जाता तो स्वाभाविकता की रक्षा नहीं हो सकती। किन्तु ऐसा सोचना मात्र भ्रम है। यथार्थ जीवन में मैं कई ऐसे व्यक्तियों से परिचित हूँ जो प्रत्येक वाक्य के प्रारम्भ या अन्त में कोई भद्दी गाली देने के अभ्यस्त हैं। यदि इन कलाकारों के अनुसार चला जाय तो प्रत्येक ऐसे पात्र की भाषा में १००-५० गालियाँ रखना ही स्वाभाविता की रक्षा के लिए आवश्यक हो जायगा। कुछ निम्नस्तर के पात्र यथार्थ जीवन में गर्हित और असुन्दर शब्दों का प्रयोग करते हैं, किन्तु जो लेखक स्वाभाविकता की झोंक में उन्हें ज्यों का त्यों उतार कर रख देते हैं, उन्हें 'साहित्यिक-वीर' की पदवी चाहे दे दी जाये किन्तु उच्चकोटि का कलाकार कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकेगा। 'सत्ती मैया के चौरे' से एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

'इन लोगन के मुँह और गाँड़ में कोई फरक नहीं'। (पृष्ठ ५६१)

बसमतिया से यदि उपन्यास लेखक किसी अन्य मुहावरे के द्वारा इस अभिव्यक्ति को स्वरूप दिला देता तो उससे प्रभाव की अन्विति और स्वाभाविकता का गला न घुट जाता। हाँ, थोड़ी सी साहित्यिक मर्यादा बनी रहती, किन्तु प्रगतिशीलता के नाम पर जो कुछ गर्हित और जघन्य है उसे बार-बार स्मरण न किया गया तो उसमें रस कहाँ से आयेगा ! इसे यथार्थवाद कहने की अपेक्षा अतियथार्थवाद कहना ही अधिक समीचीन है।

प्रेमचन्दजी ने उपन्यास में कथोपकन के गुण बताते हुए लिखा है—
"उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुँह से निकले—उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है। हमारे उपन्यासों में अक्सर बातचीत भी उसी शैली में कराई जाती है मानो लेखक खुद लिख रहा हो। शिक्षित समाज की भाषा तो सर्वत्र एक है, हाँ भिन्न-भिन्न जातियों की जबान पर उसका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बँगाली, मारवाड़ी और ऐंग्लो-इण्डियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते पाये जाते हैं, लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं, पर ग्रामीण

बातचीत कभी-कभी हमें दुविधा में डाल देती है, बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आस-पास का आदमी समझ ही न सकेगा।"

('कुछ विचार', पृष्ठ १०२)

'हिन्दी साहित्य कोशकार' ने भी यह स्वीकार किया है कि कथोपकथनों को ज्यों का त्यों जीवन से नहीं लिया जा सकता और न लेना चाहिए। काव्य का उद्देश्य सत्य को वर्णन करने की अपेक्षा सम्भाव्य सत्य को प्रकट करना है—चाहे वह असत्य ही क्यों न हो। मूल कथन इस प्रकार है—

"यह सही है कि साहित्य में प्रयुक्त वार्तालाप शब्दशः जीवन से नहीं लिया जाता, परन्तु वह कार्य-व्यापार को वास्तविकता अवश्य प्रदान करता है, साथ ही मूलभूत संघर्ष से उदय होकर वह उसे अग्रसर करता है और इस प्रकार कार्य-व्यापार को विकसित करता चलता है। कथोपकथन में वर्तमान काल का प्रयोग होता है जिसके कारण कार्य अत्यन्त आँखों के सामने तीव्र गति और गहनता के साथ घटित होता हुआ जान पड़ता है तथा साहित्य में इसके द्वारा कहीं अधिक विविधता, विश्रान्ति और स्वाभाविकता की वृद्धि होती है।"

('हिन्दी साहित्य-कोश', पृष्ठ १८७)

स्वाभाविक कथोपकथनों द्वारा पात्रों के सूक्ष्म मनोभाव, प्रतिक्रियाएँ, संकल्प-विकल्प, विचार और वितर्क आदि का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है जिससे उपन्यास के मूल संवेद्य को समझने में यथेष्ट सहायता मिलती है। इस सम्बन्ध में कोशकार का मत है—

"पात्रों की बातचीत के द्वारा ही हम उनसे भलीभाँति परिचित होते हैं। वर्णन के द्वारा हमें उनके सूक्ष्म मनोभाव, प्रतिक्रियाएँ, संकल्प-विकल्प, विचार और वितर्क आदि का वैसा यथातथ्य और प्रभावशाली चित्र नहीं दिया जा सकता। संवाद पात्रों को सजीव बना देते हैं तथा कथानक में नाटकीयता का समावेश करके उसके प्रभाव को तीव्र कर देते हैं। कभी-कभी किसी पात्र के मुख से निकला हुआ एक शब्द भी समस्त उपन्यास में गूँजता सुनाई देता है। संवाद के द्वारा कथावस्तु का विकास और पात्रों का चरित्र-चित्रण अभीष्ट होता है, अतः उपन्यासों में इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसका उपयोग होना चाहिए। उसमें देश, काल और पात्र के अनुकूल स्वाभाविकता, मनोविज्ञान की उपयुक्तता और उपन्यास की रोचकता और आकर्षण को बढ़ाने वाली अभिनयात्मकता और सरसता आवश्यक है।"

(वही, पृष्ठ १४३)

उपयुक्तता—उपन्यास के कथोपकथन देश, काल, परिस्थिति और घटना आदि के अनुकूल तथा औचित्यपूर्ण होने चाहिए। उपयुक्त कथोपकथनों से सरसता, औचित्य और चमत्कार की सृष्टि होती है तथा अनुपयुक्त कथानकों

द्वारा उपन्यास दोषपूर्ण बन जाता है। उपन्यासकार को संवादों का महत्व समझकर उसे उपन्यास के प्रभाव और शक्ति-सम्पन्नता के लिए प्रयोग करना चाहिए।

कई स्थानों पर देखा गया है कि किसी पात्र की मृत्यु पर लम्बे-लम्बे प्रवचन और शिक्षायुक्त उबाने वाले व्याख्यान दिलाये जाते हैं, उन्हें उपयुक्त नहीं माना जा सकता।

अनुकूलता—संवाद पात्रों और घटनाओं के अनुकूल होने चाहिए। उनकी भाषा आदि इतनी क्लिष्ट नहीं होनी चाहिए कि सभी पाठक उन्हें समझ न सकें और उनमें निहित उद्देश्य तक आसानी से पहुँच न सकें। सम्वाद पात्रों के स्वभाव के अनुकूल होने चाहिए। संवादों को लिखते समय उपन्यास-कार को यह ध्यान रखना चाहिए कि वे पात्रों की सामाजिक, बौद्धिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं और मान्यताओं के अनुकूल हों। कभी-कभी सामान्य पात्र गहन दार्शनिक प्रश्नों पर भाषण देते दिखाये जाते हैं और कभी भविष्य-वाणियाँ करते हुए, यह सब नहीं होना चाहिए।

सम्बद्धता—सम्बद्धता से अभिप्राय उस गुण से है जिसके अन्तर्गत उपन्यासकार जिन संवादों को नियोजित करे वह कथानक या पात्रों से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित अवश्य हों। कथोपकथन प्रासंगिक नहीं होने चाहिए। उनके स्वतन्त्र होने से सम्बद्धता नहीं रह पाती है। उनके पूर्वा-पर सम्बन्ध की पूर्ण स्थापना रहनी चाहिए। कभी-कभी कुछ उपन्यासकार रोचकता उत्पन्न करने के लिए कुछ ऐसे संवादों की योजना कर देते हैं जिनका पूर्वापर से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ये संवाद उपन्यास के सबसे कमजोर अंश माने जाते हैं।

संक्षिप्तता—उपन्यास में यद्यपि उस प्रकार की प्रभावान्विति उत्पन्न नहीं की जा सकती, जिस प्रकार की कि कहानी में उत्पन्न हो सकती है, किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि उपन्यास में कोई प्रभावान्विति होती ही न हो। उपन्यास की प्रभावात्मकता की रक्षा संक्षिप्त और सजीव संवादों पर बहुत कुछ निर्भर करती है। लम्बे-लम्बे संवादों से ऊब पैदा होकर अस्वाभाविकता और विरसता का जन्म होता है। छोटे-छोटे कथोपकथनों से हमें परिस्थिति का जितना सहज और उपयुक्त ज्ञान होता है, लम्बे-लम्बे संवादों से नहीं होता।

कुछ उपन्यास दार्शनिक, सामाजिक या सांस्कृतिक दृष्टिकोण को उपस्थित करने के लिए लम्बे-लम्बे संवादों से युक्त कर दिये जाते हैं और इन संवादों को प्रस्तुत करने में उपन्यासकार पाठकों की रुचि-अरुचि का कोई ध्यान नहीं रखते। मनोविज्ञानयुक्त विश्लेषण करने वाले उपन्यासकार पाठक के मनोविज्ञान को भुला बैठते हैं और उसका परिणाम यह होता है कि

उपन्यास नीरस बन जाता है । प्रेमचन्दजी के 'गोदान' जैसे उपन्यास में भी ऐसे भाषण और लम्बे-लम्बे संवाद हैं जो इस कोटि में आते हैं, यद्यपि उनमें रुचि बनाये रखने के लिए प्रेमचन्दजी ने बीच-बीच में कुछ अन्य पात्रों के रिमार्कों आदि की व्यवस्था करके उनकी नीरसता को समाप्त करने का सफल प्रयास किया है, किन्तु आजकल के उपन्यासों में यह मनोवृत्ति इतनी बढ़ गई है कि समझ नहीं पड़ता कहाँ जाकर रुकेगी । वर्तमान काल के बड़े-बड़े (आकार की दृष्टि से) उपन्यासों में यह बीमारी विशेष है ।

'भूले बिसरे चित्र' (भगवती चरण वर्मा) तथा 'सत्ती मैया का चौरा' (भैरव प्रसाद) में कम से कम बीसियों ऐसे स्थल मिलेंगे जहाँ ४-४, ६-६ पृष्ठ के स्वगत कथन या लम्बे कथन मिल जायँगे । सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उपन्यासकार इन लम्बे-लम्बे भाषणों को नियोजित करते समय यह ध्यान भी नहीं रखते कि इन कथनों को यहाँ प्रस्तुत करना उचित भी है या नहीं ?

सोद्देश्यता—कला जीवन की अनुकृति है । जीवन से कला का सम्बन्ध होने के कारण वह जीवन के किसी अंश विशेष को लेकर चलती है और दूसरे अंश को छोड़ देती है । इससे कला का उद्देश्य सिद्ध हो जाता है । इसलिए यह कहा जा सकता है कि समस्त कलाएँ किसी न किसी उद्देश्य को लेकर चलती हैं । जो लोग यह मानते हैं कि कला का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, कला तो केवल कला के लिए है, वे भी कला को जीवन के अतिरिक्त कहीं अन्तरिक्ष में नहीं ले जा सकते हैं । जीवन और समाज के पात्रों द्वारा उन्हीं के जीवन के किसी अंश की झाँकी वे दिखाते हैं । उस जीवन में से वे कुछ अंश स्वीकार कर लेते हैं और शेष को छोड़ देते हैं । संवाद भी इस प्रकार से स्वीकार करते हैं जिनके द्वारा यह प्रमाणित हो सके कि जो कुछ वर्णन किया जा रहा है वह यथार्थ और सत्य है और इससे संवादों की सोद्देश्यता सिद्ध हो जाती है ।

उपन्यास का एक संवाद भी ऐसा नहीं होना चाहिए जिसका उद्देश्य को पूर्ण करने में योगदान न हो । जिस प्रकार अच्छे भवन के निर्माण में एक ईंट भी किसी स्थान से आसानी से अलग नहीं की जा सकती और यदि अलग कर दी जायेगी तो उससे पूरे भवन की मजबूती में कमी अवश्य आये बिना न रहेगी, इसी प्रकार उपन्यास में प्रत्येक सम्वाद और प्रत्येक सम्वाद का एक-एक शब्द कड़ी के समान एक दूसरे से गुथा हुआ होना चाहिए, जिसमें अनावश्यक के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता ।

कथोपकथन के जितने उद्देश्य हो सकते हैं उन सबका यथेष्ट विवेचन पीछे हो चुका है, अतः उसको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है । केवल इतना जान लेना आवश्यक है कि भयानक चरित्र या घटना का परिचय देना

उपन्यास के संवादों का उद्देश्य होता है और इसी पर संवादों की सफलता और असफलता का निर्माण होना चाहिए। सशक्त और प्रभावशाली संवाद उपन्यास को वैसा ही बनाने में समर्थ होते हैं। इसी बात को बताते हुए W. H. Hudson ने इस प्रकार स्वीकार किया है—

"The expansion of this element in modern fiction is, therefore, a fact of great significance. Anyone who watches an uncritical reader running over the pages of a novel for the purpose of judging in advance whether or not it will be to his taste, will notice that the proportion of dialogue to compact chronical and description is almost always an important factor in the decision. Nor is the uncritical reader to be condemned on this account. His instinct is sound. Good diologue greatly brightens a narrative, and its judicious and timely use is to be regarded as evidence of a writers technical skill.

"Investigation shows that while dialogue may frequently be employed in the evolution of the plot—the action moving (as often in the drama) beneath the conversation—its principal functioning is in direct connection with character. It has immense value in the exihibition of passions, motives, feelings; of the reaction of the speakers to the events in which they are taking part; and of their inference upon one another...Even where the analytical method is freely used, dialogue will prove of constant service as a vivifying supplement to it.

"In the first place, it should always constitute an organic element in the stay; that is, it should really contribute, directly or indirectly, either to the movement of the plot or to the elucidation of the characters in their relations with it. Extraneous conversation, however clear or amusing in itself, is therefore to be condemned for precisely the same reason as we condemn any interjected discourse on miscellaneous topics by the author himself,...conversation extended beyond the actual needs of the plot is to be justified only when it has a distinct significance in the exposition of character.

"Dialogue should be natural, appropriate, and dramatic ; which means that it should be in keeping with the personality of the speakers ; suitable to the situation in which it occurs ; and easy, fresh, vivid and interesting......The actual talk of ordinary people, and even the talk of brilliant people in exceptional situations, would, if realistically reproduced, seem hopelessly shipshod, discursive, and ineffective ; while on the other hand there is a constant danger lest, in his effort to escape from the flat and commonplace, the writer should become just as hopelessly stilted, bookish and unconvincing. 'In a quarrel that takes place in real life," says Mr. Henry Arthur Jones, 'you will find a great many undramatic repetitions and anticlimaxes, and sometimes a vast amount of unnecessary language on the stage, all this has to be avoided. In the novel, too, all this has to be avoided ; but in the one case as in the other while the paraphrases and ineptitudes of an actual altercation must be eliminated and the entire matter re-cast with an eye to dramatic effect, theatrical declamation is not to be accepted as the proper substitute for racy and natural utterence....His aim must therefore be, not to report the actual talk of every day men and women, but to give such a conventionalised version of this as shall atonce maintain the required dramatic rapidity and power, and leave the reader with a satisfying general sense of naturalness and reality." ('An Introduction to the Story of Literature')

संवादों के इन सारे गुणों को डा० गुलाबराय ने भी स्वीकार किया है—

"कथोपकथन की भाषा ही पात्रानुकूल नहीं होनी चाहिए वरन् उसका विषय भी पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप होना वांछनीय है······ पात्रानुकूल वैचित्र्य के साथ ही उसमें स्वाभाविकता, सार्थकता, सजीवता ओर (संक्षिप्तता) के गुण होना वांछनीय है।" ('काव्य के रूप', पृष्ठ १७२-७३)

देश-काल

देश-काल के अन्तर्गत किसी भी समाज या राष्ट्र की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ, आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि आते हैं।

वातावरण और प्राकृतिक विधान की योजना का उद्देश्य कथा में अधिक मार्मिकता उत्पन्न करना, पात्रों की मनोभूमि तथा विशेषताओं का सम्यक् उद्घाटन करना होता है। इससे जीवन और जगत् की विशालता का परिचय मिल जाता है। यदि ऐसा न किया जाय तो इससे सजीवता और संगति नहीं आ पाती है। पात्र अयथार्थ और अमानवीय तथा शून्य में घोड़े दौड़ाते से दिखाई देते हैं।

पात्रों के व्यक्तित्व का चित्र उनकी बातचीत से हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है, किन्तु ये पात्र जिस परिस्थिति और वातावरण में रहते, पनपते और विकास पाते हैं, जब तक उनका पूरा-पूरा चित्र न दिया जाय, तब तक चित्र में पूर्णता नहीं आती है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि उस परिस्थिति, स्थान और काल का पूरा-पूरा चित्र दिया जाय, जिसमें कि कथानक की घटनाएँ घटित होती हुई दिखाई जा रही हैं। जब तक वह वातावरण हमारे मन पर स्पष्ट रूप से नहीं उभरेगा, तब तक सारी कथा का औचित्य सिद्ध नहीं हो सकता। आज तो यह जाना जाता है कि व्यक्ति का कोई अलग महत्व नहीं है, वह तो परिस्थितियों का दास है। वर्तमान समाज-व्यवस्था और अर्थ-सम्बन्धों का परिणाम है—ऐसी स्थिति में जब तक उस परिवेश का जिसमें वह साँस लेता है और विकास पाता है, पूरा-पूरा चित्र नहीं होगा, तब तक उस चरित्र की सारी विशेषताएँ स्पष्ट नहीं हो सकती हैं। चरित्र की सारी परिस्थिति स्पष्ट होना आज के उपन्यास की भूमिका में आवश्यक माना जाने लगा है। आज के उपन्यास में प्राचीन उपन्यास की अपेक्षा सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वातावरण-मुक्त उपन्यास की अपेक्षा आज का उपन्यास वातावरण-प्रधान होता है। वातावरण आज के उपन्यास का प्रधान अंग है।

आज का उपन्यास उद्देश्य सत्य का भ्रम उत्पन्न करना है। जब तक यह प्रतीत नहीं होगा कि घटना और पात्र यथार्थ जीवन के हैं तब तक इस उपन्यास से प्रभावित नहीं होंगे और इसके लिए यह आवश्यक है कि उस वातावरण का पूरा-पूरा चित्र दिया जाय और इससे विश्वास उत्पन्न कराया जाय। इस सम्बन्ध में डा० गुलाबराय की सम्मति है—

"कथानक के पात्र भी वास्तविक पात्र की भाँति देश-काल के बन्धन में रहते हैं। यदि वे भगवान की भाँति देश-काल के बन्धनों से परे हों तो वे भी हम

लोगों के लिए रहस्य बन जाएँगे, इसलिए देश-काल का भी वर्णन आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार बिना अँगूठी के नगीना शोभा नहीं देता, उसी प्रकार बिना देश-काल के पात्रों का व्यक्तित्व भी स्पष्ट नहीं होता है और घटनाक्रम के समझने के लिए भी इसकी आवश्यता होती है। आजकल बढ़ते हुए वस्तुवाद के समय में देश-काल का महत्व और भी बढ़ गया है। लेकिन देश-काल में वास्तविकता लाने के लिए स्थानीय ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।....जो वस्तु जहाँ की उपज नहीं है उसका वहाँ दिखाना अथवा जो प्रथा जिस काल में प्रचलित न थी, उसका उस काल में चित्रित करना भारतीय समीक्षा-शास्त्र में क्रमशः देश और काल-विरुद्ध दूषण माने गये हैं।.......

"देश-काल के चित्रण में सदा इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कथानक के स्पष्टीकरण का ही साधन रहे, स्वयं साध्य न बन जाय। जहाँ देश-काल का वर्णन अनुपात से बढ़ जाता है वहाँ उससे जी ऊबने लगता है। लोग जल्दी-जल्दी पन्ने पलट कर कथासूत्र को ढ़ूँढ़ने लग जाते हैं। देश-काल का वर्णन कथानक का स्पष्टता देने के लिए होना चाहिए, न कि उसकी गति में बाधा डालने के लिए।" ('काव्य के रूप', पृष्ठ ७३-७४)

'वैशिष्ट्य' आज के उपन्यास की सम्भवतः सबसे बड़ी विशेषताओं में से एक है। प्रेमचन्द का उद्देश्य सम्भवतः भारतीय-समाज का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करना था। एक दूसरे प्रकार के उपन्यासकार भी हैं जो समग्र जीवन को न स्वीकार करके जीवन के किसी अंग विशेष को लेकर चलते हैं, जैसे जैनेन्द्र आदि। जैनेन्द्रजी ने मध्यवित्त वर्गीय समाज की कुण्ठाओं और यौनविकृतियों को सफलता के साथ चित्रित किया है। डॉ० रांगेय राघव ने समाज के विभिन्न अंगों और समाज के विभिन्न वर्गों को चित्रित करने के लिए अनेक उपन्यासों का सहारा लिया है, उनका कोई उपन्यास उच्च वर्ग की संस्कृति को लेकर चलता है तो कोई मध्य वर्ग को, कोई क्लर्कों का वर्णन करता है तो कोई मिल मालिकों का, किसी में नटों का वर्णन है तो किसी में प्राचीन संस्कृति और सभ्यता का। इस प्रकार उन्होंने अनेक उपन्यासों के द्वारा समग्र भारतीय संस्कृति को चित्रित करने का प्रयास किया है।

कहीं-कहीं भौगोलिक परिस्थितियों और भाषा आदि पर आधारित उपन्यास भी लिखे गये हैं। इंगलिश में स्कॉच, आइरिश और वैसेक्स आदि से सम्बन्धित उपन्यास जिस प्रकार निकले हैं, उस प्रकार हिन्दी में वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों को 'बुन्देलखण्डी उपन्यास' कहा जा सकता है। आज के आंचलिक उपन्यासों में भी यही मनोवृत्ति खोजी जा सकती है : कुल्लूघाटी, बम्बई के मछुहारों, राजस्थान के करनटों, मणिपुर के आदिवासियों,

जौनसानवावर के निवासियों आदि को लेकर आज अनेक उपन्यास लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। इन उपन्यासों में वहाँ की कारीगरी, चित्रकारी, गीत, मुहावरे, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, रहन-सहन, पर्व-त्यौहार, मान्यताएँ, विश्वास, भूमि समस्याएँ, परस्पर सम्बन्ध (स्त्री-पुरुष, भाई-भाई, जाति-जाति, वर्ग-वर्ग आदि के) आर्थिक प्रश्न, प्राचीन परम्पराएँ और नीति आदि का सम्यक् वर्णन किया जाता है। एक प्रकार से वहाँ के समग्र जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न रहता है। इन उपन्यासों में वैसे ही और वहीं के पात्र स्वच्छन्दता के साथ चित्रित किये जाते हैं। इन उपन्यासों के पात्र भी ऐसे होते हैं जो उपन्यास में आने वाले वातावरण के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। ये विशेषताएँ तुलनात्मक चित्रण द्वारा स्पष्ट की जाती हैं। पात्र और वातावरण के संयोग से इन उपन्यासों में विशेष प्रभाव उत्पन्न कराने की चेष्टा की जाती है। इनमें प्रत्येक तत्त्व दूसरे से सम्बन्धित किया जाता है, यहाँ तक कि उनका अन्योन्याश्रयत्व तक प्रदर्शित कर दिया जाता है। इन उपन्यासों में उपन्यासकार की सफलता चित्रण के यथातथ्य और शक्तिशाली होने पर निर्भर करती है।

आंचलिक उपन्यासों वाले सभी सिद्धान्त ऐतिहासिक उपन्यासों पर भी लागू होते हैं जिनका उद्देश्य कथानक में नाटकीय रुचि उत्पन्न करके पात्रों द्वारा जीवन की विभिन्न स्थितियों के चित्र प्रस्तुत करना होता है। ये चित्र उस काल के होते हैं जिस काल का वर्णन उस उपन्यास में होता है। कभी-कभी ऐसे युग और पात्रों का चित्रण करना होता है जिनके सम्बन्ध में या तो इतिहास शान्त होता है या थोड़ा-बहुत परिचय ही मिल पाता है। ऐसी स्थिति में प्राप्त सामग्री और ज्ञान के आधार पर उपन्यासकार अपनी कल्पना-शक्ति का प्रयोग करने को स्वतन्त्र होता है, किन्तु यह कल्पना कहीं भी इतनी आगे न बढ़ जाय कि सत्य का भ्रम उत्पन्न होने में कठिनाई आ जाय।

ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की कला का वर्णन करते हुए डॉ० गोपीनाथ तिवारी कहते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखना सरल भी है और कठिन भी, सरल इसलिए कि एक कथा ज्ञात रहती है और कुछ पात्र भी बने बनाये मिल जाते हैं। किन्तु साथ ही इसका लिखना कठिन भी है क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यास में ऐतिहासिक वातावरण उत्पन्न करना पड़ता है। यदि कोई लेखक पाठक के मन में यह भ्रम पैदा न कर सका कि मैं भूतकाल की घटना पढ़ रहा हूँ, भूतकालीन पात्रों को सामने देख रहा हूँ, भूतकालीन शास्त्रों की झंकार सुन रहा हूँ, भूतकालीन वस्तुओं का स्पर्श कर रहा हूँ तो लेखक का श्रम व्यर्थ हो जाता है, इसीलिए लेखकों को वातावरण या देश-काल निर्माण के प्रति बड़ा सजग रहना पड़ता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार भूमिका से ही

पाठक को विश्वास दिलाना आरम्भ कर देता है कि मैं भूतकालीन उपन्यास को साथ लेकर उपन्यास कहने जा रहा हूँ। ऐसा विश्वास पैदा करने के लिए लेखक कई उपाय बरतता है—

(१) वह उपन्यास से सम्बद्ध इतिहास देता है। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने अपने उपन्यास आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य की भूमिका में यही किया है। मिश्रद्वय ने अपने उपन्यासों (वीरमणि, पुष्यमित्र, चन्द्रगुप्त मौर्य इत्यादि) के आरम्भ में इतिहास दिया है। प्रायः सभी लेखक भूमिका में थोड़ा बहुत इतिहास देते हैं।

(२) वह कोई कल्पित घटना ऐसी गढ़ता है कि पाठक इसके भूतकालीन और सत्य होने का विश्वास करने लगें। राहुलजी ने अपने उपन्यास 'सिंह सेनापति' की भूमिका में एक खुदाई की चर्चा की है। उस खुदाई में कुछ ईंटें मिलीं, जिन पर यह उपन्यास लिखा मिला था। यह कपोल-कल्पना इसलिए की गई कि पाठक उनके ऐतिहासिक उपन्यास में ऐतिहासिकता स्वीकार करें। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में भी एक इसी प्रकार की कहानी कही गई है और उसका उद्देश्य भी इतिहास का भ्रम उत्पन्न करना रहा है।

(३) लेखक आरम्भ में प्रसिद्ध विद्वानों एवं ऐतिहासिक पुस्तकों के उद्धरण या सार देता है, कभी-कभी अपनी खोज का वर्णन देता है। 'झाँसी की रानी' की भूमिका में वर्माजी ने उन साधनों और खोजों को दिया है जिन पर उपन्यास को आधारित किया गया है।

सफल ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए यह आवश्यक है कि लेखक उपन्यास लिखते समय अपने को पूर्णरूप से उसी काल और परिस्थितियों में देखे तथा निरन्तर उसी वातावरण में अपने को देखता और अनुभव करता रहे। उसकी यह अनुभूति जितनी तीव्र होगी, ऐतिहासिक उपन्यास की शक्ति उतनी ही अधिक हो जायगी। वर्तमान काल की समस्याएँ और परिस्थितियाँ ज्यों की त्यों उठाकर न रखी जानी चाहिए, वरन् उन्हें इस प्रकार रखना चाहिए कि वे पैवन्द सी अलग से ही न चमकें।

ऐतिहासिक उपन्यासकार की विशेषताओं का वर्णन करते हुए डॉ० श्यामसुन्दरदास ने बताया है कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए यह बात बहुत ही आवश्यक है कि लेखक उस समय से सम्बन्ध रखने वाली काम की सभी बातों का बहुत अच्छी तरह और विचारपूर्वक अध्ययन करे। ऐसा किये बिना वह कोई अच्छा ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में कभी समर्थ और सफल हो ही नहीं सकता, यदि कोई लेखक वर्तमान की घटनाओं और परिस्थितियों के आधार पर कोई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे और इन्हीं

घटनाओं तथा परिस्थितियों का उस ऐतिहासिक काल में आरोप मात्र करके छोड़ दे, तो उस उपन्यास का मिश्रित समाज में क्या आदर होगा ?

ऐतिहासिक उपन्यास का महत्व तो केवल इसी में है कि उसमें किसी प्राचीन काल के जीवन का पूर्ण विस्तृत वर्णन किया जाय, जिससे पाठकों के सामने उस काल का जीता-जागता चित्र उपस्थित हो जाय। और यह बात तभी हो सकती है जब लेखक ने उस काल की सभी बातों का भली भाँति अध्ययन किया हो, और साथ ही उसमें उनका ठीक-ठीक वर्णन करने की पूरी शक्ति भी हो।

ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का काम ही यह है कि पुरातत्त्व और इतिहास के जानकारों ने जिन रूखी-सूखी बातों का संग्रह किया है, उनको वह रस और सजीव रूप देकर अपने पाठकों के सामने उपस्थित करे, और उसे इधर-उधर बिखरी हुई जो सामग्री भिन्न-भिन्न साधनों से मिले, उसकी सहायता से वह अपने कौशल के द्वारा एक सर्वांगपूर्ण चित्र प्रस्तुत करे। ऐतिहासिक उपन्यासों के पाठक तो उसी लेखक का सबसे अधिक आदर करते हैं जो किसी विशिष्ट अतीत काल का बिलकुल सच्चा जीता-जागता और साथ ही मनोरंजक वर्णन कर सके। इससे उसके पाण्डित्य और पुरातत्त्व ज्ञान का भी आदर होता है, पर उतना अधिक नहीं जितना उसकी वर्णन शक्ति का।

इस सत्य को स्वीकार करते हुए 'हिन्दी साहित्य-कोश' में बताया गया है कि देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करने वाले ऐतिहासिक उपन्यास कभी भी श्रेष्ठ कोटि के नहीं माने जा सकते। कुछ ऐतिहासिक उपन्यास देश और काल की पृष्ठभूमि को लेते हुए भी इनकी सीमाओं का अतिक्रमण कर जाते हैं और स्थायी तथा सार्वभौमिक तत्त्वों की खोज करने लगते हैं, दूसरी ओर ऐसे भी ऐतिहासिक उपन्यास हैं जो मानव मनोवृत्तियों के चित्रण में देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए भी युग-जीवन के सत्य को ही उद्‌घाटित करते हैं। मुख्य बात यही है कि ऐतिहासिक उपन्यास में दृष्टिकोण चाहे जो हो किन्तु देश-काल और वातावरण का चित्रण इतिहाससम्मत और यथातथ्य हो।

वातावरण उत्पन्न करने के लिए पात्रों की भाषा भी मुख्य साधन है। डॉ० भोलानाथ इस सम्बन्ध में हमारा ध्यान इस तत्त्व की ओर आकर्षित करते हुए बताते हैं कि सामान्यतः तो सभी साहित्यिक विधाओं में पात्रों की भाषा का सहारा इस प्रकार लिया जाता है कि यदि पात्र मुसलमान हुआ तो उसके लिए हिन्दी की उस शैली का प्रयोग होता है जिसमें उर्दू में प्रयोग किये जाने वाले अरबी या फारसी के शब्दों की अधिकता होती है। यदि पात्र अंग्रेज या

अंग्रेजियत में डूबा हुआ ईसाई बनाम हिन्दू या हिन्दू बनाम ईसाई हुआ तो उसकी भाषा में हिन्दी के व्याकरण का—विशेषकर क्रियाओं और कारकों का—अशुद्ध प्रयोग करा दिया जाता है और उच्चारण भी कभी-कभी गलत करा दिया जाता है। जैसे 'त' के स्थान पर 'ट'। हिन्दू पात्र साधारणतया संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग करते हैं। प्रेमचन्द के देहाती पात्र बहुत कुछ अपनी भाषा बोलते हैं, किन्तु व्याकरण उनका भी प्रायः वही होता है जो हमारी साहित्यिक भाषा का है। प्राचीनकाल के पात्रों की भाषा प्रायः संस्कृतनिष्ठ रखी जाती है। बौद्ध युग, पौराणिक युग तथा वैदिक काल सभी युगों के पात्रों की भाषा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी रखी जाती है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। इस भाषा-शैली का उपयोग इसलिए किया जाता है कि इसकी सहायता से अभीष्ट ऐतिहासिक वातावरण उत्पन्न किया जा सके। यह भी स्वाभाविक और आवश्यक है कि शहर के सुशिक्षित और विचारशील लोगों की भाषा में और देहात के बेपढ़े-लिखे लोगों की भाषा-शैली में कर्मठ-व्यावहारिक व्यक्ति की भाषा में और आलसी दार्शनिक की भाषा में अन्तर ला दिया जाता है। वर्णन करते समय भी ऐसे शब्दों का प्रयोग होना चाहिए जो उस काल में उन वस्तुओं और क्रियाओं के लिए होते थे। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि सारी वस्तुओं और क्रियाओं के लिए वही शब्दावली प्रयुक्त की जाय, वरन् यह अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ है कि कुछ चुने हुए शब्दों के लिए प्राचीन शब्दों का प्रयोग कर दिया जाय और उनके द्वारा वातावरण उत्पन्न कर दिया जाय। इस प्रकार के शब्दों की अधिकता और वेद मंत्रों आदि के आधार पर नामों की रुचि तथा किये हुए वर्णन इन उपन्यासों की स्वाभाविकता को नष्ट कर देते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास पहले उपन्यास हैं और बाद में कुछ और, अतः उनमें औपन्यासासिकता अर्थात् रागात्मकता का स्थान प्रथम होना चाहिए। उपन्यास लोकतन्त्र का महाकाव्य है और उस दृष्टि से उसकी अपील सार्वभौमिक होनी चाहिए। इस दृष्टि से 'दिवा' (यशपाल) और 'वाणभट्ट की आत्मकथा' (डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी) उत्तम कोटि में रखे जा सकते हैं। इनमें पात्रों, अस्त्रों, दैनिक उपयोग की वस्तुओं, सजावट के साधनों आदि के नाम प्राचीन रूपों में प्रस्तुत किये गये हैं।

वातावरण के निर्माण में प्राकृतिक दृश्य, नदी, तालाब, वन, पर्वत, उद्यान आदि का सौन्दर्य और भौतिक दृश्य वर्णन यथेष्ट योगदान करता है। ये वर्णन न अत्यन्त संक्षिप्त होने चाहिए और न अति विस्तृत। ये वर्णन सामान्यतः ऐसे होने चाहिए जिनका व्यापक प्रभाव पाठकों के मन पर पड़ सके और वे अपने को थोड़ी देर के लिए उसी वातावरण में अनुभव करने लगें। इस सम्बन्ध में डॉ० श्यामसुन्दरदास का मत है कि कुछ लेखक तो बड़े

और अच्छे दृश्यों का वर्णन भी बहुत ही संक्षेप में करके छुट्टी पा जाते हैं और कुछ लेखक छोटी से छोटी बातों का भी बहुत ही विस्तारपूर्वक वर्णन करने बैठ जाते हैं। कुछ लेखक तो पर्वतों, नदियों और जंगलों की प्रातःकालीन शोभा का वर्णन दो-चार पंक्तियों में ही दे देन पर्याप्त समझते हैं और कुछ लेखकों को खिड़कियों में लगे हुए जंगलों, उनके आगे पड़े हुए परदों और उन परदों में बने बेल-बूटों तक का वर्णन किये बिना सन्तोष नहीं होता। हमारी समझ में लेखक को किसी प्राकृतिक दृश्य का वैसा ही वर्णन करना चाहिए, जैसा कि कोई अच्छा चित्रकार खींचता है।[1]

प्रकृति के सम्बन्ध में शिवनारायण श्रीवास्तव का मत है—

"भौतिक या प्राकृतिक संविधान कहानी को अधिक मार्मिकता तथा पात्रों को अधिक स्पष्टता देने एवं जगत और जीवन की विशालता का परिचय कराने के लिए किया जाता है। इस पीठिका का प्रयोग कलाकार भिन्न-भिन्न भाँति से कर सकता है। कहीं तो वह एक मनोमय चित्र दिखाने की भावना से ही प्रेरित होता है जिसका जीवन से कोई लगाव नहीं होता, कहीं किसी स्थिति विशेष को अधिक स्पष्ट करने के लिए आवश्यक आधार-तथ्य के रूप में ही वाह्य दृश्यों का विधान करता है और कहीं भावना क्षेत्र में और आगे बढ़ कर मानव रागों आदि का वाह्य प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित करता है। परन्तु उपन्यासकार को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह वाह्य चित्र उस की कला का एक अंग हो। ऐसे वर्णनों को जिनका कथा-प्रवाह के विस्तार अथवा चरित्र विकास से कोई सम्बन्ध न हो, अधिक महत्व नहीं देना चाहिए, अन्यथा वे कथा के स्वाभाविक प्रवाह को अवरुद्ध करेंगे। कुछ लेखक ऐसे होते हैं जो पात्रों की प्रत्येक भंगिमा के साथ-साथ उनके चारों ओर की वस्तुओं का विवरण उपस्थित करने लगते हैं। फल यह होता है कि ऐसे वर्णनों से कथा का प्रवाह रुक जाता है और पाठक या तो उन पर सरसरी निगाह डाल लेते हैं या उन्हें बिलकुल छोड़ देते हैं।

---

1. "The novel is the story of an experience in human life under stress of emotion. It demands interest in man as man and in woman as woman ; it demands a sense of the universality of the interest in the emotion of a single individual ; it demands a conviction that if that emotion be real and intense and true, the life is a typical life, and its portrayal matter for the concern of all mankind." ('The Evolution of the English Novel' : F. H. Stoddard, p. 90.)

"इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्णनों की योजना की ही न जाय, प्रत्युत् उचित स्थान पर उचित रीति से वर्णनों की भी अपेक्षा होती है। किसी स्थिति विशेष का सफल अंकन न हो सकने के कारण कभी-कभी भावों की पूर्ण व्यंजना नहीं हो पाती और कोई अभाव-सा खटकता रखता है। सूक्ष्म निरीक्षण के छोटे-छोटे चमत्कार द्वारा ही इतनी शीघ्रता और पूर्णता के साथ वास्तविक जीवन का भ्रम उत्पन्न कराया जा सकता है। वातावरण के सफल तथा मनोरम चित्रण का कहानी के लिए बहुत मूल्य होता है। कभी-कभी सामान्य सड़कों, गलियों तथा बरसात में टपकने वाले घरों के वर्णन से भी कहानी में विलक्षण मनोमोहकता आ जाती है।

"भौतिक या प्राकृतिक दृश्य-विधान का सबसे सुन्दर उपयोग वह है जब उपन्यासकार अपनी विशेष कला से मानव भावनाओं के साथ प्रकृति का विरोध या साम्य दिखलाता है। कभी-कभी तो उपन्यासकार विपत्ति ताण्डव के समय प्रकृति का सुन्दर-सुरम्य रूप दिखा कर मानव के हर्ष-विषाद की ओर प्रकृति की व्यंग्यात्मक उदासीनता का परिचय देता है और कभी-कभी इस के विपरीत इसके संवेदनशील रूप के दर्शन कराता है। मृत पति के शव पर क्रन्दन करती हुई विकल अनाथा के लिए आँगन में फैली हुई शुभ्र शीतल चन्द्रिका नियति का व्यंग्यात्मक हास ही तो है। ऐसे वैषम्य का भी अपना महत्व होता है और इससे कथा की मार्मिकता बहुत बढ़ जाती है। परन्तु अधिकतर कलाकार इस वैषम्य-प्रदर्शन की अपेक्षा प्रकृति का संवेदनशील रूप ही अधिक चित्रित करते हैं और यह युक्ति मानव मन से अधिक परिचित भी है। यहाँ प्रकृति उदासीन न रह कर मानव के हर्षोल्लास तथा विषाद में योग देती है। अपने अन्तिम अवलम्ब रोहित के शव को लिये हुए महारानी शैव्या के तमसाच्छादित हृदय के झंझावात के साथ श्मशान की उस भयानक रात्रि का पूरा योग है। इस वाह्य प्रलयंकर चित्रण से पाठक की विपत्ति भावना और भी तीव्र हो उठती है। प्राकृतिक भूमिका के संवेदनमय प्रयोग में प्रकृति प्रतीकात्मक होती है।

"इस प्रकार हम देखते हैं कि यह वाह्य दृश्य-विधान कई प्रकार से कहानी में विशालता, विस्तार, गांभीर्य, शक्ति तथा सौन्दर्य उपस्थित कर सकता है। परन्तु जब तक इस तत्व का समावेश सुरुचि और सुबुद्धि से प्रेरित न होगा, तब तक उसके साहित्यिक मूल्य में सन्देह ही रहेगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह वाह्य परिस्थिति का चित्रण तभी सफल हो सकता है जब वह कहानी के प्रधान उद्देश्य के अधीन और गौण हो।"

('हिन्दी-उपन्यास,' पृष्ठ ४५१-५४)

हार्डी के उपन्यासों में हमें इंगलैण्ड के सुन्दर-सुन्दर स्थल-चित्र (Land

Scape) मिलते हैं। हिन्दी के 'तितली' आदि उपन्यासों में कई स्थल विशेषों का सुन्दर और सर्वांगपूर्ण चित्र खींचा गया है। वातावरण सृष्टि में स्थान का विशेष महत्व सभी विद्वान स्वीकार करते हैं। डा० गुलाबराय ने 'काव्य के रूप' में माना है कि कुछ स्थान विशेष रूप से वीरता के उद्दीपक हैं तो कुछ भयानक के। घटनाओं के उपस्थित होने पर स्वरूप का विशेष महत्व रहता है। स्टीविन्सन ने लिखा है कि कुछ अन्धकारमय उपवन हत्या का आवाहन करते प्रतीत होते हैं, कुछ पुराने मकान भूत-प्रेतों के अस्तित्व की माँग करते हैं, और कुछ भयानक समुद्र-तट जहाजों के टकराने के लिए पहले से ही निर्धारित कर दिये गये हैं। ("Certain dark gardens cry aloud for murder, certain old houses demand to be haunted, certain coasts are set apart for shipwrecks.")

देश-काल के भेद करते हुए डॉ० प्रतापनारायण टण्डन कहते हैं कि इसके तीन भेद किये जा सकते हैं। ये भेद निम्नलिखित हो सकते हैं—

(१) सामाजिक,
(२) प्राकृतिक, और
(३) ऐतिहासिक।

सामाजिक के अन्तर्गत प्रायः सामाजिक दशा का यथार्थचित्र दिया जाता है। इसमें यह बताया जाता है कि किसी विशिष्ट समाज में कौन-कौन सी परिस्थितियाँ थीं। सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सभी वर्णन, वेश-भूषा, भाषा, रीति-रिवाज, सामाजिक वर्ग, शिक्षा, संस्कृति, व्यापार आदि इसके अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के चित्रणों में मुख्य रूप से तीन बातें ध्यान में रखना आवश्यक है—

पहली यह कि इन विभिन्न वर्णनों में उपन्यासकार अपनी उपेक्षा प्रकट न करे, अर्थात् इनके चित्रण में सूक्ष्मता प्रदर्शित करे। वह जितना सूक्ष्म दृष्टि-सम्पन्न होगा, उतनी ही गहनता से उनका विश्लेषण प्रस्तुत करने में सफल होगा।

दूसरी यह कि समाज की दशा का जो वर्णन किया जाय, वह यथार्थ हो और उसमें अस्वाभाविकता या कृत्रिमता न आने पाये।

तीसरी यह कि उपर्युक्त दोनों विशेषताओं के साथ ही उसे अपनी वर्णन-शैली में अधिक से अधिक प्रभावात्मकता लाने का प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा वे वर्णन नीरस हो जायँगे और उनमें कोई आकर्षण न रहेगा।

प्राकृतिक के अन्तर्गत कभी-कभी उपन्यासकार अपनी कथा के पात्रों के सुख-दुःख के साथ प्रकृति की समता-विषमता को बड़े नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करता है। इससे घटना की प्रभावात्मकता में वृद्धि होती है और वातावरण

की अनुकूलता भी सार्थक होती है। इस प्रकार के चित्रणों के प्रायः निम्न-लिखित दो उद्देश्य होते हैं—

पहला यह कि कथानक के प्रवाह में योग देते हुए उसमें अपेक्षाकृत अधिक मार्मिकता समावेशित करना।

दूसरा यह कि भिन्न-भिन्न पात्रों के चरित्रों की विशेषताओं को अधिक स्पष्टता प्रदान करना।

ऐतिहासिक वातावरण के सम्बन्ध में पीछे काफी बताया जा चुका है। इन वर्णनों में विशेष रूप से दोषों को बचाना चाहिए। इस सम्बन्ध में मुख्यतः तीन प्रकार के दोष हो सकते हैं—

(१) भाषा-विषयक,
(२) वस्तु-विषयक, और
(३) विचार-विषयक।

भाषा-विषयक भूलों के होने पर ऐतिहासिक उपन्यास द्वारा उत्पन्न प्रभाव बहुत ही कम होता है और कभी-कभी नष्ट हो जाता है। 'सोमनाथ' में आधुनिक अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिन शब्दों का प्रचलन उस समय में सम्भवतः नहीं होता था, इससे प्रभविष्णुता को ठेस पहुँचती है।

वस्तु-विषयक त्रुटियाँ होने पर पाठक उपन्यासकार के कथन पर अविश्वास करने लगता है। उपन्यासकार अपनी सारी शक्ति लगाकर जिस माहौल को पैदा करता है, एक सामान्य सी भूल भी उन्हें अविश्वास से भरने के लिए पर्याप्त है। कोई बालक अपने माँ-बाप को कसमें खा-खाकर अपने सिनेमा देखने न जाने का विश्वास दिलाना चाहे और ऐसी भाव मुद्राएँ और क्रियाएँ करे जिससे वे आश्वस्त हो जायँ और तभी उसकी जेब से पिछली रात के सिनेमा टिकट निकल पड़ें तो जो मनोदशा उन अभिभावकों की होती है, वही हाल अविश्वसनीय कथावस्तु वाले उपन्यासों के पाठकों की होती है। उदाहरण 'आग औसानी' उपन्यास है। इस उपन्यास में शतरंज खेलना, टेलीफून द्वारा सूचना मिलना और पुलिस द्वारा हथकड़ियों आदि का प्रयोग भारी भूलें हैं जिन्हें कोई पाठक क्षमा नहीं कर सकता और इन भूलों के पश्चात् प्रभविष्णुता नहीं रह सकती।

विचार-विषयक भूलें वहाँ होती हैं जहाँ उपन्यासकार सुधारवादी मनोवृत्ति को उपन्यास पर लादना चाहता है और इस लादने में औचित्य का ध्यान नहीं रखता। नये विचारों को ऐतिहासिक उपन्यास में प्रस्तुत करते समय यदि दूध-पानी की तरह उन्हें मिला दिया तो ठीक रहता है, अन्यथा वे अलग बने रहते हैं और दूर से ही चिल्ला-चिल्ला कर अपने अनौचित्य की दुहाई देते रहते हैं। नवीन को पुरातन वस्त्रों में ढँक कर रखने की कला में प्रसाद और वृन्दावन

लाल वर्मा ने राष्ट्रीयता के वर्तमान तत्व को अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में पृष्ठभूमि के अनुरूप परिवर्तित कर प्रस्तुत किया है। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के 'आचार्य विष्णुगुप्त' में भी आज के अनेक प्रश्न प्राचीन और ऐतिहासिक परिवेश में प्रस्तुत किये गये हैं। जिन उपन्यासों में आज की विचारधारा को प्रचारार्थ बिना औचित्य का ध्यान रखे प्रस्तुत कर दिया गया है उनमें 'जययौधेय', 'सिंह सेनापति' तथा 'मधुर-स्वप्न' आदि प्रमुख हैं। 'दिव्या' जैसे उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यास भी हैं जिनमें ऐसी सामान्य और भौंड़ी भूलें नहीं हैं। 'वैशाली की नगरवधू' में भी इस प्रकार का अनौचित्य दृष्टिगोचर नहीं होता है। डॉ० गुलाबराय भी काल और स्थल दोषों की तीव्र भर्त्सना करते हुए बताते हैं कि जो वस्तु जहाँ की उपज नहीं है उसका वहाँ दिखाना अथवा जो प्रथा जिस काल में प्रचलित न थी उसका उस काल में चित्रित करना, भारतीय समीक्षा शास्त्र में क्रमशः देश और काल विरुद्ध दूषण माने गये हैं। आगरा की सड़कों पर देवदार के वृक्षों को दिखाना अथवा शिमला में लू चलने का वर्णन करना देश-विरुद्ध दूषण होगा और अकबर के समय में उनके किसी मुसाहिब को टाई सँभालते हुए दिखाना काल-विरुद्ध दूषण होगा। हिन्दी उपन्यासकार अब इन सामान्य भूलों का ध्यान रखने लगे हैं।

भाषा तथा शैली-शिल्प

आधुनिक काल में शैली को अंग्रेजी के 'style' का पर्याय माना जाता है और कुछ विद्वान इस शब्द का आगम अँग्रेजी से स्वीकार करते हैं किन्तु संस्कृत में शैली का इतना व्यापक और विस्तृत विवेचन मिलता है कि अँग्रेजी आदि भाषाएँ उसकी ऊँचाई और गहराई को छू भी नहीं पाती हैं। संस्कृत के आचार्य वामन ने काव्यालंकार सूत्र में 'रीति' का विवेचन करते हुए उसे 'विशिष्ट पद-रचना' कहा है और इसका अभिप्राय गुणयुक्त पद-रचना से है। आचार्य वामन रीति को काव्यात्मा कहते हैं। उनकी मान्यता है कि रीति के तीन मुख्य भेद हैं—

(१) वैदर्भी,
(२) गौड़ी तथा
(३) पांचाली।

वैदर्भी रीति में ओज, प्रसाद आदि सभी गुणों का समावेश माना गया है। ओज और कान्ति को गौड़ी रीति के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है और पांचाली रीति में मधुरता तथा सुकुमारता आदि गुणों को स्वीकृति दी गई है। वैदर्भी रीति को ही ग्राह्य और सर्वगुणसम्पन्न माना गया है।

शैली की अनेक परिभाषाओं में से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) "किसी वर्णनीय विषय के स्वरूप को खड़ा करने के लिए उपयुक्त शब्दों का चुनाव और उनकी योजना को शैली कहते हैं।" (काव्यदर्पणकार)

(२) "जब विचार को तात्त्विक रूप का आकार दे दिया जाता है तो शैली का उदय होता है।" (प्लेटो)

(३) "शैली का अस्तित्व इसमें निहित है कि दिये हुए विचार के साथ उन सब परिस्थितियों को जोड़ दिया जाय जो कि उस विचार के अभिमत प्रभाव को सम्पूर्णता में उत्पन्न करने वाली हैं।" (स्तान्थाल)

(४) "प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति ही शैली का अथ या इति है।" (बर्नार्ड शॉ)

(५) "लिखने की पद्धति या प्रणाली को शैली कहते हैं।"
(कहानी दर्शनकार)

(६) "Style is the man himself." (Buffon)

(७) "काव्य में शैली का बड़ा स्थान है जो मनुष्य में उसकी आकृति और वेश-भूषा का है।" (डा० गुलाबराय)

(८) "अब हम शैली का विवेचन करते हैं क्योंकि केवल वर्ण्य विषय पर अधिकार होना पर्याप्त नहीं, किन्तु यह आवश्यक है कि हम उसको उचित रीति से प्रस्तुत करें; और इससे वाणी में वैशिष्ट्य (चमत्कार) का समावेश होता है।" (अरस्तू)

अरस्तू की मान्यतानुसार शैली के दो गुण सिद्ध हैं—

(१) स्पष्टता (प्रसाद) और

(२) औचित्य।

स्पष्टता—"इस गुण की सम्भावना ऐसी संज्ञाओं और क्रियाओं पर निर्भर है जिनका प्रयोग सामान्यतः होता रहता है।" (भाषण शास्त्र)

शैली की स्पष्टता का आधार अरस्तू के अनुसार निम्न गुणों में माना जाता है—

(१) पढ़ने और समझने में सौन्दर्य।

(२) यति, विराम आदि की असंदिग्ध स्थिति तथा अनावश्यक पर्यायोक्तियों का अभाव।

(३) मिश्र तथा द्विअर्थक अभिव्यंजना का अभाव।

(४) अवान्तर वाक्यखण्डों का अनधिक प्रयोग।

औचित्य—"सामान्य प्रयोगों से भिन्नता भाषा को गरिमा प्रदान करती है, क्योंकि शैली में भी मनुष्य उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार विदेशियों अथवा नागरिकों से। इसलिए आप अपनी पद-रचना को विदेशी

रंग दीजिए, क्योंकि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है और जो प्रशंसा का विषय है वह प्रसन्नता का भी विषय होता है।"

निम्नलिखित तत्त्व शैली को गरिमा प्रदान करते हैं—

"नाम के स्थान पर लक्षण का प्रयोग। यदि विषय-वर्णन में किसी प्रकार का संकोच हो तो लक्षण में संकोच का कारण होने पर नाम का प्रयोग, और नाम के संकोचजनक होने पर लक्षण का प्रयोग, अलंकार (रूपक) तथा विशेषण का प्रयोग, एकवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग।"

उनकी दृष्टि में औचित्य का नियन्त्रण अनिवार्य है—

"किन्तु (गद्य के क्षेत्र में भी काव्य की भाँति) सुरुचि का सिद्धान्त यही है कि विषय के अनुकूल ही भाषा-शैली का स्तर नीचा या ऊँचा रहना चाहिए। इसलिए हमारा यह (विदेशी रंग देने का) प्रयत्न लक्षित नहीं होना चाहिए, यह आभास नहीं मिलना चाहिए कि हम सचेष्ट होकर वाणी का प्रयोग कर रहे हैं, वरन् यही प्रतीत होना चाहिए कि हमारी वाणी अथवा शैली सर्वथा स्वाभाविक है।"

"दूसरा गुण है औचित्य। शैली में इस गुण का समावेश उस समय मानना चाहिए जब वह (वक्ता के) भाव तथा व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करे और विषयवस्तु के अनुकूल हो।"

शैली के दोष—अरस्तू शैली के चार दोष मानते हैं—

(१) समासों का अधिक प्रयोग,
(२) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग,
(३) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग, तथा
(४) दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग।[१]

काव्यदर्पणकार (पं० रामदहिन मिश्र) के अनुसार शैली के चार भेद होते हैं—

(१) ओजस्विता
(२) सजीवता,
(३) प्रौढ़ता, और
(४) प्रभावशीलता।

सुन्दर शैली के तीन उपादान माने जाते हैं—

(१) शब्दों का सुसंचय और सुप्रयोग,
(२) वाक्य-विन्यास, और
(३) भाव-प्रकाशन का ढंग।

---

१. अरस्तू का 'काव्य शास्त्र', पृष्ठ १४८-४९।

शब्दों का सुसंचय और सुप्रयोग—इसके लिए आवश्यक है कि शब्दों की यथार्थता का, शब्दों की भावपोषकता का, शब्दों की अनेकार्थता का, शब्द मैत्री का और अर्थविशेष में शब्दों के प्रयोग का लेखक को सम्यक् ज्ञान हो।

वाक्य-विन्यास—शैली का आधार वाक्य-रचना है, क्योंकि वही हमारे विचारों और भावों को व्यक्त करती है। इससे वाक्य-विन्यास का शुद्ध, रोचक संयत, चमत्कारक और प्रभावोत्पादक होना आवश्यक है।

भाव-प्रकाशन का ढंग—रचना में वाक्य-विन्यास का ऐसा ढंग होना चाहिए, जिसमें हमारा मनोगत भाव सरलता, स्पष्टता और सजीवता के साथ व्यक्त हो। इसके लिए अनावश्यक जटिल, संदिग्ध और मिश्र वाक्य वर्जनीय है। इसके लिए कोई सर्वमान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। इसकी सफलता तो कलाकार की कुशलना पर निर्भर है।

वाक्य-रचना में स्पष्टता, एकता अर्थात् मुख्य वाक्यों और अवान्तर वाक्यों का सामंजस्य, ओजस्विता अर्थात् सजीवता लाने वाली शक्ति, धारा-वाहिकता अर्थात् भाषा का अविच्छिन्न प्रवाह, लालित्य अर्थात् रोचकता, सुन्दरता और व्यंजकता अर्थात् मर्मबोधक शक्ति हो तो वह रचना उत्तम कोटि की समझी जाती है।

डा० श्यामसुन्दरदास शैली की परिभाषा बताते हुए कहते हैं—

"भाव, विचार और कल्पना तो इसमें नैसर्गिक अवस्था में वर्तमान रहती हैं। और साथ ही उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी इसमें रहती है। अब यदि उस शक्ति को बढ़ाकर संस्कृत और उन्नत करके हम उसका उपयोग कर सकें तो उन भावों, विचारों और कल्पनाओं के द्वारा हम संसार के ज्ञानभण्डार की वृद्धि करके उसका बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं। इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं।"

उनके अनुसार शैली का मूल आधार भाषा है और भाषा का आधार शब्द है। लेखकों को अपनी शैली की देखरेख के लिए शब्दों पर ध्यान देना चाहिए, शब्दों को ही साहित्य का आधार मानना चाहिए और इस आधार के भण्डार को आधिकाधिक समृद्ध और शक्तिसम्पन्न बनाते रहना चाहिए।

उपन्यास का उद्देश्य जीवन के एक व्यापक अंश का चित्रण होता है। इस चित्रण में कृत्रिमता नहीं होती—और यदि प्रतीत होती है तो उसी मात्रा में उपन्यास की स्वाभाविकता कम हो जाती है। उपन्यास की भाषा में कथा-वस्तु के अनुरूप प्रवाह होना चाहिए, जिसके सहारे-सहारे तिरता हुआ पाठक अन्त तक सुगमता से पहुँच जाय। उसमें कहानी की सी क्षिप्रता और एको-द्देश्यता नहीं होती—पहाड़ी नदी का सा बहाव न होकर मैदानी नदी का मन्द प्रवाह होता है। अवसर मिलने पर वह इधर-उधर करवट लेने और किनारे

के रम्य दृश्यों की ओर दृष्टिपात करने का अवसर पा जाता है। वह रेलगाड़ी नहीं है जिसमें एक स्टेशन से सवार होने पर अगले स्टेशन पर ही उतरना सम्भव हो, वह तो एक बैलगाड़ी के समान है, जिसे जहाँ इच्छा हो वहीं रोका जा सकता है और यह मानकर सवार उसमें चढ़ता है कि धीरे-धीरे चलकर यथेष्ट काल में गन्तव्य स्थान पर पहुँचा जा सकेगा।

उपन्यास की भाषा में कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जो उसे जीवन की गम्भीरता के अनुरूप बनाते हैं। उपन्यास की भाषा में न कहानी की सी क्षिप्रता और त्वरित गति होती है और न निबन्ध की सी शिथिलता; न कविता की सी भंगिमा और रसमग्नता होती है और न नाटक की सी वार्त्तालाप शैली; उपन्यास में ये सभी गुण समन्वित होकर रहते हैं। उसमें जहाँ भावुकतापूर्ण शैली के लिए स्थान है वहाँ वह गद्यकाव्य के निकट पहुँच जाती है और जहाँ वर्णनात्मकता की प्रधानता होती है वहाँ वह केवल नीरस घटनाओं की सूची मात्र प्रतीत होने लगती है। यदि कोई उपन्यासकार किसी राजनीतिक, दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक वाद से विशेष प्रभावित हो तो वह जब परिस्थति पैदा करके उन वादों का विश्लेषण करने लगता है तब वह स्थल शास्त्र शैली का अच्छा उदाहरण बन जाता है।

उपन्यास में प्रमुखता कथा की होती है और उपन्यास की सरसता तथा रोचकता का यथेष्ट श्रेय उसकी भाषा शैली को है। साहित्य में भावों और विचारों की मौलिकता मिलनी तो अत्यन्त कठिन है, अभिव्यक्ति की मौलिकता को ही आजकल मौलिकता माना जाता है। अभिव्यक्ति की मौलिकता केवल भाषा-शैली की मौलिकता ही है। शैली की दृष्टि से ही आज अनेक नवीन उपन्यासों में नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं। प्रयोगवाद को आजकल और छायावाद को पूर्वकाल में केवल शैली मात्र माना जाता था। कुछ उपन्यास केवल उनकी नवीन शैली के कारण ही प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच गये हैं। उग्रजी के उपन्यासों में विषय और कथा नवीन नहीं होती, किन्तु शैली इतनी सजीव और प्रवाहपूर्ण होती है कि उपन्यास बोल उठता है और शैली की शक्ति पाकर अन्य कमजोरियाँ मानो शक्ति रूप में बदल जाती हैं। प्रसाद, प्रेमचन्द, टॉलसटॉय, मोपासाँ तथा डिकिन्स आदि सभी के उपन्यासों में शैली ही सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। शेक्सपियर के नाटक यदि अन्य शैली में लिखे जाते और उनकी भाषा इतनी सशक्त और प्राणयुक्त न होती तो सम्भवतः वह नाटक-सम्राट् न कहलाता।

उपन्यासों में सर्वत्र एक ही शैली नहीं प्रयुक्त की जा सकती। लेखक आवश्यकतानुसार अपनी शैली को बदल लेता है। जब जहाँ जैसी आवश्यकता समझता है, वहाँ वैसी ही शैली का प्रयोग करता है। सामान्यतः उपन्यासों में

सरल, प्रवाहमयी और मुहावरेदार भाषा अच्छी समझी जाती है। रूढ़ लक्षण मुहावरे बन जाते हैं। जो भाव बड़े-बड़े वाक्य व्यक्त नहीं कर पाते, उसी भाव को एक मुहावरा या लोकोक्ति व्यक्त कर देती है, अतः लोकोक्तियों और मुहावरों को भाषा का प्राण कहा गया है। भाषा की लाक्षणिकता एक बड़ी शक्ति मानी जाती है। आंचलिक उपन्यासों में भाषा की दृष्टि से विशेष प्रयोग किये जाते हैं। उपन्यासकार अंचल-विशेष की परिस्थिति और वातावरण उत्पन्न करने के लिए वहीं की भाषा और मुहावरे आदि का प्रयोग करता है। इनके अतिशय प्रयोग से कभी-कभी इतनी दुरूहता और अस्वाभाविकता उत्पन्न हो जाती है कि उपन्यास सामान्य लोगों की रुचि के विपरीत जा पड़ता है। उदाहरणार्थ 'रेणु' के 'परती परिकथा' को लिया जा सकता है। आंचलिकता की दृष्टि से भाषा का सुन्दर और सफल प्रयोग 'सागर, लहरें और मनुष्य' (उदयशंकर भट्ट) को माना जा सकता है। अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में अनेक भाषा शैलियाँ और पद्धतियाँ सफलता के साथ एकत्रित की गई हैं। अमृतलालजी को शैली-मास्टर कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रायः चार प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाता है—

(१) स्थिर,
(२) गतिशील,
(३) अलंकृत और
(४) काव्यात्मक।

स्थिर भाषा में काव्यों का सामान्य प्रयोग किया जाता है। उसमें गति और उछलकूद नहीं होती। इस शैली में न मुहावरे होते हैं और न अलंकारों का प्रयोग ही किया जाता है। इस शैली में भाषा सामान्य अभिधा शक्ति के सहारे चलती चली जाती है।

गतिशील भाषा में स्थिर भाषा के विपरीत गुण मिलते हैं। इसमें गत्यात्मकता की अधिकता रहती है। भाषा उछलती, कूदती, नाचती और पढ़ने वालों का मन मुग्ध करती हुई आगे बढ़ती चली जाती है। इसमें लोकोक्तियों और मुहावरों का सुन्दर प्रयोग रहता है। प्रेमचन्द की भाषा इसी कोटि में आती है। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में डा० रांगेय राघव, चतुर सेन शास्त्री और धर्मेन्द्र आदि की भाषा इसी कोटि की है। डा० वृन्दावन लाल वर्मा ने भी इस भाषा के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। 'वैशाली की नगरवधू' में इसके अनेक उदाहरण भरे हैं। 'तैमूर' से एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा—

"उसके रग-रग में जीवन है। उसके कण-कण में मादकता है। उसकी भ्रू

में संसार का चातुर्य और उसके होठों पर ऊषा की लालिमा। उसके कपोल फूल से भी अधिक सुकुमार और कोमल जान पड़ते हैं। जब चलती है मानो मस्ती चल रही हो।"

अलंकृत भाषा में गतिशील भाषा की गत्यात्मकता कम हो जाती है, उसमें गाम्भीर्य आ जाता है तो शैली उसके अंगों को बोझिल और भाराक्रान्त बना देती है। गतिशील भाषा यदि अज्ञात यौवना है तो अलंकृत भाषा अनेक गहनों से लदी हुई मध्या नायिका है। इस भाषा शैली का सबसे सुन्दर और उपयुक्त उदाहरण डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'वाणभट्ट की आत्मकथा' है। इसका एक स्थल देखिए—

"वह संध्या समय की लाल सूर्य किरणों द्वारा आच्छादित नीलकमल की वनस्थली की भाँति अधिक रमणीय हो गई थी। धवल वर्ण ज्योत्स्ना एक ओर वृक्ष वाटिका की घन चिक्कन नीलिमा को उज्ज्वलित कर रही थी और दूसरी ओर इस द्वार रक्षिणी के कान में के दन्तपत्र उसके चिक्कन कपोल मण्डल को उद्भासित कर रहे थे। उसके पैरों से लगा हुआ घन अलक्तक रस (महावर) दूर ही से दिख रहा था।"

काव्यात्मक भाषा में भावों की अधिकता और विचार सूत्र की नितान्त सूक्ष्मता होती है। उस भाषा-शैली में भाव उभर कर विचारों को दबा लेते हैं। इन स्थलों के पढ़ने में गद्यकाव्य का सा आनन्द आता है। गद्यकाव्य और उन भावात्मक उपन्यास अंशों में अन्तर यह होता है कि गद्यकाव्य में तो असम्बद्ध चित्र आते हैं और इसमें सारे भाव किसी घटना या पात्र से जुड़े रहते हैं—एक सूक्ष्म कथासूत्र उसके बीचोंबीच अनुस्यूत रहता है। इस गद्य-शैली में दूसरा सम्बन्ध लक्षण और व्यंजना से जुड़ जाता है—अभिधा बहुत पीछे छूट जाती है। डा० रांगेय राघव उपन्यास-शैली के कुशल कलाकार हैं। उदाहरण देखिए—

"शीतल समीर अब गूँजने लगा है। हृदय की आग को बार-बार झोंके लगते हैं……………पेड़ और शाखाएँ चाँदी में चमकने लगे हैं। पीपल के पातों पर जब चाँदनी फिसलने लगती है तब दूर से वह हीरों की भाँति चमकने लगते हैं।" ('मुर्दों का टीला')

शैली के प्रकारों के अन्तर्गत उपन्यास लिखने की प्रणाली भी आती है। उपन्यास अनेक शैलियों में लिखे जाते हैं। इनमें से मुख्य शैलियाँ निम्न हैं—

(१) वर्णनात्मक,
(२) आत्मकथात्मक,
(३) पत्रात्मक,

(४) डायरी शैली, तथा

(५) मिश्रित शैली ।

हिन्दी में ही नहीं, विश्व की सभी भाषाओं में अधिकांश उपन्यास वर्णनात्मक शैली में लिखे गये हैं और लिखे जाते हैं। कथा और पात्रों का वर्णन उपन्यासकार तृतीय पुरुष के रूप में करता है। इस शैली को ऐतिहासिक शैली भी कहा जाता है, उसका यह नाम इसलिए हो गया है कि जिस प्रकार इतिहास लिखा जाता है उसी प्रकार इस शैली के उपन्यास लिखे जाते हैं, इस शैली को ऐतिहासिक की अपेक्षा वर्णनात्मक कहना ही अधिक समीचीन है। क्योंकि इसमें वर्णनात्मकता ही प्रधान होती है, सर्वत्र इतिहास शैली की रक्षा नहीं की जाती। इस शैली का क्षेत्र यथेष्ठ व्यापक है। इस शैली के अन्तर्गत भूत और वर्तमान दोनों काल आ जाते हैं। कभी ऐतिहासिकतापूर्ण स्थल आ जाते हैं और कभी वार्त्तालाप शैली चल पड़ती है। घटना, विचार, पात्रों के मनोविज्ञान आदि सभी का यथेष्ठ वर्णन और विश्लेषण इस शैली में हो सकता है।

इस शैली का प्रयोग संस्कृत की कथाओं में भी किया गया है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय तथा भारतेतर भाषाओं में कथा-साहित्य अधिकांशतः इसी शैली में लिखा गया है। प्रत्येक कथा भूतकाल से सम्बन्धित होती है। यह दूसरी बात है कि भूतकाल की कथा को भी वर्तमान काल के माध्यम से वर्णित किया हो। फिर भूतकाल के वर्णन के लिए ऐतिहासिक शैली ही सबसे उपयुक्त होती है। शैलियों के भेदों की गहराई में उतरकर विचार करें तो हमें लगता है कि शेष सारी शैलियाँ भी इसी शैली के भेद हैं। ऐसी मान्यता कुछ विद्वानों की भी है किन्तु इसे उचित नहीं माना जा सकता। इस तर्क पर जोर देने वाले कहते हैं कि कोई कथा किसी शैली में कही गई हो, यदि उसे कोई अपनी भाषा में कहे या लिखे तो वह ऐतिहासिक शैली पर उतर आयेगा। यह तर्क ऊपर से अच्छा लगता है किन्तु भीतर से खोखला है। इस तर्क का उत्तर यह कह कर दिया जा सकता है कि चाहे जिस कथा में से हम अपने को एक पात्र मानकर उसे कहने बैठें तो शैली आत्मकथात्मक हो जायेगी। इसी प्रकार अन्य शैलियों के पक्ष में भी तर्क दिया जा सकता है। शैली तो कथन की पद्धति है—बात जिस प्रकार आप कहेंगे वही शैली मानी जायेगी, उसका सम्बन्ध विषय से उतना नहीं है जितना कि इस बात से कि वह विषय किस प्रकार और कैसे कहा गया।

इस शैली में कथाकार कथा को सर्वज्ञ के समान देखकर कहता रहता है। उसकी दृष्टि के सामने से सारी कथा गुजरती सी लगती है और वह उसका तटस्थ दृष्टा रहता है। सारी घटनाएँ उसे ज्ञात रहती हैं और सभी पात्रों के हृदयों में क्या भाव उठते-मिटते रहते हैं, इसका रहस्य भी वह भलीभाँति

जानता है। आत्महत्या करने वाले पात्र के मन में आत्महत्या से पहले क्या भाव उत्पन्न हुए थे, उनका वर्णन करना भी उसकी सीमा के अन्तर्गत माना जाता है। यद्यपि इस शैली के पाठक को जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि पात्र मर गया तो लेखक को यह ज्ञान किस प्रकार हुआ कि मृत्यु से पूर्व उसके मन में यह भाव उठे थे, जबकि मृत्यु होने तक किसी से उसकी भेंट हुई ही नहीं।

मेरे एक मित्र ने जब टॉल्स्टॉय का 'अन्ना केरेनिना' पढ़ा तो उन्हें इसी प्रकार की शंका ने आ घेरा और कई विद्वानों के सामने उन्होंने अपनी यह शंका प्रस्तुत की और बताने वालों ने अनेक प्रकार से उसका समाधान किया।

इस शैली की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जो अन्य किसी शैली में नहीं मिलतीं, इसलिए अधिकांश उपन्यास इसी शैली में लिखे जाते हैं। इस शैली में उपन्यास लिखने वाला उपन्यासकार कभी परोक्ष और कभी प्रत्यक्ष होकर सारी घटना का वर्णन करता चलता है। वह किसी पात्र विशेष के साथ बँधता नहीं, भाषा सम्बन्धी स्वच्छन्दता उसे रहती है, जैसा और जिस प्रकार का पात्र वह देखता है, उससे उसी के अनुरूप भाषा बुलवाने में उसे पूरी-पूरी आजादी रहती है। जहाँ पात्र वार्त्तालाप नहीं करते, वहाँ वह आवश्यकतानुसार सरल भावात्मक या अलंकृत भाषा का प्रयोग कर सकता है। कहीं घटनाओं का आँखों देखा हाल कहलवाता है और कहीं हृदय के गुप्त से गुप्त रहस्यों का उद्‌घाटन करने में समर्थ होता है। जासूसी और अन्य घटना-प्रधान उपन्यासों में जिस घटना का ज्ञान किसी को नहीं होता, इस शैली का कथाकार उसके गुह्यतम रहस्यों से भी परिचित रहता है और आवश्यकतानुसार अपने पाठकों को भी उससे परिचित करता रहता है।

यदि इस शैली की अन्य शैलियों से तुलना करें, तब भी यही प्रतीत होता है कि यह शैली सभी शैलियों की विशेषताओं को न्यूनाधिक मात्रा में अपना लेती है, किन्तु उन शैलियों के दोषों से बची रहती है। आत्मकथात्मक शैली का सबसे बड़ा दुर्गुण यह है कि सारी कथा एक पात्र को आधार बनाकर उसी के मुख द्वारा कहलाई जाती है। जो पात्र और घटनाएँ उसे अज्ञात होते हैं, उनके वर्णन इस शैली में लिखे गये उपन्यासों में नहीं आ पाते हैं। उपन्यास की सारी घटनाओं और पात्रों को एक पात्र-विशेष के दृष्टिकोण से देखने पर उसमें एकरसता, नीरसता, उथलापन और एकांगिता आ जाती है। इन सारे दोषों का परिहार ऐतिहासिक शैली में हो जाता है।

पत्रात्मक शैली में सारी कहानी कुछ पात्रों द्वारा बताई जाती है, जिसमें भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण तो मिल सकते हैं, किन्तु कथा की एकसूत्रात्मकता की

रक्षा सम्भव नहीं है। कथा का कोई सूत्र नहीं चलता जिसमें आगे की सारी घटनाएँ क्रमबद्ध रूप से चलती रहें। विभिन्न पात्रों द्वारा एक ही घटना पर अलग-अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत होने से जिज्ञासा वृत्ति मर-सी जाती है और उपन्यास के मुख्य तत्त्व 'कहानी' का समुचित विकास नहीं हो पाता। पत्रात्मक शैली में भाषा पत्र लिखने वाले की रहती है न कि पत्रों और परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित होने वाली। इससे उसमें स्वाभाविकता का नितान्त अभाव हो जाता है। पत्रात्मक शैली की ये त्रुटियाँ ऐतिहासिक शैली में इसलिए नहीं आ पातीं कि उसमें इतनी सीमा, रूढ़ि का बन्धन अथवा स्वीकृत परम्परानुसार बँधकर चलने का आग्रह नहीं रहता।

डायरी शैली में यद्यपि डायरी लिखने वाला इतना बन्धन युक्त नहीं होता, जितना कि पत्र-लेखक, किन्तु डायरी में वे सीमाएँ तो आ ही जाती हैं जो एक व्यक्ति की अनुभूतियों और संस्कारों से बँधी रहती हैं।

हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि मिश्र शैली ऐतिहासिक शैली से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि ऐतिहासिक शैली में ऐतिहासिकता की रक्षा का बन्धन तो उपन्यासकार के सामने रहता ही है। मिश्र शैली में सभी शैलियाँ का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जाता है और उसमें शैली के आग्रह की अपेक्षा अभिव्यक्ति पक्ष पर अधिक बल रहता है। उपन्यासकार के सामने मुख्य प्रश्न कथ्य का होता है—कथन का नहीं। कथ्य को पाठकों के सामने सुन्दर से सुन्दर ढंग से रखने के लिए उसे जिस शैली की आवश्यकता अनुभव होती है, उसी शैली को वह अपना लेता है। शैली तो साधन है न कि साध्य, जब शैली साध्य बन जाती है तभी कला का ह्रास होता है। अत: उपन्यासकार को शैली की अपेक्षा कथ्य पर विशेष जोर देना चाहिए।

भाषा के अतिरिक्त कथानक की दृष्टि से भी ऐतिहासिक शैली अधिक सहज और सुगम सिद्ध होती है। ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए तो एकमात्र यह शैली है ही, किन्तु अन्य प्रकार के उपन्यासों की कथा इसी शैली के माध्यम से कथाकार के मन में प्रस्फुटित होती है। कथाकार अपने उपन्यास की कहानी को साकार रूप देने के लिए पात्रों की कल्पना (संयोजन) करता है। ये पात्र लेखक से जितने ही अलग रह सकते हैं अथवा लेखक इन पात्रों को जितना ही अपने से दूर रख सकता है, उतनी ही शक्तिशाली उसकी अभिव्यक्ति (कला) होगी। इस अलगाव (डिटेचमेंट) के लिए यह आवश्यक है कि लेखक ऐतिहासिक शैली का अनुगमन करे। पत्रात्मक, डायरी और आत्मकथात्मक शैलियों में इतना अलगाव निभाना उतना आसान और स्वाभाविक नहीं होता जितना कि ऐतिहासिक शैली में हो सकता है।

कुछ घटनाएँ और परिस्थितियाँ ऐसी भी आ जाती हैं, जिन्हें

ऐतिहासिक के अतिरिक्त अन्य शैलियों में दिखाया जाना सम्भव और स्वाभाविक नहीं होता । कथा किसी न किसी रूप में अपने भूतकाल से सम्बन्ध रखती है और भूतकाल में लेखक अपने को मृत्यु के मुख में प्रयाण करने वाले के रूप में नहीं दिखा सकता । इस प्रकार आत्मकथा शैली में नायक या कथा कहने वाले पात्र की मृत्यु दिखाया जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि वह भूतकाल में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया है तो फिर यह कथा कौन कह रहा है, और किस प्रकार कह रहा है, आदि भारी कठिनाइयाँ भी उपस्थिति होती हैं । डायरी शैली और पत्रात्मक शैली (यदि उपन्यास को एक ही पत्र में लिखा जाय) में कथा कहने पर भी यही आपत्तियाँ आड़े आती हैं।

ऐतिहासिक शैली की परीक्षा करते समय उसमें सम्भावित चरित्र विकास को भी देखना चाहिए । चरित्र विकास जितना सहजता और निष्पक्षता से ऐतिहासिक शैली में हो सकता है, उतना अन्य किसी शैली में सम्भव नहीं है । उसका स्पष्ट कारण यही है कि ऐतिहासिक शैली का कलाकार सभी पात्रों के मन में सरलता से प्रवेश पा जाता है और जब जहाँ अवसर पाता है, उसका वर्णन कर देता है । दूसरी पद्धतियों में कलाकार जिस पात्र के साथ अपने को जोड़ता है, यह आवश्यक नहीं कि वह सबके मन में प्रविष्ट होकर उनकी रहस्यात्मक अनुभूतियों से परिचित होने का अवसर पा ही जाय । यह अवसर यदि उसे एक-दो पात्र के सम्बन्ध में मिल भी गया तो यह आवश्यक नहीं कि सभी पात्रों के सम्बन्ध में मिल जायगा । चरित्र-चित्रण का विकास घटनाओं के उतार-चढ़ाव, किसी पात्र द्वारा दूसरे के सम्बन्ध में टिप्पणी देने तथा जगत और जीवन के प्रति उस पात्र के स्वयं के विचारों और क्रियाओं आदि द्वारा दिखाया जाता है । इस विकास को दिखाने के लिए जितनी स्वच्छन्दता और अधिक अवसरों की उपलब्धि ऐतिहासिक शैली में होती है, उतनी अन्य शैलियों में नहीं होती । उपन्यास में पात्रों की सीमा पहले से निर्धारित नहीं की जा सकती । कहीं-कहीं दो-चार पात्रों से काम चल जाता है और कहीं-कहीं दर्जनों पात्र आकर हमारे मन को घेर लेते हैं । पत्रात्मक शैली, डायरी शैली और आत्मकथात्मक शैली में एक पात्र विशेष का दृष्टिकोण प्रमुखता पाता है और वही उभर कर पाठकों के मन पर छाने का प्रयत्न करता है । वही पात्र सभी अन्य पात्रों की अपने विचारानुसार आलोचना करता और उनके सम्बन्ध में पाठकों को दृष्टि प्रदान करता है । यह तो सच है कि सभी पद्धतियों में पाठक देख उतना ही पाता है और देखता वही है जो उसन्यासकार दिखाता है, किन्तु सर्वज्ञ उपन्यासकार की दृष्टि अपनी कहानी कहने वाले किसी अपने मित्र, सम्बन्धी आदि को पत्र लिखने वाले या डायरी लिखने वाले से अधिक व्यापक होती है, क्योंकि पत्र, डायरी और आत्मकथा वाली शैली में यह मान कर चला

जाता है कि इन शैलियों की स्वाभाविकता की रक्षा होनी चाहिए और इन शैलियों में वही बातें लिखनी चाहिए जो लिखी जाती हैं। डायरी स्वयं अपनी स्मृति की सहायता के लिए लिखी जाती है, उसे लिखते समय लेखक यह नहीं सोच पाता कि कौन बात और लिखनी चाहिए या कौन-सी बात ऐसी छूट गई है जिसका मेरी दृष्टि में तो कोई विशेष मूल्य नहीं है, किन्तु पाठकों को उसे जाने बिना चैन नहीं पड़गा। यदि लेखक अनुभवी और चरित्रोद्घाटन की गहनता से परिचित रहा तो ऐसा भले ही न हो, किन्तु यह तो निर्विवाद है कि उसे अपने शैली-मोह के कारण उसकी अनुकूलता पाने वाले पात्रों को प्रमुखता देनी पड़ेगी।

इन सभी शैलियों में कलाकार किसी न किसी पात्र के साथ अपने को जोड़ लेता है और इसका परिमाण यह निकलता है कि अन्य पात्रों का वैसा स्वच्छन्द और सम्पूर्ण विकास नहीं हो पाता, जैसा कि होना चाहिए। दूसरी बात यह होती है कि सदैव अतिरंजित दृष्टिकोण और पक्षपातपूर्ण निर्णय ही पाठकों तक पहुँचते हैं। इससे पाठकों को निष्पक्ष निर्णय लेने में भारी कठिनाई पड़ती है।

उपन्यास लेखक की विभिन्न पद्धतियों के अन्तर्गत वातावरण के चित्रण पर भी अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। पिछले विवेचन में जिस प्रकार ऐतिहासिक शैली की उपयुक्तता को अन्य शैलियाँ नहीं पा सकती हैं, वैसे ही वातावरण को भी उसके अन्यतम रूप में चित्रित करने के लिए अन्य शैलियाँ अधिक उपयुक्त सिद्ध नहीं होती हैं।

वातावरण के चित्रण में प्रकृति-वर्णन आता है। प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन करने में जब तक उपन्यासकार तटस्थ होकर वर्णन नहीं करता, तब तक उसमें स्वाभाविकता नहीं आती। ऐसा लगता है कि मानो कोई चीज ऊपर से थोपी गई हो। प्राकृतिक वर्णन में यदि तटस्थ दृष्टिकोण की अपेक्षा एक व्यक्ति विशेष का दृष्टिकोण उपलब्ध हो तो हमारी आस्था उससे तुष्ट नहीं होना चाहेगी। हम तो पक्षधर व्यक्ति की दृष्टि से देखने की अपेक्षा तटस्थ व्यक्ति की दृष्टि को अधिक महत्त्व प्रदान करेंगे। वातावरण वर्णन में तत्कालीन परिस्थिति, वेशभूषा, भाषा, रीति-रिवाज, आचार, विश्वास, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध आदि का विशेष विवरण प्रस्तुत करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में वर्तमान काल को कथा का आधार बनाने वाले उपन्यासकार अधिक सतर्कता नहीं बरतते, क्योंकि वे यह आशा लेकर आगे बढ़ते हैं कि आज का पाठक अपने चारों ओर देखकर और समझकर वातावरण का अनुमान तो कर ही लेगा। वह पात्र, घटना, भाषा (कथोपकथन) और प्रभाव आदि की ओर ही अधिक ध्यान देता है और इसके लिए ऐतिहासिक के अतिरिक्त अन्य शैलियों (मिश्रित को छोड़कर)

में कोई विशेष कठिनाई नहीं आती। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण का विशेष रूप से वर्णन करना पड़ता है। अन्य उपन्यासों में इन सारी बातों का विस्तार से वर्णन रहता है जिससे पाठक कुछ देर के लिए अपने को उसी वातावरण और परिस्थिति में समझ सके। यदि ऐसा न हुआ तो ऐतिहासिक उपन्यास के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। इसके लिए यह आवश्यक है कि उपन्यासकार ऐतिहासिक शैली का उपयोग करके प्राचीन वातावरण को प्रस्तुत कर दे। भाषा, सजावट, भवन-निर्माण, सामाजिक दशा और रीति-रिवाज आदि का वर्णन ऐतिहासिक उपन्यासों में पत्रात्मक और डायरी शैली में किस प्रकार हो सकता है ? साथ ही यह भी तो देखना पड़ेगा कि जिस काल का इसमें चित्रण किया जा रहा है, उस काल में डायरी लिखा जाना सम्भव भी था या नहीं। यदि पत्रात्मक शैली का उपयोग हुआ है तो यह देखना आवश्यक होगा कि पत्र शैली का उपयोग उसी समय की पृष्ठभूमि और रीति रिवाज के अनुरूप हो। आज की शैली का लिखा हुआ पत्र वैसा ही भाव उत्पन्न करेगा जैसा कि मुसलमान वक्ता द्वारा भाषण में मियाँ राम और बेगम सीता कहने से उत्पन्न होता है।

ऐतिहासिक उपन्यास के लिए तो आत्मकथात्मक शैली भी अधिक उपयुक्त नहीं रहती है। इस शैली का उपयोग करने वाले को अगाध ऐतिहासिक ज्ञान और अभिव्यक्ति-कौशलयुक्त होना अपेक्षित है। इसके अभाव में उपन्यास खिलवाड़ बनकर रह जायगा। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में इस शैली को अपनाया गया है और वह भी पूर्ण सफलता के साथ। इस सफलता का रहस्य उनकी प्रजननशील कल्पनाशक्ति और प्रकाण्ड तथा अगाध ऐतिहासिक ज्ञान में निहित है। इस उपन्यास को पढ़कर अनेक विद्वान पाठक भी एकबारगी चमत्कृत होकर यह पूछने लग गये कि 'क्या वास्तव में यह कोई आत्मकथा मिली है ? द्विवेदीजी ने इसका जीर्णोद्धार करके हिन्दी साहित्य पर बड़ा भारी उपकार किया है' इस प्रकार के अभिमत उनकी सफलता के लिए पर्याप्त हैं। इससे कम से कम यह बात तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो ही जाती है कि ऐतिहासिक उपन्यास भी ऐतिहासिक शैली के अतिरिक्त अन्य शैलियों में भी लिखे जा सकते हैं और पूर्ण सफलता के साथ।

वास्तव में शैली को इतनी प्रमुखता नहीं मिलनी चाहिए जितनी कि आजकल दी जा रही है। हम बार-बार यह कह चुके हैं कि कथा लिखने की शैली तो उपन्यासकार को मिलने वाली एक प्रकार की दैवी सहायता है जिसके सहारे वह अपने मन के भावों और कल्पनाओं को साकार बनाने में समर्थ सिद्ध होता है। उसको किसी शैली को मानकर उपन्यास लिखना है, यह उचित नहीं है। पहले उसे उपन्यास लिखना है—एक घटना विशेष, पात्र

विशेष, या वातावरण विशेष, या दृष्टिकोण-विशेष का प्रतिपादन करना है। अब इसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त और प्रभावशाली शैली कौन-सी होगी, इसी की सहायता उसे लेनी चाहिए। शैली सहायक तत्त्व है उद्देश्य नहीं—उद्देश्य तक पहुँचाने वाली सवारी है। जो आदमी सवारी को ही आदर्श मान-कर उसी पर चढ़ा-चढ़ा घूमेगा, वह किसी स्थान या उद्देश्य पर कभी भी न पहुँच सकेगा।

लेखक या उपन्यासकार का अपने जीवन के प्रति दृष्टिकोण-विशेष होता है। सारी कथा, घटनाएँ, पात्र और वातावरण आदि इसी उद्देश्य की पूर्ति के सहायक होते हैं। लेखक यदि अपने जीवन-दर्शन को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना और समझना चाहता है तो उसके लिए ऐतिहासिक शैली अधिक आसान रहेगी; किन्तु, आजकल के विकास प्राप्त साहित्यिक-युग में इस प्रकार के लेखकों के अभिमतों को उचित नहीं माना जाता। आज तो कला की सफलता इसमें समझी जाती है कि सारा सन्देश अप्रत्यक्ष रूप से पात्रों, घटनाओं आदि द्वारा ध्वनित हो। गोर्की ने इसलिए कहा था कि साहित्य में कलाकार का उद्देश्य जितना ही छिपाकर—अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत किया जायगा, कला उतनी की सशक्त और अधिक प्रभावशाली होगी। इस कसौटी के अनुसार तो लेखक को अपना दृष्टिकोण अच्छी तरह भीतर छिपाकर रखना चाहिए। कुछ आलोचकों ने इस बात को अधिक उचित और श्रेष्ठ माना है कि ऐतिहासिक शैली में कथाकार अपनी बात खुलकर कह देता है और किसी पात्र के साथ अपने को जोड़कर नहीं रखता, जिससे उसकी बात को समझने में कठिनाई हो, इसलिए उसके लिए ऐतिहासिक शैली अधिक उपयुक्त है। मैं इसको बचकाना और पौराणिक युग की मान्यता से अधिक कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि सीधी शिक्षा और लेखक की मान्यताओं को बताने के लिए उपन्यास लिखने की क्या आवश्यकता है, फिर तो उसे नीति शास्त्र की पुस्तक लिखनी चाहिए।

आत्मकथा शैली—आत्मकथा में लेखक अपने जीवन की घटनाओं और अनुभवों तथा उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों का स्वयं वर्णन करता है। इन आत्म-कथाओं में सब कुछ अपने निजी दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न होता है। इन आत्मकथाओं में उनके बहिरंतर का सुन्दर और मार्मिक चित्र रहता है। इनमें से अनेक घटनाएँ और पात्र कहानियों के आधार बन सकते हैं। जिस प्रकार आत्मकथा में 'मैं' का प्रयोग होता है उसी प्रकार इस शैली में लिखे गये उपन्यासों में एक पात्र की ओर से और उसके दृष्टिकोण से सारा उपन्यास लिखा जाता है। वह पात्र अपने लिए 'मैं' का और अन्य पात्रों के साथ जैसा उसका सम्बन्ध होता है वैसे सम्बोधनों और सम्बन्धों को मानता हुआ चलता है।

इस शैली का अभिप्राय सर्वत्र यह नहीं होता कि उपन्यासकार जिस पात्र के माध्यम से सारी कथा कहता है वह उपन्यासकार के दृष्टिकोण और मान्यताओं आदि का प्रतिनिधि है; किन्तु होता अधिकांशतः यही है। कभी-कभी इसके विपरीत होता है और वहाँ पाठकों को लेखक के दृष्टिकोण को समझना उतना आसान नहीं रह जाता।

इस शैली में 'मैं' (आत्मकथात्मकता) का प्रयोग अनेक प्रकार से किया जाता है—

(१) कुछ उपन्यासों में नायक ही कथा कहता है और वही सबसे महत्त्वपूर्ण पात्र होता है, जिसके चारों ओर सारा कथानक घूमता है।

(२) कुछ उपन्यासों में कथा कहने वाला पात्र सामान्य होता है, जिसका उपन्यास में कोई महत्वपूर्ण स्थान तो होता नहीं, किन्तु उपन्यासकार अनेक कारणों से तथा परिस्थिति को अधिकाधिक सम्पूर्णता के साथ समझने के कारण उसी को कथा का माध्यम बना लेता है। जैसे किसी सम्पन्न परिवार में रहने वाला नौकर—होटल का बैरा आदि।

(३) कुछ उपन्यास ऐसे भी लिखे गये हैं जिनमें कथा को भिन्न-भिन्न पात्रों द्वारा अलग-अलग परिच्छेदों में उनके द्वारा कहलवाया गया है। इन उपन्यासों में कभी-कभी एक ही घटना के सम्बन्ध में अलग-अलग पात्रों की प्रतिक्रिया वर्णित कराई जाती है, जिससे पात्रों को समझने और उनके विश्लेषण में सहायता मिलती है। इस शैली की कथा में वास्तविक नायक तो एक ही होता है, हाँ कथा अनेक पात्रों द्वारा अवश्य कही जाती है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इस शैली में भाषा की विविधता और पात्रानुकूलता की चमत्कारपूर्ण स्वाभाविकता नहीं आ पाती। भाषा सदैव एक-सी और शैली में नीरसता बनी रहती है। कभी-कभी कुछ कुशल उपन्यासकार एक पात्र को भिन्न-भिन्न स्थितियों और मनोदशाओं में चित्रित करके इस एकरूपता को यथेष्ट अंश में दूर करने का भी प्रयत्न कर लेते हैं। कुछ उपन्यासकार इस दोष के निराकरण के लिए एक से अधिक पात्रों के द्वारा आत्मकथात्मक शैली में कथा को कहलवाते हैं। इससे भाषा सम्बन्धी वैविध्य उत्पन्न किया जा सकता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी पात्र का अन्त दिखाना आवश्यक होता है। यदि वही पात्र कथा कहने वाला हुआ तो उसी शैली का निर्वाह करते हुए अपनी मृत्यु का समाचार वह किस प्रकार दे सकेगा? इसी प्रकार जिस स्थान और परिस्थिति तथा पात्र आदि तक उसकी पहुँच सम्भव नहीं है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकेगा।

उपन्यासों में चरित्र-चित्रण द्वारा उपन्यासकार पात्रों के दोनों पहलुओं

को प्रस्तुत करता है। इन पहलुओं द्वारा वह पात्र की अच्छाइयों के साथ ही साथ उसकी बुराइयों को भी दिखाना चाहता है, तभी वह पात्र सजीव सिद्ध होता है। किन्तु इस शैली में कही गई कथा में यह सम्भावना पाठकों को सदैव बनी रहेगी कि यह पात्र (जैसी कि सामान्यतः लोगों की प्रवृत्ति देखी जाती है, महान् पुरुषों को अपवाद माना जाना चाहिए।) अपनी कमजोरियों को छिपा गया होगा और अच्छाइयों को बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया होगा। इसका परिणाम यह हो सकता है कि कथानक और चरित्र एक दूसरे से मेल न खाएँ। घटनाएँ पात्रानुकूल नहीं होतीं और पात्रों की क्रियाएँ उनके मनोविज्ञान के प्रतिकूल सिद्ध होती हैं। फलस्वरूप उपन्यास में स्वाभाविकता और संगति के स्थान पर अस्वाभाविकता और असन्तुलन के दर्शन होते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में यदि वे इस शैली में लिखे जायँ तो तत्कालीन वातावरण और परिस्थिति के प्रदर्शन में भारी कठिनाई आ जाती है। (पिछले तुलनात्मक विवेचन में इस पर विचार किया जा चुका है।) किन्तु 'वाणभट्ट की आत्मकथा' आदि कुछ ऐसे उपन्यास भी लिखे गये हैं जिनमें लेखक के कौशल और चमत्कारपूर्ण शैली के द्वारा यह वातावरण पूर्ण सफलता के साथ प्रस्तुत कर दिया गया है।

इस शैली के उपन्यास में लेखक के विचारों को आसानी से ढूँढ़ निकालना सम्भव नहीं होता, तथा घटनाओं में क्षिप्रता और उपन्यास में कसावट का अभाव बना रहता है। मुख्य-मुख्य तथा आवश्यकता बातों के साथ गौण और अनावश्यक को भी स्थान मिल जाता है जिससे कलेवर वृद्धि तो होती ही है, ढीलापन और अस्वाभाविकता भी आ जाती है।

इस शैली में लिखे गये उपन्यासों में कुछ विशेषताएँ भी होती हैं—इस शैली में लिखे गये उपन्यास में एक पात्र सारी कथा कहता है। हम उस पात्र से पूर्ण परिचय प्राप्त करके उसके चारों ओर के वातावरण से भी परिचित हो जाते हैं। इस सामीप्य और घनिष्टता का परिणाम यह होता है कि हमें सब कुछ स्वाभाविक और अपनापन लिये हुए प्रतीत होता है। पराया-पन बिलकुल निकल जाता है। इससे हमारे ऊपर उपन्यास का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है और उससे प्राप्त होने वाला आनन्द (ब्रह्मानन्द-सहोदर रस) अधिकाधिक मात्रा में मिलता है।

सारी कथा को देखने और समझने का माध्यम कथा कहने वाला पात्र सदैव हमारे सामने रहता है जो कथानक की बारीकियों और गुत्थियों को सुलझाता चलता है। हम किसी पहले न देखी हुई ऐतिहासिक इमारत को देखने जाते हैं, तो उसके महत्त्व और रहस्यों से परिचित होकर उसका पूर्ण आनन्द ले सकें, इसके लिए किसी 'गाइड' को ले लेते हैं। इस शैली में एक

पात्र हमें 'गाइड' ही मिल जाता है जो हमारा उचित पथ-प्रदर्शन करता चलता है।

संसार के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों की यदि सूची बनाई जाय तो उसमें सर्वाधिक संख्या उन उपन्यासों की होगी जो आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये हैं। इस शैली में जो सुविधाएँ रहती हैं उनको ध्यान में रखते हुए तथा उपन्यास के प्रारम्भिक युग से लेकर आजतक अनेक उपन्यासकारों के अपने श्रेष्ठ उपन्यासों में इस शैली के उपयोग द्वारा यह कहा जा सकता है कि यह शैली भी पूर्ण और उपन्यास के उद्देश्य और आदर्श तक पहुँचने में समर्थ है।

पत्रात्मक शैली—पत्रों द्वारा विचारों, भावों, घटनाओं, व्यक्तियों तथा उन सभी बातों और पदार्थों का ज्ञान कराया जा सकता है और कराया जाता रहा है जिन्हें लिखकर समझाया जा सकता है। हिन्दी उपन्यासों में ही नहीं अन्य भाषाओं के उपन्यासों में भी इस शैली को अपनाया गया है। इस शैली में सारी कहानी एक या अनेक पात्रों द्वारा प्रस्तुत की जाती है। ये पत्र एक व्यक्ति के भी हो सकते हैं और एक से अधिक के भी। जब पत्र एक व्यक्ति के होते हैं तो उसमें आत्मकथात्मक शैली का और अनेक के होते हैं तो ऐतिहासिक, डायरी आदि शैलियों का समन्वय देखा जा सकता है। वैसे तो इन शैलियों का कोई ऐसा विभाजन सम्भव नहीं है जिसमें दूसरे के लिए कोई स्थान न हो। कोई विभाजन पूर्णतः नहीं हो सकता, क्योंकि कथाकार का उद्देश्य तो अपने भावों को व्यक्त करना होता है—इसके लिए उसे जो भी साधन अधिक समीचीन प्रतीत होता है, वह उसका अनुसरण करने लग जाता है। (कोई केवल शैली के प्रदर्शन मात्र के लिए ही लिखे तो बात दूसरी है, जैसे केशव आदि आचार्यों ने कुछ अलंकारों आदि के उदाहरण ऐसे ही दृष्टिकोण से युक्त होकर लिखे हैं। यह कोई हेयता की बात नहीं है वरन् कौशल का द्योतक है।) फिर भी विवेचन की दृष्टि से तथा समझने की सुविधा से यह विभाजन किया गया है।

इस शैली में 'चन्द हसीनों के खुतूत' से लेकर 'प्रेमपत्र' तक अनेक उपन्यास लिखे जा रहे हैं। अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी अनेक उपन्यास लिखे गये हैं किन्तु इस शैली के उपन्यासों को प्रथम श्रेणी नहीं मिल पाई है—इसी बात से यह सिद्ध हो जाता है कि इस शैली को सर्वांगपूर्ण और सफल नहीं माना जा सकता। इस शैली के कुछ दोष इस प्रकार कहे जा सकते हैं—

पत्रात्मक शैली में पात्रों का विकास, घटनाओं का पूर्ण वर्णन और उन बातों की सूचना देना सम्भव नहीं होता जो पत्र लिखने वाले को अज्ञात हों या जिन तक उसकी पहुँच सम्भव न दिखाई गई हो। वातावरण-सृष्टि, जो ऐतिहासिक उपन्यास का प्राण है, इस शैली में दिखाना कठिन है। कुछ उपन्यास तो केवल इसलिए असफल हो गये हैं कि वे पत्रात्मक शैली में लिखे गये

हैं। यदि वे इस शैली में न लिखे जाकर किसी अन्य शैली में लिखे गये होते तो सम्भवत: अधिक सम्मान और आदर पाते।

इन कहानियों के लिए पात्र, कथा आदि अन्य उपकरण भी ऐसे ही होने चाहिए, जिनसे इस शैली की पूरी-पूरी संगति बैठ सके। उदाहरण के लिए, यदि बेपढ़ा-लिखा पात्र अपनी अभिव्यक्ति के पात्र का आश्रय ग्रहण करे तो यह सारे उपन्यास को हास्यास्पद बनाने के लिए पर्याप्त है। इसी प्रकार कोई लेखक दो पत्रों के बीच में इतने समय का अन्तर न छोड़े कि वे दूसरे तक पहुँच न सकें, (और दूसरे पत्र में पहले का उत्तर हो या सन्दर्भ हो) तो उस उपन्यास को पढ़कर हँसा जा सकता है, और कोई उद्देश्य पूर्ण नहीं होगा।

इस शैली में प्रतीकात्मक उपन्यास नहीं लिखे जा सकते, क्योंकि प्रतीक अपने पत्र किस प्रकार लिखेंगे? आत्मकथात्मक शैली के प्राय: अधिकांश दोष इस शैली में भी विद्यमान रहते हैं। आंशिक रूप से इस शैली का उपयोग सदैव प्रभावशाली और समीचीन रहा है।

हमारे अपने जीवन में पत्रों का यथेष्ठ महत्त्व है। व्यक्ति पढ़ा हो या अपढ़, कभी न कभी वह किसी को पत्र लिखता है या उसे कोई पत्र लिखता है। अत: आज के उपन्यास में भी इस शैली का प्रयोग आवश्यक और स्वाभाविक है। जब दो पात्र भिन्न-भिन्न देशों या महाद्वीपों में हों (आज के वैज्ञानिक और आवागमन-सुलभ-युग में ऐसा होना असम्भव नहीं है।) तब पत्र शैली के अतिरिक्त किसी अन्य शैली का सहारा लिया ही नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि अनेक बातें ऐसी होती हैं जिन्हें हम दूसरे के सामने कह नहीं पाते, लिखकर दे देते हैं। (मैं एक ऐसे सम्भ्रान्त व्यक्ति को जानता हूँ जो एक ही घर में रहते हुए अपनी पत्नी से वार्त्तालाप करने की अपेक्षा पत्र लिखना अधिक उपयुक्त समझते हैं और ऐसा करते भी हैं।) यदि किसी मनोविज्ञान-प्रधान उपन्यास में किसी विकृत मस्तिष्क पात्र का वर्णन करना है, जो केवल पत्र ही लिखता रहता है, तो इस शैली के अतिरिक्त अन्य क्या चारा हो सकता है?

यह शैली वहाँ तक तो उचित और प्रयोग योग्य है जब तक कि उससे कथा को उद्देश्य की प्रगति में सहायता मिलती रहे, लेकिन तब यह अनुचित हो जाती है जबकि शैली सहायक के स्थान से हटकर उद्देश्य के स्थान पर आकर बैठ जाती है।

डायरी शैली—डायरी शैली में उपन्यासों को लिखने की पद्धति यथेष्ट पुरानी है। हम जिन बातों को जीवन भर अपने मुँह से नहीं निकाल सकते, उन्हें डायरी में लिख लेते हैं। क्योंकि हम डायरी अपनी स्मृति की सहायता के लिए लिखते हैं, अत: उसमें हम अपने सच्चे रूप को स्पष्ट करने में हिचकते नहीं। फलत:

पाठकों के सामने पात्रों का सच्चा चित्र प्रस्तुत करने के लिए उपन्यासकार इस शैली की सहायता लेता है। डायरी लिखने वाला डायरी में वह सब लिखता है, जिसे वह महत्त्वपूर्ण समझता है, जिसे याद रखना चाहता है, जिसे किसी अन्य से नहीं कह सकता, जैसा वह बनना चाहता है, जो कुछ वह पाना चाहता है आदि-आदि। अतः उसको समझने में डायरी का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह आसानी से समझा जा सकता है।

डायरी लिखना और डायरी पढ़ना यह दोनों ऐसे शौक हैं जिन्हें छोड़ना या छुड़ाना बहुत कठिन है। डायरी लिखने वाला उसमें सब-कुछ लिख जाता है और डायरी पढ़ने वाला उसमें जो कुछ मतलब-बेमतलब का होता है, उसे पढ़ जाता है। लिखने वाला और पढ़ने वाला दोनों डायरी के शौकीन हों, यह आवश्यक है। पाठक यदि 'सब कुछ पढ़ने के योग्य' स्तर का नहीं होता तो भारी कठिनाई रहती है और उपन्यास का आनन्द वह नहीं ले पाता।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इस शैली का भारी प्रचलन हुआ है। अपने मन के अतल गह्वरों का ज्ञान पात्र किसी को नहीं कराते। इसके लिए डायरी एक ऐसा आसान साधन निकाला गया है कि उसमें कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती है। पात्रों की इस गोपनीयता और कामकुण्ठाओं की कुंजी उनके इन डायरी के पृष्ठों में से खोजी जाती है। फ्रायड के अनुसार कला काम-कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति मानी जाती है। डायरी के इस नवीन प्रयोग ने उपन्यास के लिए उसकी अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध कर दी है।

'शेखर : एक जीवनी' में डायरी का बहुत ही सुन्दर और सफल प्रयोग हुआ है। डायरी शैली का उदाहरण देखिए—

"३ अक्टूबर, १९०१

"आज सेठ रामविलास ने जगन्नाथ जौहरी की दुकान से एक हीरे की अँगूठी और एक मोती की माला खरीदी। दोनों का मूल्य सवा दो लाख था। सेठ साहब मेरे साथ जौहरी की दुकान पर गये थे। मैं उन्हें छोड़कर शेयर मार्केट चला गया। सेठ साहब अपनी कार में बैठकर अपनी दूकान चले गये। दूकान से मोटर तक पहुँचते-पहुँचते मेरे लगाये हुए आदमी ने अँगूठी और माला का डब्बा गायब कर दिया। उसकी जगह दूसरा डब्बा रख दिया, जिसमें नकली अँगूठी और नकली माला थी। मेरा आदमी असली डब्बा मुझे सौंप गया। मेरे पास सुरक्षित है। देखता हूँ, अब क्या होता है?

—होशियारसिंह।"

इस डायरी लेखक ने अपनी डायरी में अपने गुह्यतम रहस्यों को

पूर्ण बेतकल्लुफी और सच्चाई के साथ लिख दिया है। जो बातें उसकी लेखनी से लिखी जा सकी हैं, वे उसकी जुबान से आजीवन अपनी जीवन-साथिन से भी न कही जा सकीं। डायरी लेखक होशियारसिंह अपने मालिक लाला रामविलास से घृणा करता है और उसकी सारी सम्पत्ति को हड़पना चाहता है। इसके लिए उसने अपने साले की लड़की की शादी सेठ से करा दी है। इस बीच दो-दो चार-चार लाख की सम्पत्ति को हड़प जाने और न पकड़े जाने के अवसर आये, किन्तु होशियारसिंह उनका लाभ सेठ के मन पर अपना सिक्का जमाने के लिए उठाता है। सेठ पर उसका ऐसा प्रभाव जम जाता है कि वह सारा कारबार उसी को सौंप देता है और स्वयं अनासक्त होकर निश्चिन्त होने का स्वप्न देखने लगता है।

इन सारी घटनाओं के पीछे होशियारसिंह की नीयत सदैव सेठ के सारे माल पर हाथ फेरकर स्वयं मालिक बनने की रही है और सेठ उसकी चालों और षड्यन्त्रों को अपना हितकारी समझकर अधिकाधिक विश्वास करता चला जाता है। ये सारे रहस्य होशियारसिंह के साथ ही चले जाते, यदि वह इन्हें अपनी डायरी में लिख न जाता।

कई बार ऐसा होता है कि जिस व्यक्ति को हमारे साथ बाँध दिया जाता है, हम उसे घृणा करते हैं, किन्तु फिर भी उसके साथ बँधे चले जाते हैं। मन के भावों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट करने तक का साहस हम नहीं बटोर पाते। इस प्रकार के दोहरे चरित्रों के रहस्यों का उद्घाटन करने में डायरी शैली भारी सहायक सिद्ध होती है।

उपन्यास के उद्देश्य को देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि घटनाओं और पात्रों के सम्बन्ध में छोटी से छोटी समझी जाने वाली रहस्योद्-घाटनकारी सूचना दी जानी चाहिए। पाठकों की दृष्टि से उसका भारी मूल्य हो सकता है, किन्तु डायरी लेखक को उसके महत्त्व का ज्ञान न होने पर वह उन्हें देना आवश्यक न समझेगा; इसलिए डायरी शैली में कथानक की शृंखला और समस्याओं का पूर्ण परिचय नहीं मिल पाता।

डायरी शैली बहुत कुछ आत्मकथा शैली से मिलती-जुलती है। दोनों शैलियों में कथा कहने वाले के दृष्टिकोण की प्रधानता रहती है। इस दृष्टि-कोण के अन्तर्गत कथाकार अपने से उलझता चलता है और इस उलझाव में कभी उसे पाठकों के अस्तित्व का ध्यान आ जाता है और कभी उन्हें भूल जाता है।

मिश्रित शैली—इस शैली के अन्तर्गत ऊपर वर्णित शैलियों के रूप रहते हैं; इन शैलियों में से दो या अधिक शैलियों का प्रयोग अधिक स्वाभाविक और प्रभावशाली होता है। मिश्रित शैली में प्रायः देखा यह जाता है कि

प्रधानता तो ऐतिहासिक शैली की रहती है और अन्य शैलियाँ आवश्यकतानुसार प्रयुक्त होकर उसकी सहायिका बनी रहती हैं।

अहं प्रधान शैलियों में (इस वर्गीकरण के अन्तर्गत आत्मकथा, डायरी और पत्र शैली आती हैं।) आपस में मिश्रण होना बहुत स्वभाविक है। इस संयोग से अच्छा प्रभाव उत्पन्न हो जाता है।

कथा साहित्य में इन शैलियों के अतिरिक्त कुछ अन्य शैलियाँ भी प्रयुक्त होती हैं। लघु कथाओं और प्रतीक कथाओं में रूपक शैली का प्रयोग होता है। रूपक शैली के अन्तर्गत अप्रस्तुत के माध्यम से युग प्रश्नों को प्रस्तुत किया जाता है। काव्य में जिस प्रकार अन्योक्ति ओर समासोक्ति का प्रयोग होता है, उसी प्रकार का यह कथा-प्रयोग है।

उद्देश्य या जीवन-दर्शन

प्राचीन काल से लेकर आज तक साहित्य के पीछे साहित्यकार का कोई न कोई उद्देश्य माना जाता है। प्राचीन काल में धर्मोपदेश के लिए साहित्य का प्रयोग किया जाता था और मध्य काल में चरित्र-सुधार और अर्थ-प्राप्ति आदि इसके उद्देश्य रहे। आजकल स्वयं भारमुक्त होने और दूसरों को आनन्द देकर युग से परिचित कराना साहित्य का उद्देश्य माना जाता रहा है। साहित्य के उद्देश्य को लेकर अनेक वाद उठते रहे हैं और उनका खण्डन-मण्डन होता रहा है। इसका थोड़ा-सा परिचय देना अप्रासंगिक न होगा।

होमर जैसे प्रथम ग्रीक महाकवि ने अपने अमर महाकाव्य 'ओडेसी' (Oddyssey) में लिखा था—

"हे डेमोडोकस ! उस दिव्य प्रतिभाशाली कवि को यहाँ बुलाओ, दैव ने जैसी काव्य शक्ति उसको दी है, वैसी दूसरे को नहीं दी—जिस रीति से भी उसकी आत्मा उसे जाने के लिए प्रेरित करती है, वह उसी रीति से मनुष्यों का मन: प्रसादन कर सकता है।"

इस कथन में काव्य के तीन गुण माने गये हैं—

(१) वह दैवी प्रतिभा का परिणाम है,

(२) वह आनन्द देता है, और

(३) कविता का सम्बन्ध कवि के स्वच्छन्द मन से है, उसे कोई आदेश नहीं दे सकता।

अरस्तू ने भी काव्य का उद्देश्य आनन्द प्राप्ति माना है। काव्य कला को जहाँ वह प्रकृति की अनुकृति मानता है (Art imitates nature), उसका कुछ कलावादी यह अर्थ लगाते हैं कि उसने काव्य के वाह्य रूप को ही प्रधा-

नता दी है; किन्तु उनकी यह मान्यता उचित नहीं है । इस प्रकार की भ्रान्तियों का निराकरण करने के लिए ही अरस्तू के विश्लेषक श्री बूचर (Butcher) ने बताया है—

"Nature in Aristotle is not the outward world of created things ; it is the creative force, the productive principle of the universe."

इसके अनुसार अरस्तू वाह्य रूप पर दृष्टि जमा कर रह जाने वाला शास्त्रकार नहीं है, वरन् अन्दर तक प्रविष्ट होकर तत्वों को खोज लाने वाला है ।

अरस्तू के मत को मध्यमार्गीय कहा जा सकता है जिसके एक ओर नीतिवादी हैं और दूसरी ओर कलावादी । नीतिवादियों में प्लेटो सबसे पहले आते हैं । उन्होंने जगत् को ब्रह्म की छाया माना है और काव्य चूँकि जगत् की अनुकृति है, अतः यह सत्य (ब्रह्म) से दुहरा दूर पड़ जाने के कारण असत्य और अनीति युक्त माना जाना चाहिए । प्लेटो की इस मान्यता को आगे बढ़ाने का श्रेय प्लूटार्क (Plutarch) को है । वह मानता है कि काव्य तो दर्शन की पाठशाला है—"Poetry is the preparatory school of philosophy."

आगे चलकर मैथ्यू आर्नोल्ड ने काव्य का उद्देश्य जीवन की आलोचना माना है। जार्ज बर्नार्ड शॉ भी कला को प्रचार का साधन मानता था । उसकी प्रसिद्ध उक्ति 'समस्त साहित्य प्रचार है' (All art is propaganda) इसी वर्ग में आती है । इस मान्यता को लेकर चलने वालों में वर्ड्सवर्थ, शैले, मैथ्यू आर्नोल्ड जैसे अंग्रेजी के कवि और आलोचक; विश्व के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार टॉलसटॉय; बर्नार्ड शॉ जैसे लेखक; हेगेल और मार्क्स तथा एँगिल्स जैसे दार्शनिक; तथा लेनिन और स्टालिन जैसे राजनीतिज्ञ आते हैं ।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी दार्शनिक और राजनीतिज्ञ लेनिन साहित्य को सर्वहारा का अस्त्र मानता था (Art is the weapon of the masses) । मार्क्सवादियों के अनुसार साहित्य आर्थिक परिस्थितियों और सम्बन्धों द्वारा प्रभावित होता रहता है। मार्क्स महोदय ने स्वयं लिखा है—

"The mode of production in material life determines the social, political, and intellectual life process in general."

इसी बात को विद्वान काव्यशास्त्री और मार्क्सवादी दार्शनिक कॉडवेल अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'इल्यूजन एण्ड रियलिटी' (Illusion and Reality) में इन शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं—

"Poetry is regarded,............ not as something racial, national, genetic or specific in its essence, but as something economic."

नीतिवादियों का विरोध भी प्राचीन काल से ही आरम्भ हो गया था। प्लेटो की नीतिवादी मान्यताओं का विरोध करने वाले प्लोटिनस (Plotinus) आदि दार्शनिक थे। ईसा से २४ वर्ष पूर्व स्ट्रेबो (Strabo) ने स्पष्ट लिखा है कि कवि का उद्देश्य प्रसन्न करना है, शिक्षा देना नहीं—

"The aim of the poet always is to charm the mind, not to instruct."

एक अन्य ग्रीक विद्वान् एरेटोस्थीनिस (Eratosthenes) का कथन है कि काव्यकार का उद्देश्य शिक्षा देने की आपेक्षा आकर्षित करना है, जिससे उनकी सोचने की शक्ति तक सुस्त पड़ जाये।

'कला कला के लिए' इस आन्दोलन का प्रारम्भ फ्रान्स के पारनेशियस गुट के कवियों द्वारा किया गया। इनका नेता गोटियर था। गोटियर ने कला को जब उच्च वर्ग द्वारा उपयोग करते देखा तो कहा—कला का उपयोग नहीं होना चाहिए। उच्च वर्ग के उपयोग को अस्वीकार करने के लिए उसने कला के उद्देश्य को ही अस्वीकार कर दिया—

"To make useful means forcing it to serve very bourgeois."

यद्यपि इस सिद्धान्त का निर्माण लोक कल्याण की दृष्टि से किया गया था, किन्तु आगे चलकर इसके अतिवादी परिणाम निकले। इस काल में कला का उद्देश्य नग्न सौन्दर्य-अंकन स्वीकार किया गया। वे कहने लगे—

"I will gladly renounce my right as a Frenchman and as a citizen in order to see a beautiful woman in nude."

इस प्रकार सामाजिक हित के सिद्धान्त का परिणाम असामाजिक सिद्ध हुआ। इसी परम्परा को पुश्किन और चर्नशेविस्की जैसे रूसी शास्त्रकारों का सहयोग मिल गया, जिन्होंने सौन्दर्य को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया। कान्ट जैसा दार्शनिक भी इस सम्प्रदाय के लिए सहयोगी ही सिद्ध हुआ, क्योंकि उसने कला को निष्प्रयोजनीय माना था—

"Beauty pleases without concept."

कला किसी उद्देश्य को लेकर आनन्द नहीं देती वरन् वह तो सदैव निरुद्देश्य रहती है—

"Beauty pleases without interest."

कला सोद्देश्य होने पर कला नहीं रहती। वह दर्शन, राजनीति तथा नीतिशास्त्र आदि चाहे जो कुछ हो जाय, किन्तु कला नहीं रहती—

"That is the beautiful which has the form of finality without the presentation of an end."

कान्ट की कठिनाई यह थी कि वह धर्म और नीति से सार्वभौमिक और सार्वकालिक आनन्द की सिद्धि अस्वीकार करता था और साहित्य से यह सम्भव होता है, अतः साहित्य में धर्म और नीति को स्थान नहीं दिया जा सकता। सौन्दर्य को सार्वभौमिक स्वीकार करते हुए उसने लिखा है—

"That is beautiful which is the object of universal pleasure."

कान्ट के अनुसार संसार की वस्तुएँ दो प्रकार की मानी गई हैं—श्रेय और प्रेय। श्रेय का सम्बन्ध शिवतत्त्व से बताया गया है और वह जीवन को ऊँचा उठाने में समर्थ है। प्रेय से इन्द्रिय सुख मिलता है। इन दोनों की सीमा में न समा सकने वाली वस्तुओं को 'प्रज्ञा' की संज्ञा दी गई है। यह प्रज्ञा ही 'ज्ञान' है। नीति और ज्ञान सोद्देश्य होते हैं किन्तु कला का कोई उद्देश्य नहीं होता, इसीलिए नीति और ज्ञान को कला से अलग रखने की सिफारिश की गई है। कान्ट के लिए वस्तुनिर्माण ही सत्य है। वह कहता है कि सत्य 'thing in itself' है।

कान्ट के अनुसार विवेक गुण है—अस्तित्व नहीं है। कला का उद्देश्य ज्ञान नहीं है बल्कि अनुभूति है। कला का आनन्द सार्वभौमिक और सार्वकालिक माना जाता है। सौन्दर्य और ऐन्द्रिक आनन्द सार्वभौमिक और सार्वकालिक नहीं होता है, क्योंकि उसमें द्रष्टा अथवा भोक्ता की वैयक्तिक सत्ता होती है जो उसे समष्टि तक नहीं उठने देती—वह व्यष्टि पर ही रुक जाता है। इस तर्क की यह मान्यता तो सभी स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार दर्शन और राजनीति का शास्त्र अलग है, उसी प्रकार कला का शास्त्र अलग है। इसी मत को स्वीकार करते हुए प्रेमचन्दजी ने लिखा था—

"साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय।"

आगे चलकर यह मत 'वाद' बन गया और उसका अतिवादी स्वरूप सामने आया। एफ० एल० लुकास ने अपने ग्रन्थ 'लिटरेचर एण्ड साइकलौजी' में बताया है कि ये लोग कला को शराब मानते हैं और केवल उसके मादक मूल्य तक ही पहुँच पाते हैं। उनकी पहुँच इससे आगे नहीं हो पाती। देखिए—

"For them art is wine. Only its pleasure value matters."

फ्लॉबर्ट (Flawbert) कला को ही कला का धर्म स्वीकार करता है। उसका तर्क यह है कि आजतक किसी कवि ने महाकाव्य और खण्डकाव्य लिखकर उसके परिणाम निकालने की चेष्टा नहीं की है—

"No great poet has ever drawn conclusions."

उसकी तो बस एक ही रट रहती थी जिससे वह सर्वत्र और सबके सामने कहता जाता था कि बिना उद्देश्य निर्धारित किये चित्र बनाते जाओ—

"Paint paint without theories."

बोदलेयर का मत था कि कविता का उद्देश्य कविता ही होती है। कविता के अतिरिक्त अन्य कुछ उसका उद्देश्य नहीं हो सकता—

"Poetry has no end beyond itself."

सर वाल्टर पेटर, जो अनेक अन्तर्विरोधों का पुन्ज था, इंगलैण्ड में स्विनबर्न के मत की स्थापना करने वाला और अनुभव को ही कला का चरम लक्ष्य स्वीकार करके चलने वाला था। वह फल से कभी भी कला का सम्बन्ध जोड़ने के पक्ष में नहीं रहा। उसने इस मान्यता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

"Not the fruit of experience, but experience itself, is the end."

इस कथा का एक अर्थ यह भी होता है कि कला में चाहे अनुभव से ही प्रयोग न हो, इतने से अनुभव के फल पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? अर्थात् कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, वह तो बना रहता है। उसे पाठक ही क्या, कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रश्न का उत्तर आज तक नहीं दिया जा सका है और सम्भवतः दिया भी न जा सकेगा। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को अतिवादी सीमा तक पहुँचाने वाले आस्कर वाइल्ड हैं। उनकी मान्यतानुसार कला के क्षेत्र में कोई भी पुस्तक अच्छी या बुरी नहीं कही जा सकती। पुस्तकों को अधिक से अधिक भली प्रकार लिखी हुई या बुरी तरह लिखी हुई कहा जा सकता है। देखिए—

"There is no such thing as a moral or immoral book. Books are well written or badly written ; that is all."

आगे वह शिक्षा देकर समझाते हैं कि किसी कलाकार का नीतिवादी होना अक्षम्य दोष है—

"An ethical sympathy in an artist is an unpardonable mannerism."

इस सम्बन्ध में तीसरा मत—मध्यम मार्गीय है। वह इन दोनों अतिवादी दृष्टिकोणों का समन्वय प्रस्तुत करता है। इस मत को भारतीय आचार्यों और विश्व के उच्चतम कवियों तथा विचारकों, जैसे होमर, वर्जिल, दाँते, गेटे, शेक्सपियर, मिल्टन तथा अरस्तू और गोर्की आदि का समर्थन प्राप्त है। इस मत को स्वीकार करने वालों ने कला का प्रथम उद्देश्य आनन्द माना है तथा अन्य उद्देश्यों में नीति आदि को स्थान दिया है।

जिस प्रकार का अतिवादी दृष्टिकोण यूरोप में पल्लवित हुआ, वैसा भारतवर्ष में क्यों नहीं हुआ ? क्या भारतीय विचारक अतिवादी सीमा तक जाने में हिचकते थे ? या उनमें कल्पना शक्ति का अभाव था ?

इन सारे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमें यहाँ की कला सम्बन्धी मान्यताओं को देखना पड़ेगा। हमारे यहाँ काव्य को कला का पर्यायवाची नहीं माना गया है, जैसा कि सारे यूरोप में हुआ है। हमारे यहाँ कला और साहित्य को अलग-अलग स्थान प्रारम्भ से आज तक मिलते रहे हैं। कलाएँ हमारे यहाँ चौंसठ मानी गई हैं। काव्य की अपेक्षा उन्हें नीचा स्थान दिया गया है। कला की सिद्धि अभ्यास और शिक्षा-साध्य मानी गई है, उसे कोई भी सीख सकता है। वह तो मात्र कौशल है। उसका प्रयोजन केवल मनोरंजन स्वीकार कर लिया गया था। ये दोनों नियम काव्य के लिए लागू नहीं हो सकते थे, क्योंकि काव्य के लिए दिव्य प्रेरणा और गम्भीर परिष्कृत आनन्द अनिवार्य माना गया। यूरोप में पाँच कलाएँ मानी गईं और काव्य को उन्हीं में से एक ठहराया गया। इसीलिए यह सारी खींचातानी वहीं चलती रही।

सर फिलिप सिडनी का मत है कि कविता का उद्देश्य रसात्मक शिक्षा है—

"The end of poetry is delightful teaching."

यह कथन भारतीय आचार्य मम्मट के 'कान्ता संमति उपदेश' की कोटि का है।

अरस्तू की परम्परा का पुनरुद्धार करते हुए साहित्याचार्य ड्रायडन (Dryden) ने आनन्द को प्रथम और शिक्षा को द्वितीय स्थान देना उचित समझा—

"Delight is the chief if not the only end of poesy ; instruction can be admitted but in the second place."

उपन्यास काव्य का एक अंग है, अतः यही सिद्धान्त उपन्यास पर भी लागू होता है। उपन्यास के सम्बन्ध में कुछ और प्रश्न भी उठाये गये हैं, जैसे आदर्श और यथार्थ का प्रश्न आदि, इन पर भी विचार होना चाहिए।

यथार्थवाद के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों की सम्मतियाँ इस प्रकार हैं—

(१) अंग्रेजी साहित्य के इतिहासकार कजामियाँ (Cazamian) लिखते हैं—

"Realism in art is not a method but a tendency."

(२) जार्ज लुकाच 'Study in European Realism' में लिखते हैं—

"It is a condition sinquanon of great realism that the author must honestly record without fear or favour everything he sees around him."

(३) हैवर्ड फास्ट द्वारा 'Literature and Reality' में व्यक्त किया गया है—

"In literature the creative process is always a synthesis never a duplication. The writer must select, he cannot enumerate."

(४) "यथार्थवाद यथार्थता की आधार भूमि पर जीवन का नूतन चित्र है।" ('हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद')

(५) "कला क्षेत्र में यथार्थवाद एक ऐसी मानसिक प्रवृत्ति है जो निरन्तर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित होती रहती है।"

(डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी)

(६) "यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक् सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है। यथार्थवाद का सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तु जगत् से है।" (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी)

(७) "जहाँ तक मैं समझ सका हूँ प्रगतिवादी लेखकों का कहना है कि साहित्य मनुष्य के लिए हो, मानवता की पीड़ा, वेदना, अन्याय, शोषण को जो व्यक्त करे, जिसमें मजदूरों की पुकार हो, जो वर्गवाद का गला टीपदे, पूँजीवाद की पूँछ में पलीता लगादे, जिसमें कल्पना का कल्लोलन हो, वस्तुवाद का स्वाद हो।" (कृष्ण देव प्रसाद गौड़)

यथार्थवाद के नाम पर प्रायः सभी आलोचकों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। आदर्शवाद में व्यक्ति की साधना या ब्रह्मत्व से भूत की ओर चलना होता है और यथार्थवाद में जो प्रगतिवाद का एक दृष्टिकोण है, यह माना जाता है कि व्यक्ति का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है, वह तो समाज का एक अंग है —समाज में वह आर्थिक सम्बन्धों से बँधा हुआ है। समाज की रचना और विकास आर्थिक सम्बन्धों पर निर्भर हैं। यदि आर्थिक सम्बन्ध बदल जाते हैं तो समाज भी बदल जाता है। व्यक्ति स्वयं न भला होता है न बुरा। समाज के आर्थिक सम्बन्धों को बदलना चाहिए, परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने आप

बदल जायँगे । भूत या पदार्थ ही जगत् का आधार है, न कि ब्रह्म । मस्तिष्क परिष्कृत पदार्थ है, ईश्वर एक भ्रम और धोखा है ।

जीवन में यथार्थवाद द्वारा अच्छाई और आदर्श की देन के बजाय कुत्सित और अस्वस्थकारी को अधिक स्थान दिया गया है, इसीलिए प्रसाद उसकी आलोचना करते हुए बताते हैं—

"यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात । उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है । लघुता से मेरा तात्पर्य है, साहित्य में माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख ।"

प्रसाद ने साहित्य में रूप-परिवर्तन स्वीकार किया है और बताया है कि वास्तविकता को एकांगी नहीं माना जा सकता—

"यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं अपितु महानों का भी है । वस्तुतः यथार्थ-वाद का मूल भाव है वेदना; जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है ।"

उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द ने इस विषय को विस्तार से समझाया है—

"यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है । उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परि-णाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा—उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवनलीला समाप्त करते हैं । संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता; बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है—नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं,—उनको नेकी का फल उल्टा मिलता है; बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं,—उनको बदी का फल उल्टा मिलता है.................उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है, और यथार्थवाद हमें निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है ।

"इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना, बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला

दिखाएँ जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टताओं की सीमा से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है उसकी पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले,—वह भूल जाय कि मैं चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों; जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है, जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर, ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों ?

"अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं, तो इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठाएँ। इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहारकुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती है; लेकिन काँइयेपन से ऊपे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञानविहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है।

"यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति मात्र हों—जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है; लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।

"इसलिए वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।" ('कुछ विचार' : प्रेमचन्द)

'हिन्दी साहित्य कोशकार' का मत है—

"साहित्य की एक विशिष्ट चिन्तन पद्धति, जिसके अनुसार कलाकार को अपनी कृति में जीवन के यथार्थ रूप का अंकन करना चाहिए। यह दृष्टि-कोण वस्तुतः आदर्शवाद का विरोधी माना जाता है, पर वस्तुतः तो आदर्श उतना ही यथार्थ है जितनी कि कोई भी यथार्थवादी परिस्थिति। जीवन में

यथार्थ की कल्पना दुष्कर है। किन्तु अपने पारिभाषिक अर्थ में यथार्थवाद जीवन की समग्र परिस्थितियों के प्रति ईमानदारी का दावा करते हुए भी प्राय: सदैव मनुष्य की हीनताओं तथा कुरूपताओं का चित्रण करता है। यथार्थ-वादी कलाकार जीवन के सुन्दर अंश को छोड़कर असुन्दर अंश का अंकन करना चाहता है। यह एक प्रकार से उसका पूर्व ग्रह है।''

उपन्यास लिखने के अनेक उद्देश्य होते हैं। ये उद्देश्य भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं। कोई लेखक मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाता है, तो दूसरा वर्ग-संघर्ष का चित्रण करता है, तो तीसरा सामाजिक और गार्हस्थिक समस्याओं को उठाकर सामने रखता है, तो चौथा दार्शनिक और नैतिक मान्यताओं की परम्परा को नष्ट करके नवीन मान्यता को स्थापित करने का बीड़ा उठाता है, तो पाँचवाँ किसी अंचल विशेष की संस्कृति को साकार रूप देने का प्रयत्न करता है आदि-आदि। इन उद्देश्यों को अपना बनाकर यदि उपन्यासों का वर्गीकरण किया जाय तो उन्हें मोटे रूप से निम्न रूपों में विभा-जित किया जा सकता है—

(१) शुद्ध आदर्शवादी,
(२) शुद्ध यथार्थवादी
(३) आदर्शोन्मुख यथार्थवादी,
(४) अति यथार्थवादी,
(५) मनोवैज्ञानिक,
(६) आंचलिक,
(७) मनोरंजन प्रधान, तथा
(८) समाज-सुधारक।

शुद्ध यथार्थवादी—इस वर्ग में वे उपन्यास आते हैं जिनके लेखक पाठकों को सीधी-सीधी शिक्षा देने के लिए ही इन्हें लिखते हैं। उनका उद्देश्य सदैव भलाई और बुराई—पुण्य और पाप को पात्रों के रूप में प्रस्तुत करना होता है। वे इन पात्रों को प्रस्तुत करते समय यह ध्यान नहीं रखते कि इनमें स्वाभा-विकता आ पाई है या नहीं। पात्रों में स्वाभाविकता है या नहीं। उनकी दृष्टि तो उपदेश पर जमी रहती है और इसके अतिरिक्त वे और कुछ सोच भी नहीं पाते हैं।

इस पद्धति के दर्शन हमें सभी धार्मिक और पौराणिक कथाओं में होते हैं। अंग्रेजी के उपन्यासकार बनियन (Buniyan) ने 'पिलग्रिम्स प्रोग्रैस' तथा 'लाइफ एण्ड डेथ ऑफ मिस्टर बैडमैन' में इसी प्रकार का उद्देश्य सामने रखा था। हमारे यहाँ सारी पौराणिक और नीति सम्बन्धी कथाएँ जिनमें पंचतंत्र,

हितोपदेश आदि प्रमुख हैं, उपदेश देने के उद्देश्य को सामने रखकर लिखी गई हैं।

हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' भी इसी कोटि में आता है। इस उपन्यास में उदाहरण दे-दे कर कथाकार ने नैतिक शिक्षा देने का प्रयत्न किया है, देखिए—

"दूसरे की प्रसन्नता के हेतु अधर्म करने का किसी को अधिकार नहीं है, इसी तरह अपने या औरों के लाभ के लिए दूसरे के वाजवी हकों में अंतर डालने का भी किसी को भी अधिकार नहीं है।"

किसी न किसी रूप में यह परम्परा अब भी चल रही है।

शुद्ध यथार्थवादी—समाज के रूप को मार्क्सवादी भौतिकवाद के प्रकाश में प्रस्तुत करना यथार्थवाद माना जाता है। इसे प्रगतिवाद के अन्तर्गत एक शैली भी कहा गया है, किन्तु इसमें समाज के आर्थिक सम्बन्धों को स्पष्ट करके ऐतिहासिक दृष्टि से ह्रासशील और विकासशील शक्तियों का संघर्ष दिखाया जाता है और इस प्रकार उपन्यासकार का उद्देश्य विकासशील तत्त्वों को उभार कर समाज के विकास में सहायता देना होता है। आदर्शवादियों और सामाजिक समस्याओं को सुलझाने वाले उपन्यासों से इनका अन्तर इस प्रकार समझा जा सकता है कि इनकी दृष्टि व्यवस्था पर रहती है और एक ही पात्र को ये लोग भिन्न-भिन्न आर्थिक दशाओं में परस्पर विरोधी विचारधारा और कृत्यों से युक्त दिखाते हैं। उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक होता है और उसका परिणाम यह निकलता है कि कथानक, पात्र आदि सभी में दूसरों से वह स्पष्टतः भिन्न हो जाते हैं।

शुद्ध यथार्थवादी उपन्यासकार शुद्ध वाह्य तथ्यों पर आधारित रहता है। वह सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने का प्रयत्न करता है और इसके लिए जिस शैली को अपनाता है उसको यथार्थवाद की शैली कहा जाता है। यथार्थवादी उपन्यासों में युगसत्य वर्णित होता है। युगसत्य, जैसा कि आदर्शवादी मानते हैं, इस वर्ग के दार्शनिकों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता। मार्क्स सत्य को शाश्वत न मानकर परिवर्तनशील मानता था; वह देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। हैवर्ड फास्ट ने इसीलिए कहा था—

"The great poem has become a rather nice poem and what it will be in future twenty or fifty years from now no one can say."

आदर्शवादी इस जगत् से परे सत्य की मान्यता स्वीकार करता है और यथार्थवादी इस जगत् से परे किसी सत्य का पूर्ण विरोध करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आदर्शवाद में ही साहित्यिक कल्पना के लिए स्थान है,

यथार्थवाद में भी इसके लिए स्थान है और पूरा-पूरा स्थान है, किन्तु यथार्थवादियों की कल्पना वही होती है जिसकी पूर्ण परिणिति इसी जीवन में, इसी भौतिक जगत् में होना सम्भव हो। हम यथार्थवाद में उन अनुभूतियों को स्थान नहीं दे सकते जिन्हें इस ऐन्द्रिक शरीर द्वारा न अनुभव किया जा सके। एक उदाहरण देने पर बात स्पष्ट हो जायगी।

आज वर्गविहीन समाज की कल्पना यथार्थवादी मानी जायगी, क्योंकि उसका सम्बन्ध इतिहास, जगत् और हमारे भौतिक जीवन से है, किन्तु परलोक की कल्पना और उसका वर्णन इसलिए आदर्शवादी और अयथार्थवादी है कि उसकी अनुभूति इस शरीर द्वारा नहीं हो सकती है।

वर्तमान यथार्थ को और अधिक सुन्दर बनाने की कल्पना भी यथार्थ के अन्तर्गत आती है। अतः सुन्दर और सुखदायी भविष्य का चित्रण आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों की सीमा में आता है। वह आदर्शवादी है या यथार्थवादी इसका निर्णय ऊपर लिखी कसौटी पर कस कर किया जायगा।

आदर्शोन्मुख यथार्थवादी—इसका विवेचन इसी प्रकरण में पीछे हो चुका है। यह प्रेमचन्दजी की मान्यता है। वास्तव में इसे यथार्थवाद कहना ही अधिक समीचीन है। जो लेखक प्रगतिवादी मान्यता को लेकर चलते हैं, वह भी मानव के उज्ज्वल भविष्य में विश्वास करते हैं। आदर्श भी तो जीवन का यथार्थ है, अतः 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' वही मान्यता है जिसे गोर्की ने 'यथार्थवाद' की संज्ञा दी।

अति यथार्थवादी—अंग्रेजी के सुपररियलिज्म का अनुवाद 'अति यथार्थवाद' है। अन्य अनेक वादों के समान इसका उद्गम भी फ्रान्स में हुआ। प्रथम महायुद्ध की परिसमाप्ति पर रोमांटिक कवियों के पलायनवाद और प्राकृतवादियों के बाध्य-यथार्थ को लेकर इस नवीन वाद का जन्म हुआ। यह सन् १९२२ से खुलकर प्रयुक्त होने लगा। हेगेल की दार्शनिक मान्यताओं को आधार बनाकर और उसके प्रसिद्ध 'द्वन्द्ववाद' को साहित्यिक जामा पहनाकर 'अति यथार्थवाद' की प्राण-प्रतिष्ठा की गई।

हर्बर्ट रीड ने बताया कि हेगेल के द्वन्द्ववाद का साहित्यिक प्रयोग अति यथार्थवाद है। इसके सहारे इन लोगों ने विद्रोही कला को युक्तिसंगत ठहराया। इन लोगों ने अब तक चली आती हुई साहित्यिक परम्पराओं को अनुचित बताया और कहा कि कला को एकांतिक रूप से बुद्धिवादी बनाना अनुचित है। इस मान्यता को लेकर चलने वालों ने बौद्धिकता के स्थान पर काल्पनिकता को अधिक महत्व दिया। उन्होंने कला को पूर्ण स्वतन्त्रता (?) देना आवश्यक माना और कहा कि कलाकार की चिन्तनधारा और शिल्प पर

कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। 'Encyclopedia Americana' (Vol. 27, p. 90) में इस सम्बन्ध में बताया गया है—

"Surrealism term to designate art expressions proceeding from those levels of consciousness not ordinarily associated with rational every day life. The surrealists are interested in the fantastic, the irrational, the marvelous, and they feel that an inherent beauty lies in the jolt given to the senses upon perceiving works done in this manner."

फ्रान्स में आन्द्रे ब्रेतन और ज्याँ पॉल सार्त्र इस मत के सूत्रधार माने जाते हैं। उनके अनुसार विचार की अपेक्षा वस्तु का प्राधान्य स्वीकार होना आवश्यक है। हेगेल के द्वन्द्ववाद को वे जीवन और आदर्श दोनों के लिए स्वीकृति देने का आग्रह करते हैं; वे इतिहास के भौतिकवादी दृष्टिकोण और सामाजिक क्रान्ति को अनावश्यक मान कर चलते हैं। मार्क्सवाद के आर्थिक सम्बन्धों के सिद्धान्त को भ्रान्त मानकर भी वे पूर्ण मानवतावादी हैं। मानव के सुखद भविष्य की कल्पना उनकी समझ में उचित है। वर्तमान व्यवस्था से तो ये लोग भी सन्तुष्ट नहीं हैं, किन्तु क्रान्ति की अपेक्षा ध्वंस में इनका अधिक विश्वास है।

उनकी मान्यताओं को जब हम साकार होते देखते हैं तो उसे असामाजिक और अस्वस्थ कहना पड़ता है। इस साहित्य में और विशेषतः उपन्यासों में नारी शरीर का खुला वर्णन किया जाता है। इन उपन्यासों में यौन प्रश्नों को बारबार उठाया जाता है और घृणित तथा वर्जित को बारबार पाठकों की दृष्टि के सामने प्रस्तुत किया जाता है। हिन्दी में इस परम्परा का पालन करने के लिए किन्हीं द्वारिका प्रसाद एम० ए० नामक लेखक ने 'घेरे के बाहर' उपन्यास लिख दिया है। इसमें भाई-बहन की रति का खुला और घृणात्मक वर्णन मिलता है। 'कुमार' और 'नीरा' के माध्यम से लेखक ने अपनी दिमागी ऐय्याशी का वर्णन किया है। इस प्रकार का साहित्य समाज को ठोकर भी नहीं दे पाता है, वरन् रीतिकाल के विपरीत-रति-वर्णन के समान रसिकों को और भी उभारता और सामाजिक मान्यताओं तथा आदर्शों को रौंद कर विकृतियों का सृजन करता है।

मनोवैज्ञानिक—इस कोटि के उपन्यासों में उपन्यासकार किसी विकृत पात्र को लेकर उसके माध्यम से मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का कलात्मक रूप प्रस्तुत करता है। अज्ञेय, जोशी, जैनेन्द्र आदि के उपन्यास इस कोटि में आते हैं। ये उपन्यासकार फ्रायड, एडलर और जुंग प्रभृति मनोविज्ञानशास्त्रियों की सिद्धान्त पुस्तकों और उन्मुक्त विचार-प्रवाह के अन्तर्गत लिये गये बयानों के अभिलेखों आदि को आधार बनाकर असाधारण पात्रों की मानसिक दशा का

चित्रण करते हैं और मनोविज्ञानशास्त्रियों के समान शैलियों का प्रयोग करके पात्रों की कामकुण्ठाओं का रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न करते हैं। डा० प्रताप नारायण टण्डन बताते हैं—

"मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में बौद्धिक अनुभूतियों और ग्रन्थियों की विवृति की चेष्टा रहती है। किसी समाज के विविध पक्षों का सर्वांगीण चित्रण अथवा विवेचन उसका उद्देश्य नहीं रहता। उसका आधार नवीन नैतिक दृष्टिकोण होता है, जो प्रायः आस्था-अनास्था के संघर्ष और उसके फलस्वरूप निर्धारित नये मान होते हैं। बौद्धिक जटिलताओं का निदर्शन और वैयक्तिक चेतना को जागरित करने के कारण स्वतः उसका एक संघर्षात्मक स्थिति में पड़कर विकास होता है। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में मानव चरित्र और उसकी प्रतिक्रियात्मक सम्भावनाओं के सूक्ष्म अंकन को ही प्रथमिकता दी जाती है।"[1]

इन उपन्यासों में उपन्यासकारों का उद्देश्य कहानी सुनाना नहीं होता, वरन् मनस् जगत् के रहस्यों का उद्घाटन करके सत्य का साक्षात्कार करना तथा दूसरों को कराना होता है। ऐसा करने में इन उपन्यासों की शैली अन्य उपन्यासों से भिन्न हो जाती है। ये उपन्यास कथा की एकसूत्रता को नहीं निभा पाते। इनके कथानक उखड़े-उखड़े होते हैं। पात्र कम होते हैं, घटनाओं की बहुलता न होकर पात्रों की मानसिक दशाओं, कुण्ठाओं, अनुभूतियों, विवशताओं, मानसिक विकृतियों आदि का सूक्ष्म तथा विस्तृत विवेचन होता है। घटना प्रधान उपन्यास के लिए जिस कथन या इशारे का कोई मूल्य नहीं होता, मनोविज्ञानशास्त्री की दृष्टि में उसका भारी महत्त्व हो जाता है और मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार उसको आधार-सूत्र मानकर आगे बढ़ता है और सारे चरित्र का विश्लेषण उसी तथ्य के आधार पर कर देता है। 'परख' की भूमिका में जैनेन्द्रजी ने स्वयं अपनी कहानी की असम्बद्धता का जिक्र किया है—

"मैंने जगह-जगह कहानी के तार की कड़ियाँ तोड़ दी हैं। वहाँ पाठक को थोड़ा कूदना पड़ता है और मैं समझता हूँ, पाठक के लिए यह थोड़ा अभ्यास वांछनीय होता है—अच्छा ही लगता है।"

इन उपन्यासों को दूसरे उद्देश्य से लिखे गये उपन्यासों से आसामी से पहचान कर अलग किया जा सकता है।

आंचलिक—इन उपन्यासों में किसी अंचल विशेष की संस्कृति का चित्रण किया जाता है। उस क्षेत्र या जनपद के स्थानों, वृक्षों, मेवों, तरकारियों, पशुओं, पक्षियों, सवारियों, आवासों, विचरण स्थानों, भोज्य पदार्थों, पेयों, वस्त्राभूषणों, स्नानविधियों, केश-विन्यासों, गंध-द्रव्यों तथा अन्य शृंगार

---

१. 'हिन्दी उपन्यास में कथाशिल्प का विकास', पृष्ठ २५६।

प्रसाधनों, बैठने-सोने और लिखने के उपकरणों, परिवार व्यवस्थाओं, सामान्य जीवनचर्याओं, शिष्टाचारों, अभिवादनों, संस्कारों, सामाजिक व्यवस्थाओं, वर्ण व्यवस्थाओं, आश्रमों, मनोविनोद के साधनों, खेल-कूदों, क्रीड़ाओं, लोक-विधाओं, ललित कलाओं, त्यौहारों, पर्वों, उत्सवों, लोकाचारों, विश्वासों, मान्यताओं, पौराणिक प्रसंगों, आस्थाओं, शकुन-अपशकुनों, व्यापारिक साधनों और रीतियों, व्यवसायों, व्यावसायिक वर्गों, भिखारियों, अछूतों, राजनीतिक मान्यताओं, साम्प्रदायिक विचारों, दार्शनिक विचारों तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोणों आदि तथ्यों का विश्लेषण और प्रत्यक्ष या परोक्ष चित्रण किया जाता है।

इन उपन्यासों की कथा अधिकांशत: वर्णनात्मक या ऐतिहासिक शैली में लिखी जाती है और इसका मुख्य कारण यह होता है कि इस स्थान का वातावरण उत्पन्न करने का उद्देश्य अन्य किसी शैली से पूरा नहीं हो सकता है। आत्मकथात्मक शैली में उस उद्देश्य की पूर्ति में कठिनाई पड़ती है और अन्य शैलियाँ तो इसके लिए पूर्णत: असफल सिद्ध होती हैं।

इन उपन्यासों में सूक्ष्म विवेचन-तन्तु चलता है और उपन्यासकार को इस क्षेत्र से पूर्ण ज्ञान रखना पड़ना है। इस सूक्ष्मता का परिचय आपको फणीश्वर नाथ 'रेणु' के आंचलिक उपन्यास 'परती परिकथा' की कुछ पंक्तियों से चल जायगा। देखिए—

"परानपुर की प्रतिष्ठा सारे जिले में है। सबसे उन्नत गाँव समझा जाता है। इस इलाके में सबसे उन्नत गाँव है परानपुर। किन्तु जिस तरह बाँस बढ़ते-बढ़ते अन्त में झुक जाता है, उसी तरह यह गाँव भी झुका है।.......लोग यहाँ दस वर्ष के लड़के से भी बात करते समय अपना पाकेट एक बार टटोल कर देख लेते हैं। फारबिसगंज की किसी दुकान में चले जाइए, ज्यों ही मालूम हुआ कि परानपुर का गाहक आया है, दुकानदार अपनी बिखरी हुई चीजों को समेटना शुरू कर देता है।........हाकिम हुक्काम भी यहाँ के लोगों से बातें करते समय इस बात का ख्याल रखते हैं कि सिर्फ एक गाँव में एक ही वर्ष के अन्दर सरकार के तीन-तीन विभागों के अधिकारियों की आँखों में धूल झौंकी गई।...........ट्रेन के चैकर जानते हैं, परानपुर के लोग टिकट लेकर गाड़ी में नहीं चलते।"

व्यावहारिक जीवन का सच्चा चित्र खींचना ही आंचलिक उपन्यासों का उद्देश्य होता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आंचलिक उपन्यास अन्य उपन्यासों से भिन्न हो जाता है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए भाषा-शैली का भी ध्यान आवश्यक होता है। शब्दावली, वाक्य-विन्यास, लोकोक्ति-मुहावरे तथा उच्चारण-विधि आदि के द्वारा वातावरण की सृष्टि आवश्यक है।

मनोरंजन प्रधान—मनोरंजन प्रधान उपन्यासों में घटना प्रधान उपन्यास

तथा हास्य-व्यंग्य से युक्त दोनों प्रकार के आते हैं। ऐयारी, तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों की संख्या बहुत है और इनकी परम्परा भी प्राचीन है। चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता सन्तति, भूतनाथ आदि उपन्यासों के कारण हिन्दी को जो प्रसिद्धि और अहिन्दी भाषा-भाषियों का सहयोग मिला है, वह कभी भी भुलाया नहीं जा सकता है। इन उपन्यासों का सबसे बड़ा गुण निरन्तर जिज्ञासा को बढ़ाते जाना होता है और अन्त में यकायक अप्रत्याशित सत्य का उद्घाटन किया जाता है। जिस व्यक्ति पर पूरा-पूरा विश्वास होता है, वही दोषी निकल बैठता है और थोड़ी देर के लिए पाठकों को आश्चर्यान्वित कर देता है।

इन उपन्यासों का दूसरा गुण आश्चर्यपूर्ण घटनाओं की आयोजना माना जा सकता है। तिलिस्मी उपन्यासों में ऐयारी का बटुआ, लखलखा, वेश बदलने का सामान और पत्थर की एक शिला के नीचे अँधेरी सीढ़ियाँ जो किसी भारी महल, उद्यान या किले में पहुँचती हैं—वहाँ पीने के लिए मीठे पानी के चश्मे और खाने के लिए मेवों के पेड़ों की व्यवस्था सदैव रहती है। तिलिस्म को तोड़ने वाले का नाम तथा पता और तिलिस्म को तोड़ने की क्रिया पहले से ही किसी पुस्तक में लिखी रहती है और पुस्तक को ऐसे स्थान पर रखा जाता है कि वह तिलिस्म तोड़ने वाले को ही मिले। पूर्व निश्चित व्यक्ति ही तिलिस्म को तोड़ता है और उसमें छिपाये गये धन और जवाहिरात आदि को प्राप्त करता है। कभी-कभी तिलिस्म के साथ ही साथ राजा या तोड़ने वाले को कोई सुन्दर राजकुमारी भी मिल जाती है।

इन उपन्यासों के लेखकों के मन में भी कुछ उद्देश्य रहते थे। देवकी नन्दन खत्री ने अपने उपन्यासों का एक अन्य उद्देश्य भी बताया है—

"ऐसी किताबों को पढ़ने वाला जल्दी किसी के धोखे में न पड़ेगा।"

दूसरे प्रकार के उपन्यास हास्य-व्यंग्यात्मक हैं। इनमें पाठकों को हँसाने की क्षमता होती है। इनमें शुद्ध हास्य और सोद्देश्य हास्य या व्यंग्य द्वारा पाठकों का मनोविनोद करने का प्रयत्न किया जाता है। अच्छे हास्य-कार की कसौटी का निर्माण करते हुए थैकरे ने लिखा है—

"The humorous writer professes to awaken and direct your love, your pity, your kindness, your scorn for untruth, pretension, imposture for linderness for a weak; the poor, the oppressed, the unhappy. A literary man of humorous turn is pretty sure to be of philanthropic nature, to have a great sensibility to be easily moved to pain or pleasure, keenly to appreciate the varieties of temper of people round about him and sympathise in their laughter, love, amusement

and tears. The best honour is that which is flavoured throughout with loveliness and kindness."

हास्य का मनुष्य के स्वास्थ्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिन उपन्यासों का उद्देश्य हास्य-व्यंग्य की अवतावरण करना है, उन्हें गम्भीर रुचि वाले साहित्यकार और पाठक अच्छी दृष्टि से नहीं देखते और न इस साहित्य को उतना सम्मान देते हैं, जितना कि देना चाहिए। हिन्दी में शुद्ध हास्य-व्यंग्य युक्त उपन्यासों की कोई स्वस्थ परम्परा नहीं है। पाँच-दस उपन्यास ही ऐसे मिलेंगे जो अच्छा हास्य प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। जी० पी० श्रीवास्तव, निराला, वर्माजी, सरयू पंडा, नागर, उग्र, कृष्णचन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, अन्नपूर्णानन्द आदि लेखकों ने कुछ हास्य-व्यंग्यपूर्ण उपन्यास लिखे हैं।

जिन उपन्यासाकारों का उद्देश्य हास्य उत्पन्न करना होता है, वे भाषा, सम्वाद-शैली और घटना-संघटन इस प्रकार का करते हैं कि हास्य उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का निर्माण हो सके। अंग्रेजी हास्य में सबसे अच्छी स्थिति वह समझी जाती है जब कोई व्यक्ति सारे हास्य का केन्द्र स्वयं अपने को बनाता है और दूसरों को प्रसन्न करने के लिए अपने पर चोटें करता चलता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण निबन्ध-राजकुमार चार्ल्स लैम्ब है। हिन्दी निबन्धकारों में डा० गुलाबराय भी इसी कोटि में आते हैं। ऐसे साहित्य को पढ़कर तबियत हल्की हो जाती है और मन का भारीपन बिलकुल ही हट जाता है। जी० पी० श्रीवास्तव का 'लतखोरीलाल' आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। उनका हास्य भी इसी कोटि में आता है। हिन्दी में हास्य-प्रधान उच्चकोटि की रचनाओं का नितान्त अभाव है। कुछ कृती साहित्यकारों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

समाज-सुधारक—प्रेमचन्द ने उपन्यास क्षेत्र में प्रवेश कर हिन्दू और मुसलमान गृहस्थियों की समस्याओं और रुढ़ियों आदि को सुलझाने का बीड़ा उठाया। प्रेमचन्द से पूर्व किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने भी इस ओर प्रयत्न किया था, किन्तु 'सेवासदन' के प्रकाशन से ही समस्यामूलक सुधारवादी उपन्यासों की श्रृंखला प्रारम्भ हुई।

समाज के निर्माण काल से लेकर अब तक अनेक समस्याएँ उठी हैं और उनका समाधान खोजने में तथा दूर करने में ही हमारा समाज आगे बढ़ा है। आज भी समाज के सामने अनेक प्रश्नों का निराकरण खोजना प्रत्येक सुधारक, विचारक और साहित्यकार का कर्त्तव्य है। हमारे समाज में अनेक बुराइयाँ हैं और आज का जागरूक उपन्यासकार, जो समाज के चित्रण को ही अपने उपन्यासों का उद्देश्य मानता है, इन समस्याओं से अपने उपन्यासों को किस प्रकार अछूता रख सकता है!

आज के समाज में अछूतों, विधवाओं, सम्प्रदायों, वेश्याओं, विवाहों, परिवारों आदि की अनेक समस्याएँ उलझी हुई हैं। एक ओर जहाँ शहरों में शहरी जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रश्न आते हैं, वहाँ दूसरी ओर ग्रामीण समाज में वहाँ की अनेक गुत्थियाँ रहती हैं। विज्ञान के विकास से उत्पन्न अनेक व्यावसायिक और औद्योगिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। जमींदारियों, जागीदारियों और रियासतों के समाप्त होने से जहाँ कुछ समस्याएँ घटी हैं, वहाँ अनेक दूसरी समस्याएँ जनसंख्या वृद्धि, अन्न की कमी, आर्थिक संकट आदि की उपस्थित हुई हैं। अशिक्षा की समस्या ही अब तक थी, अब इसके साथ ही साथ शिक्षितों को रोजगार दिलाने की दूसरी समस्या उपस्थित हुई है। शहरों में सर्वहारा और पूँजीवादी वर्गों के संघर्ष से उत्पन्न अनेक समस्याओं का सूत्रपात्र हो रहा है। अंग्रेजी और हिन्दी में कौन राष्ट्रभाषा हो, यह एक ज्वलन्त प्रश्न बन गया है।

इन सारे प्रश्नों को आज का उपन्यास समेट कर चलता है। कलाकार अत्यन्त संवेदनशील और भावुक होता है। जरा भी कहीं कोई गड़बड़ी होती है तो उसकी चेतना क्षुब्ध हो उठती है और उसकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उसकी कला में होना अनिवार्य हो जाता है। इस सम्बन्ध में हमें राल्फ फाक्स से सहमत होना पड़ता है, जब वे कहते हैं—

"Can a novelist remain indifferent to the problems of the world in which he lives ? can he shut his ears to the clamour of preparing war, his eyes to the state of his country, can he keep his mouth closed when he sees horror around him and life being denied daily in the name of a state pledged to maintain the sanctity of pri vate, greed ?"

समाज-सुधारक उपन्यासकार समस्याओं और समाज के उन अंगों से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करते हैं जिनका चित्रण उन्हें अपने उपन्यासों में करना होता है। इस उपन्यासकार को पात्रों, घटनाओं और स्थितियों को जैसा चाहे वैसा बदलने का अधिकार नहीं रहता। समस्या समाज में जिस प्रकार की और जैसी उपस्थित है, उसे उसी रूप में प्रस्तुत करना होता है। कोई-कोई उपन्यासकार समस्याओं को प्रस्तुत करके उनका हल भी दे देते हैं और दूसरे केवल समस्याओं को प्रस्तुत करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं—उनका कोई हल नहीं देते। इस कोटि के उपन्यासों का उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना मात्र नहीं होता। जिस समस्या को उसे उठाना होता है, उसे वह पहले सामने रख लेता है, तब फिर उसी के अनुरूप आवश्यक सामग्री एकत्रित करता है। इस उपन्यास

में ऐसी कथाओं के लिए कोई स्थान नहीं होता, जो उसके प्रभाव की तीव्रता को कम कर दें या पाठकों का ध्यान मुख्य प्रश्न पर जाने से रोकें।

'कंकाल' में प्रसाद ने समाज की मान्यताओं के मूल पर चोट की है और उन्हें एक नये ढंग से सोचने के लिए मजबूर किया है। इस वर्ग में आने वाले उपन्यासकार प्रसाद, कौशिक, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, निराला यआदि माने जा सकते हैं। आजकल भी इस पर काफी लिखा जा रहा है।

इस समग्र विवेचन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि आज के युग का सशक्त और सफल अभिव्यक्ति-साधन उपन्यास है और आज के युग के प्रश्नों का वाहक बन गया है। उपन्यासकार उपन्यास में एक दृष्टिकोण-विशेष को लेकर चलता है। आज उपन्यास को लोग केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं पढ़ते ; आज के उपन्यासकार से वे मनोरंजन के अतिरिक्त कुछ और भी चाहते हैं और यह 'कुछ और' ही आज के उपन्यास का उद्देश्य है, जिसके अभाव में आज का उपन्यास टिक नहीं सकता।

द्वितीय खण्ड

६. ऐतिहासिक उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यास के सम्बन्ध में दो बातें जानना विशेष महत्त्वपूर्ण है। पहली बात तो यह कि इतिहास किसे कहते हैं और दूसरी बात यह कि उपन्यास क्या होता है ? और अन्त में यह कि इतिहास और उपन्यास के किस प्रकार के संयोग को ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा दी गई है ? इस स्थान पर इतिहास के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मत जान लेना अनुचित न होगा।

(१) कार्लायल का मत—

"इतिहास अफवाहों का निचोड़ है।"

(२) गिबन का मत—

"मानव जाति के अपराध, मूर्खताएँ और विपत्तियाँ ही इतिहास बनती हैं, इतिहास में इनके अतिरिक्त सम्भवतः और कुछ नहीं होता।"

(३) नेपोलियन का मत—

"एक मानी हुई कहानी के अतिरिक्त इतिहास और कुछ नहीं है।"

(४) इमर्सन का मत—

"कुछ लोगों के जीवन चरित्र को ही इतिहास कह दिया जाता है। वरना इसको छोड़कर और कुछ इतिहास के नाम पर बचता ही नहीं है।"

(५) श्लैगल का मत—

"इतिहास लेखक वह भविष्य वक्ता है जो मुड़-मुड़ कर पीछे की ओर देखता चलता।"

(३) एच० जी० वैल्स का मत—

"मानव-इतिहास विचारों का इतिहास है।"

(७) क्रोचे का मत—

"सारा इतिहास सम सामायिक इतिहास है।"

(८) आदर्शवादी मत—

"इतिहास वर्तमान परिस्थितियों में किया गया अतीत का पुनर्निर्माण है।"

(९) कॉलिङ्गवुड का मत—

"वह सम्पूर्ण तथ्य जगत्, जिसका पूरा-पूरा और खुलासा अध्ययन इतिहास में होता है, उसमें अध्ययन करने वाले के सूक्ष्म मानसिक सत्यों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता है।"

इतिहास सम्बन्धी इन सारे मतों के मूल में कुछ सिद्धान्त कार्य करते दिखाई देते हैं—

(१) इतिहास कला मात्र नहीं है, वरन् वह कला तत्त्वों की अपेक्षा विज्ञान तत्त्वों से युक्त है।

(२) इतिहास में कल्पना का यथेष्ट महत्त्व है। अनेक महान ऐतिहासिक इतिहास को कल्पना की ओर ताकने वाला बताते हैं।

(३) इतिहास रूप बदल-बदल कर हमारे सामने बार-बार आता रहता है। उसमें तिथियों और नामों के अलावा और कुछ पुराना नहीं पड़ता है।

(४) इतिहास में जितनी वैज्ञानिकता बढ़ती जाती है, उतनी ही अधिक वह वस्तुपरकता कौर तटस्थता को महत्त्व देती जाती है। पूर्ण निर्वैयक्तिकता इतिहास का आदर्श स्वीकार हुआ है।

(५) पूर्ण निर्वैयक्तिकता की उपलब्धि यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।

(६) वाल्श के मतानुसार इतिहास का उद्देश्य सत्य और असत्य का निर्णय नहीं होता है, वरन् इतिहास यह बताता है कि 'क्या है और क्या अभीप्सित नहीं है'—

"Historical disputes according to this way of thinking are at the bottom concerned not with what is true or false, but with what is and what is not desirable, and fundamental historical judgement are in consequence not strictly cognitive but emotive."

(७) मार्क्स की मान्यता है कि इतिहास में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। इतिहास के कुछ अपने नियम हैं जिनसे इतिहास सदैव संचालित रहता है। इतिहास के इन नियमों के आधार पर ही मार्क्स ने भविष्यवाणियाँ की थीं (यद्यपि इनमें से अधिकांश असत्य सिद्ध हो चुकी हैं)। इससे यह भी सिद्ध है कि जिस विज्ञान के अन्तर्गत बिना प्रत्यक्ष अनुभव और ज्ञान के भविष्यवाणी की जाती है, वह कितनी सीमा तक 'विज्ञान' (?) कहा जा सकता है।

(८) इतिहासकार का अपना दृष्टिकोण भी रहता है। इतिहास को देखने की उसकी एक अपनी दृष्टि होती है, अतः कभी भी उपन्यास को विज्ञान के समान स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अब प्रश्न पैदा होता है कि इतिहास यदि शुद्ध विज्ञान नहीं है तो इतिहास से उसकी सीमा-रेखा कहाँ मिलती है ? साथ ही, यह भी प्रश्न पैदा होता है कि उपन्यास क्या है और उसमें ऐतिहासिक उपन्यास की भिन्नता किस

प्रकार सिद्ध होती है तथा ऐतिहासिक उपन्यास में उपन्यासकार इतिहास का कितना, किस प्रकार और कहाँ तक उपयोग करता है ?

उपन्यास मानव जीवन के अनुभवों की कहानी है। उपन्यास में पात्रों को पुरुषों और स्त्रियों के समान माना जाता है और पाठकों से उपन्यासकार इसी की आशा करता है। एक व्यक्ति की अनुभूतियों और संवेदनाओं का ऐसा वर्णन होता है कि उसमें सार्वभौमिक और सार्वकालिक अपील पैदा हो जाती है। इन्हीं बातों को 'The Evolution of the English Novel' में बताया गया है।[1] उपन्यास में कल्पना का प्राधान्य होता है और इतिहास में भौतिक सचाई को प्रस्तुत करने का दावा रहता है। ऐतिहासिक सामग्री और औपन्यासिक कला के परिणय का परिणाम होता है ऐतिहासिक उपन्यास और इस परिणय का पुरोहित होता है उपन्यासकार। ऐतिहासिक उपन्यास अपने उपन्यास की सत्यता प्रकट करने के लिए कुछ उपकरणों की सहायता लेता है, वे उपकरण ये हो सकते हैं—

(१) प्राचीन शिलालेख,
(२) प्राचीन मुद्राएँ,
(३) परवाने,
(४) स्मारक,
(५) ताम्रपत्र,
(६) यात्रियों की साक्षियाँ और
(७) प्राचीन ग्रन्थ आदि।

इतिहासकार के सामने एक सीमा-रेखा खिंची होती है जिससे बाहर वह नहीं जा सकता और जाने पर उसका ज्ञान दूषित और अग्राह्य मान लिया जाता है। वह भावना को स्थान नहीं दे सकेगा, उसका आधार तो बुद्धि

---

1. "The novel is the story of an experience in human life under stress of emotion. It demands interest in man as man and woman as woman; it demands a sense of the universality of the interest in the emotion of a single individual; it demands a conviction that if that emotion be real and intense and true, the life is a typical life, and its portrayal matter for the concern of all mankind." ('The Evolution of the English Novel' : F.H. Stoddard, p. 90.)

है। भावना के अभाव में कल्पना को इतिहास में स्थान नहीं मिलता। वह प्राप्त तथ्यों को आधार मान कर आगे बढ़ता है। इतिहासकार जब अपने क्षेत्र को विस्तृत करके कल्पना को स्थान दे देता है, तभी वह इतिहासकार के पवित्र कर्त्तव्य से च्युत होकर इतिहासकार नहीं रहता। इतिहास में तथ्यों की शोध बुद्धि के आधार पर होती है, अत: उसमें नीरसता का होना अनिवार्य माना जा सकता है। जहाँ उपन्यासकार इतिहास को स्वीकार करके इस नीरसता और शुष्कता को दूर करने का प्रयत्न करता है, वहीं वह इतिहास में उपन्यास का समावेश करके ऐतिहासिक उपन्यास की सृष्टि कर रहा होता है। इतिहासकार उपलब्ध तथ्यों से ही काम चलाता है, जब कि ऐतिहासिक उपन्यासकार कल्पित तथ्यों को भी स्वीकार करके एकात्मता की सृष्टि कर सकता है। इतिहास केवल देखता और दूसरों को दिखाता है, जब कि ऐतिहासिक उपन्यास देखता, दिखाता और नवीन का सृजन भी करता है। लेकिन यहाँ इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि ऐतिहासिक उपन्यासकार को प्रसिद्ध इतिहास को बदलने का कोई अधिकार नहीं है। इतिहास की किसी ऐसी घटना को वह परिवर्तित करके नहीं दिखा सकता जो इतिहास की मर्यादा की साक्षी और मापदण्ड हो। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वानों के मत इस प्रकार हैं—

(१) सर वाल्टर रैले का मत—

"ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रधान पात्र स्वयं ऐतिहासिक नहीं होने चाहिए।[1]"

(२) हैनिरिटा मौस्से का मत—

"ऐतिहासिक उपन्यासकार को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वह इतिहास को लँगड़ा और विकृत बना दे।"

(३) आचार्य चतुरसेन ने 'वैशाली की नगरवधू' की भूमिका में इस प्रश्न को उठाया है और लिखा है—

"पाठकों को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उपन्यास, कहानी या काव्य को पढ़कर वे ऐतिहासिक ज्ञान-अर्जन करेंगे। ऐसी पुस्तकें तो उन्हें इतिहास के स्थान पर 'इतिहास-रस' की प्राप्ति होगी।.........यह कहा जा सकता है कि उसे ऐतिहासिक उपन्यास और कथानक लिखने से पहले ऐतिहासिक विशेष सत्यों को जानना चाहिए। परन्तु यदि वह ऐसा करे तो वह कदापि कोई रचना जीवन में नहीं कर सकता, क्योंकि ऐतिहासिक-विशेष सत्यों का ज्ञान कभी भी पूरा नहीं हो सकता। उनमें गवेषणा करने वाले विद्वानों के

---

1. "The principal characters of a historical novel should not be themselves historical ?" ('English Novel'.)

द्वारा नई-नई जानकारी होते रहने से निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। फिर क्यों न साहित्यकार अपनी कहानी और उपन्यास की चिर सत्य के आधार पर, जिसमें गवेषणा की कोई गुंजायश नहीं, रचना करे........।"

(४) आचार्य शुक्ल का मत—

"जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन करने वाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्यौरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करने वाले लेखक तैयार न हों, तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं।"

(५) वृन्दावनलाला वर्मा ने अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—

(अ) "मेरी सम्मति में इतिहास के साथ खिलवाड़ करना अनुचित है। इतिहास के पूरे निर्वाह में जो कठिनाई लेखक को भुगतनी पड़ती है, उसे सर कर लेने पर जो सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता है, वह अपार है और सौन्दर्य बोध की निधि को बढ़ाता है।"[1]

(ब) "मेरा विश्वास है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने साहित्य द्वारा व्यक्ति और समाज की खासी सेवा कर सकता है—मनोरंजन के अतिरिक्त वह कुछ और भी दे सकता है, ऐसा कुछ जिसका सामाजिक मूल्य भी है, परन्तु मेरी अडिग धारणा है कि इतिहास के साथ खिलवाड़ करने का हमें बिलकुल अधिकार नहीं है।"[2]

(स) "जिन स्थलों पर इतिहास का प्रकाश नहीं पड़ सकता, उनका कल्पना द्वारा सृजन करके उपन्यास-लेखक भूली हुई या खोई हुई सचाइयों का निर्माण करता है। उनमें वही चमक-दमक आ जाती है जो इतिहास के जाने-माने तथ्यों में अवश्यमेव होती है, पर है यह कि उन तथ्यों या परम्पराओं को ताश के पत्तों का महल या क्लबघर न बना दिया जाय।"

(६) डा० रांगेय राघव का मत, जिसे उन्होंने 'मुर्दों का टीला' की भूमिका में व्यक्त किया है—

"मिस्र और एलाम, सुमेरु और मोहनजोदड़ो के दर्शनिक तत्त्वों की झलक देने का मैंने प्रयत्न किया है। उसमें मैंने विशेष ध्यान रखा है कि उस काल के अनुसार ही उस सबका वर्णन किया जाय।........आजकल हिन्दी में ऐसे बहुत से उपन्यास निकल रहे हैं जिनमें अद्भुत बातें साबित करदी जाती हैं, ऐसे अनेक उदाहरण हैं। खेद है अपको यहाँ 'दास' दासों की सी बातें करता

१. 'समालोचक', फरवरी १९५९, पृष्ठ १६२।
२. वही, पृष्ठ १६५।
३. 'आलोचना' : उपन्याम विशेषांक, पृष्ठ १८०।

मिलेगा। उसकी परिस्थिति प्रकट है। वह उस काल के शिक्षित दार्शनिकों की सी बहस नहीं कर सकता, न वह वैज्ञानिक भौतिकवाद मानता है, न द्वन्द्वात्मक-ऐतिहासिक व्याख्या ही। मैं समझता हूँ इतिहास को इतिहास की सफल झलक करके देना ठीक है, न कि अपने आपको पात्र बना कर किये-कराये पर पानी फेर देना।"

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहास का किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए। इसमें अनेक मत हैं। इन सब में हमें तो वर्माजी का मत ही अधिक समीचीन और युक्तिसंगत प्रतीत होता है, जिसमें इतिहास और कल्पनाओं का समावेश गया किया है। ऐतिहासिक प्रसिद्ध तथ्यों को तोड़ा-मोड़ा नहीं जाता और इतिहास के प्रकाश से रहित अँधेरे स्थलों पर कल्पना का रंग भी भरा जा सकता है। ऐतिहासिक उपन्यास केवल इतिहास नहीं है[1], वरन् उसकी प्रत्येक घटना और तथ्य किसी पूर्व निश्चित प्रभाव की ओर खींचते रहते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास में घटनाएँ इस प्रकार प्रस्तुत होनी चाहिए कि उनसे एक पूर्ण चित्र बन सके। यह पूर्ण चित्र जहाँ एक ओर ऐतिहासिक ज्ञान देगा वहाँ दूसरी ओर अभिव्यक्ति के माध्यम की एकता का भी अहसास कराएगा। इसके लिए आवश्यक है कि उपन्यासकार में निर्मात्री कल्पनाओं का अभाव न हो।[2]

---

1. "The historical novel is not mere history ; it is rather magnetized history in which every fact is quiveringly tendent toward some focal pole of unity." ('The Evolution of English Novel' : F. H. Stoddard.)
2. "The historical novel should present the events of history so focalized as to form a picture. In this view history is centrifugal ; the novel is centripetal. The thread of history is like a vine with tendrils stretched out, wrapping around unrelated events ; the novel is an artificial construction. History is a natural growth ; the plot of a novel is an artificial fabric. History is narrative ; the novel should be either histrionic or romantic. One essential difference exists between history and the historical novel ; and that essential difference is unity in the form—a unity developed out of the occurances of hf history by the creative imagination of the author." ('The Evolution of English Novel' : F. H. Stoddard.)

यदि ऐतिहासिक उपन्यास में वातावरण इतिहास सम्मत हो तो किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन और व्यक्तिगत संवेदनाओं पर भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखा जा सकता है।[1] इस कथा की लोकप्रियता के लिए आवश्यक है कि उस चरित्र की विशेषताऐं तथा प्रशंसायोग्य गुणों का सुन्दर वर्णन करे।

ऐतिहासिक उपन्यासकार को कितना सूक्ष्म दृष्टा और कला-पारंगत होना चाहिए, इसका विवेचन करते हुए त्रिभुवनसिंह ने 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' (पृ० १४२) में लिखा है—

"ऐतिहासिक कथा साहित्य के लिए हम ऐसे काल को ले सकते हैं जिसकी कुछ भी प्रामाणिक-समकालीन लिखित सामग्री प्राप्त है। भारतवर्ष का कुल लिखित इतिहास लगभग तीन-चार हजार वर्षों का है जिसके भीतर ही हमें ऐतिहासिक उपन्यासों की सामग्री ढूँढ़नी होगी। हमारे लिए ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय यह आवश्यक नहीं है कि हम सारे काल की सम्पूर्ण प्राप्त सामग्री का समावगाहन करें, क्योंकि यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। ऐतिहासिक सामग्री का सामान्य अध्ययन भी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामान्य अध्ययन के आधार पर जो कल्पनाएँ उपन्यासकार करेगा उनमें उपहासास्पद बातों का आ जाना भी सम्भव है। उपन्यासकार को ध्यान रखना चाहिए कि हमारी एक-एक पंक्ति पर एक बड़ा निष्ठुर मर्मज्ञ समूह पैनी दृष्टि से देख रहा है। हमारी जरा भी गल्ती जो सहने के लिए तैयार नहीं है। कृतिकार को स्वतन्त्रता है कि वह जिस ऐतिहासिक चरित्र को चाहे आकर्षक रूप में रख सकता है, परन्तु उसके लिए तत्कालीन देश और काल के बारे में जितनी भी ज्ञातव्य बातें हैं, उन सबका समन्वय उसे चरित्र के विकास में दिखलाना आवश्यक ही नहीं है, अनिवार्य भी है।"

ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की अनेक शैलियाँ प्रचलित हैं। इनमें से मुख्य-मुख्य का वर्णन नीचे किया जाता है—

(१) इतिहास के किसी व्यक्ति विशेष (राजा, सम्राट् या सामन्त

---

1. "It is a record of individual life, of individual emotion, in circumstances and times of historical interest. For its making two things are requisite,—that there be a conception of, and a fondness for, the facts and spirit of history; and that there be a knowledge of, and an appreciation of, the importance of individual life." ('The Evolution of the English Novel' : F. H. Stoddard, p. 87.)

आदि) या बात से प्रभावित होकर जब कलाकार अपने को रोक नहीं पाता और उसे कला के माध्यम से दूसरों तक पहुँचाने के लिए मजबूर हो जाता है। उसके हृदय में श्रद्धा का भाव होता है। श्रद्धा सामाजिक भाव है—वैयक्तिक नहीं। हम जिसे श्रद्धा करते हैं उसके गुणों का बखान, जहाँ थोड़ा सा भी अवसर मिलता है, करने लगते हैं। इसी प्रकार उपन्यासकार भी उस व्यक्ति विशेष का अपने उपन्यास में वर्णन करता है। इसमें उस व्यक्ति विशेष को आधार बनाकर ही सारा कथानक आगे बढ़ता है और उस पात्र के साथ ही पाठकों को बाँध दिया जाता है। 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' इसका उदाहरण है।

(२) दूसरे कलाकार प्राचीनकाल की समस्या को उठा लेते हैं। यदि कोई प्राचीन समस्या जिसका आज भी महत्व हो, नहीं मिलती तो उपन्यासकार वर्तमान की ओर झुकता है और वर्तमान काल से किसी युग प्रभावकारी समस्या को लेकर आगे आता है और फिर इतिहास की शोध करके उसके लिए उपयुक्त काल और व्यक्ति आदि की योजना करता है; तब फिर उन पात्रों के माध्यम से उस प्रश्न को प्रस्तुत कराता है। ये उपन्यास अत्यन्त ही कमजोर तथा आधुनिक विचारों से लदे हुए होते हैं। इसके उदाहरण यशपाल और राहुलजी के उपन्यास हैं जिनमें प्राचीन वातावरण में मार्क्सवाद की सीख दी गई है।

(३) तीसरे वे उपन्यासकार हैं जो घटना तो प्राचीन ले लेते हैं किन्तु उसके विश्लेषण में नवीनता उत्पन्न करते हैं। इस पकड़ में घटना और व्यक्ति दोनों आ सकते हैं और आ जाते हैं। मुन्शी, रांगेय राघव और आचार्य चतुरसेन इसी कोटि में आते हैं।

(४) इस वर्ग के उपन्यासकार उपन्यास की अपेक्षा सच्चा इतिहास देना ही अधिक अच्छा समझते हैं। वे इतिहास को न मरोड़ना चाहते हैं और न प्रसिद्ध पात्रों के चरित्रों का वर्णन कल्पना द्वारा करते हैं। वृन्दावनलाल वर्मा, सत्यकेतु विद्यालंकार आदि इस वर्ग के महारथी हैं।

हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा पं० किशोरीलाल गोस्वामी के 'तारा' नामक उपन्यास से प्रारम्भ हुई। उस उपन्यास में पात्र ऐतिहासिक हैं किन्तु वातावरण की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। 'तारा' से हिन्दी पाठक सन्तुष्ट न हुए और बंगला तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं के ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुवाद किये गये। इन अनुवादों में दुर्गेशनन्दिनी, चन्द्रशेखर, देवी चौधरानी तथा आनन्द मठ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

मौलिक उपन्यासों की परम्परा में 'तारा' के पश्चात् मिश्रबन्धुओं के 'विक्रमादित्य' और 'पुष्यमित्र' आते हैं। 'तारा' की अपेक्षा इन उपन्यासों को

अधिक सफलता मिली। इनमें भारतीय गौरव की रक्षा की गई है तथा इन्हें पढ़कर इतिहास के एक गुजरे काल का चित्र सामने आ जाता है। इनमें ऐतिहासिक तथ्यों का ध्यान रखा गया है तथा भाषा, भाव, विचार और पात्रों आदि के द्वारा इतिहास सिद्ध अनुभूतियों की व्यंजना कराई गई है। यद्यपि लेखकों ने उन्हें स्वाभाविक बनाने का भरसक प्रयत्न किया है, फिर भी इनको पढ़कर कुछ बनावटीपन की सी बू आती है।

इसके पश्चात् 'प्रसाद युग' आता है, जिसमें अन्धकारमय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों का सुन्दर अंकन है। उन्होंने इतिहास की स्वयं रचना की और तब उसको आधार बनाकर अपने नाटक लिखे। नाटकों के द्वारा उन्होंने प्राचीन संस्कृति और गौरव को पुनर्स्थापित किया। अपने अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' में वह शुङ्ग संस्कृति का चित्रण कर रहे थे। प्रसादजी के पश्चात् ऐतिहासिक उपन्यासों और उपन्यासकारों के दर्शन होने प्रारम्भ होते हैं और इस क्षेत्र में कुछ बड़े और कुछ छोटे अनेक नक्षत्र चमकते दिखाई देते हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, भगवतशरण उपाध्याय और यशपाल के नाम इस क्षेत्र में यश प्राप्त कर चुके हैं।

वर्माजी ने मध्यकालीन सामन्ती संस्कृति युक्त बुन्देलखण्ड को अपने उपन्यासों द्वारा सजीव किया है। उन्हें इस प्रकार के उपन्यास लिखने की प्रेरणा सर वाल्टर स्कॉट से मिली थी। उन्होंने उसी परम्परा को निभाया और आज भी निभाते चले जा रहे हैं। वर्माजी इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों और घटनाओं में तो कोई परिवर्तन नहीं करते, हाँ सामान्य और लघु पात्रों को अपने मनमुताबिक रंग देकर उपन्यास में प्राण-प्रतिष्ठा कर देते हैं। कहा जा सकता है कि वर्माजी के महान् पात्रों की अपेक्षा सामान्य पात्रों को अधिक सफलता मिली है और उनके ऐतिहासिक उपन्यासों का प्राण यही सामान्य पात्र हैं। इतिहास जिनको नहीं जानता या भुला देता है, वर्माजी उन्हीं को उठाते, धूल झाड़ते और सिंहासन पर बिठाकर चलते हैं, जैसे कचनार और दिलीपसिंह की कहानी।

वर्माजी ने स्कॉट के समान ऐतिहासिक रोमांस भी लिखे हैं और इस क्षेत्र में उनकी सुन्दर कृति 'विराटा की पद्मिनी' है। 'कचनार' और 'मृगनयनी' में रोमांस और इतिहास का सुन्दर समन्वय है। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों में 'गढ़कुण्ढार,' 'झाँसी की रानी' और 'अहिल्याबाई' का नाम लिया जा सकता है। वर्माजी के ऐसिहासिक उपन्यासों में 'झाँसी की रानी' को सर्व-श्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है। इस उपन्यास की श्रेष्ठता के कारणों में हैं उसकी कथा, पात्रों की सजीवता और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण, इतिहास के

पृष्ठों में अंकित न हो सकने वाले उनके चरित्र के वे अंश जो उन्हें सरस, भावुक और मानवता के गुणों से ओतप्रोत बनाते हैं। यद्यपि कुछ पात्र ऐसे भी हैं जिनका साक्षी इतिहास नहीं है, किन्तु इन पात्रों को भी ऐसे परिवेष्ठन में प्रस्तुत किया गया है कि वे इतिहास में स्थान पाने के अधिकारी हो गये हैं। कहा जाता है कि इतिहास में नाम, स्थान और तिथियों के अतिरिक्त और कुछ सत्य नहीं होता और साहित्य में स्थान तथा नामों के अतिरिक्त सब कुछ सत्य होता है; किन्तु वर्माजी के ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए यह कथन भी सत्य नहीं है, उनके उपन्यासों में स्थान, नाम तथा तिथियाँ भी सत्य हैं और शेष सब कुछ तो सत्य है ही वरन् जो कुछ अब तक सत्य न था उसे भी सत्य की सीमा में वे लाने में सफल रहे हैं। झाँसी की रानी के नाम से कौन अपरिचित है? फिर भी उसका जो रूप अंग्रेज इतिहासकारों ने प्रस्तुत किया था, उससे वह एक विद्रोही सामन्त से अधिक कुछ नहीं थी, जिसने गदर में अंग्रेजों का विरोध करके भयंकर अपराध किया था, जिसका दण्ड उसे मृत्यु रूप में मिला और झाँसी को अंग्रेजी शासन में मिला लिया गया।

अंग्रेजों के इस परम्परागत इतिहास से भिन्न वर्माजी ने एक नवीन, सर्वथा स्वतन्त्र दृष्टि से और भारतीय परम्परा की शृंखला में लक्ष्मीबाई का चरित्र-चित्रण किया। इस उपन्यास में बुन्देलखण्डी संस्कृति का एक सजीव और सशक्त चित्र उभार कर खड़ा कर दिया गया है। बुन्देलखण्ड की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक परम्पराओं का ऐसा सुन्दर चित्रण है कि पढ़ कर तबियत फड़क उठती है। सब कुछ इतिहास की मर्यादा के अनुकूल होते हुए भी सरस, सप्राण और सशक्त है, बरबस अपनी ओर खींचता है और बार-बार हम उसे पढ़ने और देखने के लोभ को संवरण नहीं कर पाते।

'अहिल्याबाई' में भी एक अन्य भारतीय नारी रत्न की यशोगाथा गाई गई है। 'मृगनयनी' में कल्पना और इतिहास का ऐसा सुन्दर ताना-बाना बुना गया है कि उसका स्थान 'झाँसी की रानी' के पश्चात् बन गया है। कथा का पूर्वार्द्ध कल्पना-प्रसूत और उतरार्द्ध इतिहास-सम्मत है। कुमारी निम्मी और लाखारानी का चित्रण इतना सरस और हृदयस्पर्शी है कि पाठक उपन्यास को एक बार उठाकर बिना पूर्ण किये छोड़ नहीं पाता और पढ़ते समय अनेक भावलोकों में तिरता हुआ, पृथ्वी से ऊपर उठकर इतिहास के रंगीन दृश्य देखकर प्रसन्न होता हुआ, आगे बढ़ता चला जाता है और अन्त में उसे पता ही नहीं चलता कि कब यथार्थ की कठोर भूमि पर उसके पैर आ टिके हैं, और वह कल्पना लोक धीरे-धीरे यथार्थ बन जाता है। वर्माजी की कल्पना बड़ी सजीव और स्पष्ट है, उसमें कहीं भी धुँधलाहट और अस्पष्टता नहीं है। वर्माजी हिन्दी के स्कॉट हैं।

आचार्य चतुरसेन ने बहुत से उपन्यास लिखे हैं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में 'वैशाली की नगरवधू', 'वयंरक्षाम्' तथा 'सोमनाथ' को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है। 'वैशाली की नगरवधू' में आम्रपाली को केन्द्र बनाकर इस वृहद्‌काय उपन्यास के दो खण्ड लिखे गये हैं। 'वैशाली की नगरवधू' में शास्त्रीजी ने अपनी सारी शक्ति, क्षमता और ज्ञान का उपयोग किया है। भाषा-शैली, वातावरण और पात्र आदि सभी के द्वारा इस उपन्यास को ऐतिहासिक प्रतिष्ठा प्रदान कराई गई है।

'शताब्दियों पूर्व जिस अम्बपाली के दिव्य पद-संचालन ने उदयन जैसे कलाकार सम्राट् को मुग्ध कर दिया था, उसके सौन्दर्य ने वैशाली के शत-शत युवकों को विलासी और उन्मत्त बना दिया था। जो सौन्दर्यशालिनी नगर-वधू होकर भी मगध सम्राट् के लिए इतने लोभ की वस्तु बनी कि उन्होंने अपना साम्राज्य, वैभव और प्राण तक भी दाँव पर लगा दिये, जिसके वैराग्य और त्याग की प्रशंसा स्वयं महात्मा बुद्ध ने की, वह अम्बपाली शास्त्रीजी की लेखनी का बल पाकर आज युगों के बाद पुनः जीवन प्राप्त कर चुकी है।'

'वयंरक्षाम्' की पृष्ठभूमि बहुत ही विस्तृत और इतिहास के कई युगों पर प्रकाश डालने वाली है। इसमें प्रागैतिहासिक देव, दैत्य, दानव, असुर, किन्नर, गंधर्व, आर्य और अनार्य आदि संस्कृतियों का सुन्दर चित्रण है। इस उपन्यास की चित्रपटी चाहे विशाल हो, किन्तु कल्पना इतनी अति-रंजित और वातावरण ऐसा अयथार्थवादी है कि शास्त्रीजी के ऐतिहासिक उप-न्यासों के उद्देश्य 'इतिहास-रस' (?) की सिद्धि नहीं हो पाती।

'सोमनाथ' में ऊपर के दोनों उपन्यासों के दोषों का परिमार्जन तो कर दिया गया है, किन्तु उतनी मौलिकता और शोध नहीं है जो 'वैशाली की नगरवधू' में है। इस उपन्यास की कथा क० मा० मुन्शी के 'जय सोमनाथ' से प्रभावित है। ऐतिहासिकता और औपन्यासिक क्षमता दोनों का अपूर्व संयोग इसमें हुआ है। इस उपन्यास में सोमनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा को भंग करने वाले महमूद गजनवी को नायक का पद प्रदान किया गया है। गजनवी का चरित्र अत्यन्त ही सजीव और प्रभावोत्पादक है। शास्त्रीजी को वर्माजी के पश्चात् हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार कहना समी-चीन होगा।

हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों में स्थान दिया गया है। द्विवेदीजी की सफ-लता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उपन्यास को पढ़कर भी लोग इसे वास्तविक आत्मकथा मान लेते हैं। कुछ ने तो इस सम्बन्ध में और अधिक जानकारी करनी चाही थी। इस उपन्यास में ऐतिहासिक यथार्थ को इस सुन्दर

और चित्रमय भाषा में अवतरित किया गया है कि पाठक को यह भ्रम पूण रूप से उत्पन्न हो जाता है कि वह प्राचीन युग में पहुँच गया है। भाषा की संस्कृतमयता प्राचीनता का वातावरण और सजीवता उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। जिन लोगों ने 'कादम्बरी' आदि रचनाएँ पढ़ी हैं, वे इस उपन्यास के महत्व और यथार्थ पद्धति से भली प्रकार परिचित हो सकते हैं।

यशपालजी ने 'दिव्या' उपन्यास लिखकर ऐतिहासिक उपन्यास शृंखला में एक सशक्त कड़ी जोड़ी है। उन्होंने कम्यूनिस्ट और समाजवादी कार्यकलाप को (जो स्वातंत्र्य आन्दोलन के सहयोगी रहे हैं) अपने 'देशद्रोही' उपन्यास का विषय बनाया है, किन्तु 'दिव्या' में वे पुरातन की ओर मुड़े हैं। इस उपन्यास का कथानक उस संधियुग पर आधारित है, जब बौद्ध धर्म के ह्रास पर देश छोटे-छोटे गणों में विभाजित होकर वणिकों (व्यापारियों) का कृपाकांक्षी था। शासन पर व्यापार का प्रभाव था। धीरे-धीरे छोटे-छोटे गण समाप्त होकर किसी साम्राज्य के निर्माण में योग देने को तत्पर हो रहे थे। यह युग कला और वैभव की दृष्टि से पूर्ण विकास पर कहा जा सकता है। इस युग की परिस्थितियों और वातावरण का सुन्दर वर्णन इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है। इस उपन्यास का दोष भी वही है जो ऐतिहासिक उपन्यासों में सबसे अधिक होता है और जिससे बचने की बार-बार चेतावनी दी गई है। इस उपन्यास के पात्र मारिश के द्वारा जोचार्वाकपन्थी है, लेखक ने मार्क्स-वादी सिद्धान्तों की व्याख्या कराई है। यदि इस उपन्यास में मार्क्सवादी परिणति न होती तो इसे हिन्दी के उत्कृष्टतम उपन्यासों में स्थान मिला होता। इस कमी की चरम सीमा के दर्शन हमें राहुलजी के ऐतिहास उप-न्यासों में होते हैं। राहुलजी ने 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' लिखकर अपने इतिहास-ज्ञान का परिचय तो दिया है, किन्तु इन उपन्यासों को लिखने का ध्येय तत्कालीन परिस्थिति और ऐतिहासिक यथार्थ को प्रस्तुत करना न मानकर मार्क्सवादी विचारों का प्रचार करना माना है। 'वाणभट्ट की आत्म-कथा' में जो भाषा उसका सबसे बड़ा गुण सिद्ध हुई है, वही भाषा राहुलजी के ऐतिहासिक उपन्यासों की कमजोरी बन गई है।

डॉ० रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला' मोहनजोदड़ो की प्रागै-तिहासिक संस्कृति का जीता-जागता चित्र है। इसमें भाषा, पात्र योजना आदि के ऊपर पूरा-पूरा ध्यान दिया गया है और सतर्कता बरती गई है। इसमें मार्क्सवादी दर्शन को किसी पात्र द्वारा जबरदस्ती कहलाने का प्रयत्न नहीं है। इसे सफल ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है।

इनके अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा, रामरतन भटनागर, गुरुदत्त, सत्यकेतु विद्यालंकार तथा रघुवीर शरण 'मित्र' आदि ने भी ऐतिहासिक

उपन्यास लिखे हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की सशक्त शृंखला जो पिछले इतिहास को पूर्ण सच्चाई और रसात्मकता के साथ प्रस्तुत कर सके, अभी हिन्दी में नहीं पनप सकी है। नये उपन्यासकारों से आशा है कि वे पूर्व-कालिक उपन्यासों की कमियों से सतर्क रहकर अधिक सशक्त और सर्वांगपूर्ण साहित्य निर्मित करेंगे।

७. तिलिस्मी, जासूसी, ऐयारी तथा रहस्यप्रधान उपन्यास

हिन्दी में जब उपन्यास चल निकला तो लोगों का ध्यान इस विषय की अन्य सम्भावनाओं की ओर गया। सम्राट् अकबर का मनोरंजन करने के लिए अबुल फजल व फैजी ने फारसी में 'तिलिस्मी होशरुवा' नामक चमत्कारपूर्ण कथा सत्रह हजार पृष्ठों में लिखी थी। इस ग्रन्थ का अनुवाद १८८४ ई० में होना प्रारम्भ हो गया था। इस ग्रन्थ से प्रेरणा ग्रहण कर १८९१ ई० में देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' नामक तिलिस्मी उपन्यास लिखा। इस उपन्यास के प्रकाशित होते ही हिन्दी भाषा-भाषी लोगों में ही नहीं, अहिन्दी भाषा-भाषियों में भी खलबली मच गई। जो हिन्दी जानते थे उन्होंने तो इसे पढ़ा ही, वरन् जिन्हें हिन्दी की वर्णमाला भी पूर्ण अपरिचित थी, उन्होंने भी इस उपन्यास को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी और इसका रसास्वादन करके अपने को धन्य माना। उन्होंने 'चन्द्रकान्ता' चार भागों में, 'चन्द्रकान्ता सन्तति' चौबीस भागों में तथा 'भूतनाथ' अपूर्ण (जिसे उनके पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने पूर्ण किया) लिखकर अपार यशार्जन किया और हिन्दी की चिरस्मरणीय सेवा की।

'तिलिस्म' शब्द का विकास 'टैलिस्मन' से हुआ है; इसका अर्थ है चमत्कारपूर्ण कल्पना, खजाने की रक्षा के लिए नियुक्त भयंकर आकृति अथवा खजाने पर बाँधा हुआ ऐसा यन्त्र जो नक्षत्रों की गणना करके तैयार किया गया हो। ऐयार शब्द अरबी में तीव्र, दूरगामी एवं चपल व्यक्ति के लिए व्यवहृत होता है।[1]

"चन्द्राकन्ता और इस तरह की अन्य रचनाओं का कथानक प्रायः एक सा होता है। कोई प्रेमी राजकुमार किसी सर्वगुणसम्पन्न अनिंद्य सुन्दरी राजकुमारी के प्रेम में विकल हो उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है। राजकुमार मध्यकालीन शौर्य, साहस और प्रेम की प्रतिमूर्ति होता है। राजकुमार को उसकी प्रेमिका से मिलाने का प्रयत्न उसके ऐयार या जासूस करते हैं। ऐयारी के बटुए और कमन्द को लिये ये ऐयार दुर्गम से दुर्गम स्थान पर पहुँच सकते हैं और आश्चर्यचकित कर देने वाले करिश्मे दिखला सकते हैं। घोड़ों की तरह तेज दौड़ने और रूप बदलने में ये अपना सानी नहीं रखते। वयस्क ऐयार

---

१. 'हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ २५।

रंग-रोगन की सहायता से सुन्दरी बाला या किसी भी युवक का ऐसा स्वांग रच सकता है कि उसके बाप भी न पहचान पाएँ। जिसको चाहा जड़ी सुँघा कर बेहोश किया, कपड़े में बाँध गठरी बनाया, पीठ पर लादा और फिर आवश्यकतानुसार १०-५ कोस पर ले जाकर कैद कर दिया। बेहोशी दूर करने के लिए इनके पास 'लखलखा' नाम की दिव्यौषधि बराबर रहती है। राजकुमार का राजकुमारी से मिलन कराने के लिए ऐयार प्रयत्न तो करते हैं, पर प्रेमी राजकुमार का प्रतिस्पर्द्धी, सकल दूषण-दूषित एक दुष्ट पात्र नाना युक्तियों से इस कार्य में बाधा डालता रहता है, क्योंकि वह स्वयं उस राजकुमारी को प्राप्त करना चाहता है। प्रायः मध्ययुगों के ढंग पर वह (अपने ऐयारों की सहायता से) राजकुमारी को धोखे से या जड़ी सुँघाकर पकड़ मँगवाता है और तिलिस्म में कैद कर देता है। इन तिलिस्मों में अपार धन-राशि गड़ी रहती है। उसकी बनावट को देखकर आज का बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी विस्मय-विमूढ़ हो जायगा। उसके भीतर रासायनिक द्रव्यों का बना बगुला आदमी को निगल जाता है, पुतले तलवार चलाते हैं, पत्थर का बना आदमी किसी मनुष्य को सामने पाकर दोनों हाथों से बुरी तरह जकड़ लेता है, नकली शेर दहाड़ते हैं। किवाड़ इस तिलिस्म के जादू के बने, ताले ऐन्द्रजालिक और कोठरियाँ रहस्यागार होती हैं। एक पटरा हटा कि नीचे नौ सीढ़ियाँ दिखलाई पड़ीं। नीचे उतरिए तो दायें, बायें, आगे या पीछे एक दरवाजा मिला। फिर सीढ़ियाँ, कुएँ, दरवाजे, कमरे, आँगन और बगीचे।......हाँ तिलिस्मों में प्रायः मीठे पानी का सोता और मेवे के दरख्त जरूर होंगे, वैसे होने को पहाड़, जंगल क्या नहीं हो सकते! लेकिन तिलिस्म का तोड़ना जिसके लिए लिखा होगा वही उसे तोड़ सकता है और वहाँ की धन-राशि को स्वायत्त कर सकता है। तिलिस्म तोड़ने का ढंग एक किताब में पहले ही से लिखा, कहीं रखा होगा। फिर वह किताब आखिरकार उसी व्यक्ति के हाथ पड़ेगी जिसके नाम कि तिलिस्म का टूटना लिखा होगा। फिर तिलिस्म टूटता है, प्रतिपक्षी दुष्ट पात्र 'जैसी करनी वैसी भरनी' के अनुसार दण्डित होते हैं और राजकुमार-राजकुमारी का विवाह सम्पन्न होता है।"[1]

इन उपन्यासों पर मध्यकालीन प्रेम और वीरता की कथाओं का सीधा प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है। इन उपन्यासों में पात्र एक नीति का पालन करते हैं। यदि कोई ऐयार अकेला हो तो उसे जान से कभी भी नहीं मारा जाता—कैद कर लिया जाता है। किसी राजकुमारी को चुराने पर उसके साथ कोई बदतमीजी नहीं की जा सकती। राजकुमारी भी एक बार जिसे

---

१. 'आलोचना': उपन्यास अंक, पृष्ठ ७१।

अपना बना लेती है, कितनी ही कठिनाई या विषम परिस्थिति आ जाने पर अपने निश्चय को नहीं बदलती। राजकुमारों के सामने चाहे जितनी कठिनाइयाँ आयें, किन्तु वे अपनी प्रेयसी को पाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करते हैं; किसी भी आकर्षण में फँस कर अपने उद्देश्य से च्युत नहीं होते। उनके संस्कार और मन के भाव इतने दृढ़ होते हैं कि कई पुश्तों पश्चात् यदि अवसर मिलता है तब भी अपने खान्दान का बदला लेने में नहीं चूकते।

इन उपन्यासों में अधिकतर प्रेम की कथाओं का वर्णन रहता है। इस प्रेम में शारीरिक आकर्षण और सौन्दर्य की प्रधानता रहती है और उसका खुला वर्णन भी किया जाता है। चरित्र-चित्रण के लिए यद्यपि इन उपन्यासों में स्थान नहीं रहता, फिर भी अवसर मिलने पर चरित्र की विशेषताओं का आभास दे दिया जाता है। घटनाओं की बहुलता और जटिलता में इसके लिए अवकाश भी नहीं होता, किन्तु भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पड़ने पर पात्रों के चरित्र स्पष्ट हो उठते हैं।

इन उपन्यासों के लिखने का उद्देश्य लोगों को मनोरंजन करना होता है। खत्रीजी ने 'चन्द्रकान्ता' की भूमिका में अपने उपन्यासों का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "सबसे ज्यादा फायदा तो यह है कि ऐसी किताबों को पढ़ने वाला जल्दी किसी के धोखे में न पड़ेगा।"

तिलिस्मी उपन्यासों में काव्यात्मक-न्याय (Poetic Justice) का ध्यान सदैव रखा जाता है। कोई भी बुरा और दुष्ट पात्र बिना दण्ड पाये नहीं छूट सकता और प्रत्येक सच्चरित्र और नेक पात्र को उसके प्रशंसात्मक कृत्य के बदले में पुरस्कारस्वरूप कुछ न कुछ अवश्य मिलता है।

तिलिस्मी उपन्यास की पहचान बताते हुए लिखा गया है—

"जिस उपन्यास में आश्चर्यजनक कारनामों की भरमार होगी, जहाँ पात्रों के लिए कुछ भी करना असम्भव न होगा, जहाँ पात्र मौत की घाटी से भी किसी चमत्कार के कारण लौट कर सही सलामत घर आ जायगा, विघ्न-बाधाओं के जंगल में घिरे रहने पर कैंची की तरह मार करता हुआ बाल-बाल बच निकलेगा, वह तिलिस्मी-उपन्यास कहा जायगा।"[१]

इन उपन्यासों की भारी उपयोगिता और साहित्यिक महत्त्व है—

"जगत् के दुःख-ताप, असंतोष-हाहाकार के नीरस वातावरण से भाग कर इस अद्भुत लोक में क्षणिक विश्राम की प्रवृत्ति से ही ये उपन्यास प्रेरित होते हैं। ये जीवन के चित्र नहीं इच्छाओं के काल्पनिक मूर्ति-विधान हैं। इनमें मानव के मूलभूत भाव, राग-द्वेष, क्रोध-करुणा, प्यार-घृणा आदि को

---

१. 'हिन्दी साहित्य कोष, पृ० १५१।

उद्वेलित करने का प्रयास नहीं। काव्य की वास्तविक महत्ता सुन्दर चरित्र-सृष्टि में ही है। चरित्र-सृष्टि का अर्थ है रागों और मनोवेगों के आधार-स्वरूप मानव-पात्रों की सृष्टि, मानव-पात्रों की ऐसी सृष्टि इन उपन्यासों में नहीं मिलती। तेजसिंह, बद्रीनाथ या चपला का ऐयारी बटुआ ही हमें आकर्षित करता है। वे काव्य के अमर सजीव पात्र नहीं, जिनमें विशाल वैचित्र्यपूर्ण भावना संसार के सार की प्रतिष्ठा हो। वे बाजीगर मात्र हैं जो अपने विधाता और नियामक के इशारे पर नया-नया तमाशा दिखाते चलते हैं। 'अब वे क्या करेंगे?' इसी की ताक में हमारी जिज्ञासा उद्‌बुद्ध रहती है। यह औत्सुक्यतृप्ति ही इनका एकमात्र उद्देश्य है, अथवा मानवता के मानसिक उत्पादन में इनका कोई योग नहीं।"[१]

इन उपन्यासों के पात्रों को आप अलग-अलग रूपों में नहीं देख सकते। वे तो सदैव और सर्वत्र एक से लगेंगे, क्योंकि उनके काम एक से हैं और व्यक्तित्व की विशेषताओं आदि का कोई जिक्र ही नहीं होता है। ये पात्र एक टाइप हैं। राजा, रानी, राजकुमार, राजकुमारी, ऐयार आदि चाहे जिस नाम और धाम को बदल कर आयें विशेषताएँ पूर्व से ही निश्चित हैं। उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, अतः उनके चरित्र का विकास आदि दिखाना न इन उपन्यासों में सम्भव होता है और न इनका इष्ट ही है।

तिलिस्मी उपन्यासों की भाषा ऐसी सरल और जनसाधारण के अनुरूप है कि कोई कम पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी उसे आसानी से समझ सकता है। उसकी तद्‌भव शब्दों की व्यापकता और चलते हुए फारसी और उर्दू के शब्दों के आंशिक प्रयोग से जिस शैली की आयोजना इन उपन्यासों में की गई है, वह उनके उद्देश्य में बाधक न होकर साधक सिद्ध हुए हैं। इस शैली की प्रशंसा करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है—

"ये वास्तव में घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं, जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं। इससे वे साहित्य की कोटि में नहीं आते। पर हिन्दी-साहित्य के इतिहास में बाबू देवकी नन्दन खत्री का स्मरण इस बात के लिए बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किये, उतने किसी ग्रन्थकार ने नहीं। 'चन्द्रकान्ता' पढ़ने के लिए ही न जाने कितने उर्दू-भाषी लोगों ने हिन्दी सीखी। 'चन्द्रकान्ता' पढ़ चुकने पर वे 'चन्द्रकान्ता' की किस्म की कोई किताब ढूंढ़ने में परेशान रहते थे। शुरू-शुरू में 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' पढ़कर न जाने कितने नवयुवक हिन्दी

---

१. 'हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ ३७।

के लेखक हो गये। 'चन्द्रकान्ता' पढ़कर वे हिन्दी की और प्रकार की साहित्यिक पुस्तकें भी पढ़ चले और अभ्यास हो जाने पर कुछ लिखने भी लगे।"[१]

जासूसी उपन्यासों का प्रारम्भ गोपालराम गहमरी ने किया। तिलिस्मी उपन्यासों में यह कठिनाई होती थी कि तिलिस्मों का रहस्यात्मक वर्णन पढ़कर पाठकों को विश्वास कम और कौतूहल अधिक होता था। उनके मन में यह जिज्ञासा सदैव जगी रहती थी कि क्या यह सम्भव है? ये तिलिस्म कहाँ होते हैं? इन्हें कोई क्यों बनवाता है? और क्या हम उन्हें देख सकते हैं? इस आशय के हजारों पत्र देवकीनन्दन खत्री के पास आते थे, जिनका उल्लेख उन्होंने किया है। गहमरीजी ने तिलिस्मों की इस भ्रमोत्पादक कल्पना को अपने उपन्यासों में से हटा दिया और यथार्थ जीवन की समस्याओं को स्वीकार करके उन्हीं में के रहस्य को ज नने का प्रयत्न किया। हमारे दैनिक जीवन में नित्य सैकड़ों हत्याएँ होती हैं, डाके पड़ते हैं, राहगीर सड़कों पर मुँह बन्द करके पेड़ों से बँधे पाये जाते हैं और अपराधी शान से मूँछें मरोड़ते हुए निकलते हैं। इन सारे अपराधियों को इतनी आसानी से पकड़ना सम्भव नहीं होता। इसके लिए आवश्यक है कि सभी सम्भावित उपायों से अपराधी का पता चलाया जाय और सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए तथा न्य.य की रक्षा के लिए उसे सजा दिलाई जाय। इन अपराधियों का पता चलाने और उनके अपराधों के केन्द्रस्थल अड्डों का पता चलाने के लिए छिपकर कार्य करना पड़ता है। कभी-कभी इन खोजों में बड़े-बड़े रहस्यों का भण्डाफोड़ होता है। बड़े-बड़े सफेदपोश और छुपे रुस्तम अपराधी सिद्ध होते हैं तथा न्यायाधीशों के सामने न्यायहेतु प्रस्तुत किये जाते हैं। इन उपन्यासों का घटनाचक्र और योजना सांसारिक तथा दैनिक जीवन के अनुरूप होती है। हत्या, चोरी, डाके और बच्चों को उठा ले जाने वालों के गिरोहों की खोज करना खुफिया पुलिस का कार्यक्षेत्र है, अतः इन उपन्यासों में जासूस अधिकांशतः किसी खुफिया पुलिस अधिकारी को ही बनाया जाता है, जिससे सम्भाव्य-औचित्य की रक्षा होती रहे और पाठकों को घटना के सत्य होने का विश्वास हो जाय। गहमरीजी ने १८९८ में 'हीरे का मोल' नामक बंगला उपन्यास का अनुवाद किया और इसी के साथ जासूसी उपन्यासों का प्रारम्भ हुआ। हिन्दी जगत् ने इसका भारी स्वागत किया। गहमरीजी ने अपनी प्रेरणा के सम्बन्ध में लिखा है—

"हीरे के मोल का पसन्द किया जाना और बम्बई में ही महालक्ष्मी के मन्दिर में एक खूनी धोबी का, जो महँत बना बैठा था, मेरी प्राइवेट मुख-

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ३९९।

बिरी से पकड़ा जाना, इन दोनों के प्रभाव से मेरी रुचि जासूसी उपन्यास लिखने में बढ़ी और तब से कोई १५० छोटे-बड़े उपन्यास (जासूसी) लिखे और अनुवाद किये।"

१९०० ई० में गहमरीजी ने 'जासूस' नामक मासिक का सम्पादन भी प्रारम्भ किया था जो तीस वर्ष तक निकलता रहा और उसके द्वारा जासूसी उपन्यासों की एक ऐसी परम्परा का प्रादुर्भाव हो गया जो आगे चल कर यथेष्ट शक्तिशाली सिद्ध हुई।

जासूसी उपन्यासों के रचना-कौशल का वर्णन करते हुए गहमरीजी कहते हैं—

"पहले जानने योग बात, घटना की जवनिका में छिपा रखना और इधर उधर की जो बेसिलसिले और बेजोड़ न हों पहले कहना और घटना-पर-घटना का तूमार बाँधकर असल भेद जानने के लिए पाठकों के हृदय में कुतूहल बढ़ाना और रहस्य पर रहस्य साज कर ऐसा उपन्यास गढ़ना कि पूरा पढ़े बिना पूरा स्वाद न मिले........। जिसका उपन्यास पढ़कर पाठक ने समझ लिया कि सब सोलहो आने सच है उसी की लेखनी सफल-परिश्रम हुई समझना चाहिए।"

जासूसी उपन्यासों की तकनीक और निर्माण शिल्प की विशेषताओं के सम्बन्ध में 'हिन्दी साहित्यकोष' की टिप्पणी है—

"यदि आपको एक सुसंगठित वस्तुवाला उपन्यास पढ़ना हो जिसके आदि, मध्य और अवसान बिन्दु स्पष्ट हों, जो कारण और कार्य की शृंखला में बँधा हो तो आप जासूसी उपन्यास पढ़ें। हत्या हुई, अपराधी की खोज में जासूस प्रवृत्त हुए, एकाधिक लोगों पर शंका हुई, प्रमाणों की नापतोल कर सच्चे अपराधी का पता लगा और उसे दण्डित किया गया। यही जासूसी उपन्यास का प्रधान सूत्र है और इसमें कथा संघटन के सब तत्त्व वर्तमान हैं।

"जासूसी उनन्यास के निर्माण का सूत्र सीधा है। पर एक सफल जासूसी उपन्यास की रचना सहज नहीं। अपराधी और जासूस दोनों को रंग-मंच पर मुख्य अभिनेता की तरह उपस्थित रहना चाहिए। पर यदि अपराधी किसी तरह भी पाठक की थोड़ी सहानुभूति पा गया तो वह अपराधी की फाँसी को पसन्द नहीं करेगा। अपराधी को उपन्यास के प्रारम्भ में ही उपस्थित नहीं करना चाहिए, नहीं तो पाठक मानवोचित दुर्बलता के कारण प्रथम परिचय की सहानुभूति देने लगेगा। हत्या के लिए अथवा डकैती के लिए पर्याप्त मनोवैज्ञानिक कारण अवश्य होने चाहिए, परन्तु उसके औचित्य का चित्रण इतने गाढ़े रूप में नहीं होना चाहिए कि पाठक को अपराधी का दण्डित होना खटकने लगे। यदि अपराधी को चित्र अत्यधिक गाढ़ी काली

स्याही से चित्रित कर उसे शैतानियत का पुतला बना दिया गया तो उसका पता लगा लेना पाठक के लिए सहज होगा और सारा उपन्यास ही बीच में समाप्त हो जायगा। उसे पढ़ने की प्रेरणा ही नष्ट हो जायगी।

"जासूसी उपन्यासों की समाप्ति पर पाठक के हृदय में यह धारणा बननी चाहिए कि सचमुच ही बड़ी पेचीदा गुत्थी को सुलझाया गया है जो साधारण तथा सहज सम्भव न थी। गोस्वामीजी के उपन्यास 'जिन्दे की लाश' में एक लड़की को षड्यंत्रकारियों ने मृत समझकर दफना दिया है, पर वास्तव में वह मरी नहीं है। बाद में वह जासूस की सहायता से निकाल ली जाती है। प्रारम्भ में थोड़ा कौतूहल अवश्य जगता है। पर समस्या बड़े ढंग से हल हो जाती है, ऐसा नहीं लगता कि एक बड़ी कठिन समस्या से पाला पड़ा था।

"इधर जासूसी उपन्यासों में एक बड़ा परिवर्तन आ रहा है और यह हुआ है यथार्थवाद के नाम पर। इसमें उस समाज का चित्रण हुआ है जिसमें न्यायालय के कमरे में दर्जनों शराब की बोतलें रखने वाला न्यायाधीश किसी को एक ओंस शराब रखने के लिए जेल की सजा दे सकता है। एक सीधा-सा लगने वाला धार्मिक पुरुष भ्रष्टाचार के केन्द्रों का संचालक हो जाता है। आज के युग में ऐसे व्यक्तियों के अस्तित्त्व के सम्बन्ध में विश्वास करना कठिन नहीं है। इस तरह के उपन्यासों में अपराधी के पता लगाने पर जोर नहीं दिया जाता। अपराधी का पता तो सबको है ही। उसको अपराधी साबित करना कठिन होता है। अतः जासूस को या वकील को सम्बन्धित व्यक्ति को अपराधी प्रमाणित करने तथा इस कार्य के खतरों का सामना करने में ही लेखक की प्रतिभा दृष्टिगोचर होती है।"

हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की परम्परा का प्रारम्भ गहमरीजी की रचनाओं के साथ हुआ। दुर्गाप्रसाद खत्री ने भी रक्त मण्डल, सफेद शैतान, प्रतिशोध और लालपंजा आदि उपन्यास लिखे। हिन्दी में मौलिक उपन्यासों की अपेक्षा अंग्रेजी आदि से अनुवाद भी कम नहीं हुए। ब्लैक सीरीज, शरलक होम्स सीरीज आदि अनेक सीरीज निकली हैं।

आज रेलवे बुक स्टालों, सस्ते पुस्तक भण्डारों और जनता पुस्तकालयों में सर्वाधिक संख्या सस्ते प्रकार के जासूसी उपन्यासों की मिलेगी। यदि कोई आदमी यात्रा कर रहा है तो दो-तीन घंटे का समय काटने के लिए सबसे पहले उसे एक जासूसी उपन्यास की आवश्यकता अनुभव होगी। इससे उसे यात्रा भारस्वरूप प्रतीत न होगी। जासूसी उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य और मानव मन की जिज्ञासा वृत्ति को उभारकर उसे अधिकाधिक जाग्रत करना आदि विशेषताएँ अन्य प्रकार के साहित्य की अपेक्षा अधिक होती हैं। जो लोग इन जासूसी और रहस्यमय कृतियों को 'व्यर्थ के लिए कागज खराब

करना' मानते हैं, उन्हें मानव-मन की मनोवैज्ञानिक-शोधों का नियमपूर्वक पारायण करना चाहिए और समझना चाहिए कि मानव की जिज्ञासा वृत्ति ही सारे ज्ञान-विज्ञान और कलाओं की जननी है। इस आदिम प्रवृत्ति को सबसे अधिक समाधान (और वह भी समाज के एक बड़े समुदाय को) जिस साहित्य से मिलता हो, उसे किस प्रकार व्यर्थ कहा जा सकता है ?

जासूसी साहित्य केवल मनोरंजन ही नहीं करता, वरन् लोगों के मन में प्रविष्ट होकर उन्हें बदलता भी है। सामान्यतया जितने कौशल की आवश्यकता है, उसे बताता है और लोगों को जागरूक होकर कार्य करने और छद्म चोरों और सामाजिक शत्रुओं से सचेत रहने की प्रेरणा देता है। हम जहाँ हैं और जैसे हैं, उससे ऊपर उठकर—सक्रिय और सचेत होकर समाज की अधिक सेवा कर सकें, जासूसी उपन्यास हमें ऐसा योग्य बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

८. सामाजिक उपन्यास

सामाजिक उपन्यासों में समाज की समस्याओं का चित्रण, निदान, उपचार आदि ही नहीं होता वरन् समाज की पिछली समस्त परम्पराओं और संस्कारों की पृष्ठभूमि पर आ गयी समाज-रचना का स्पष्ट निर्देशन किया जाता है। इस निर्देशन में सारा समाज दर्पण के सामने पड़ने वाली परछाई के समान स्पष्ट दृष्टिगोचर होता चलता है। साहित्य द्वारा समाज को काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी जाती है। उपन्यास भी साहित्यांग है, अतः उसमें भी समाज का अंकन रहता है। उपन्यास में समाज का सीधा चित्रण रहने के कारण समाज की कमजोरी, शक्ति-सम्पन्नता, कथाओं आदि का ज्यों का त्यों वर्णन हो जाता है।

आज के समाज में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं, सामाजिक उपन्यास इन समस्याओं को उठाकर चलते हैं। लोगों के सामने इन्हें प्रस्तुत करते हैं और पाठकों के मन पर भावनाओं द्वारा प्रभाव डालकर मानव-चेतना को परिवर्तित करने का प्रयत्न करते हैं। देखा यह जाता है कि जब समाज को बदलने के लिए सीधा-सीधा प्रयत्न किया जाता है तो उसका प्रभाव नहीं पड़ता और लोगों की बुद्धि से सम्बन्धित होने के कारण मन अछूता हो जाता है। मन के विषय भाव हैं। भावों को उभार कर और उनमें उत्तेजना उत्पन्न करके ही मन को बदला जा सकता है। मनुष्य में वास्तविक परिवर्तन तभी होता है जबकि उसका मन बदल जाता है। बुद्धि द्वारा अच्छे और बुरे, उचित और अनुचित की परख हो सकती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इस परख के पश्चात् भी पाठक अपने को बुराई से बचा ही ले। दूसरी ओर मन पर जो प्रभाव पड़ता है उससे संस्कार बन जाते हैं और मन के बदल जाने पर आदमी चाहते हुए भी उसके विपरीत नहीं जा पाता। जिन व्यक्तियों की आदत (संस्कार) माँस न खाने की बन जाती है, वह चाहे जितना प्रयत्न करें और बुद्धि द्वारा उसमें कोई हानि न होने के समाधान को प्राप्त करें, पर फिर भी माँस नहीं खा पाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि समाज पर सबसे अधिक प्रभाव काव्य का पड़ता है। इस बात के अधिक उदाहण हैं कि साहित्य ने समाज के बदलने में भारी योग-दान किया है।

प्रेमचन्द से पूर्व ही हिन्दी में ऐसे उपन्यासकार उत्पन्न हो चुके थे और समाज की समस्याओं को स्वीकार कर चुके थे, जिन्हें उनकी पूर्णता में पहुँचाने का श्रेय प्रेमचन्द को मिला। प्रेमचन्द से पूर्व ही सामाजिक दशा में एकदम परिवर्तन होने तथा नये मानों की स्वीकृति या अस्वीकृति का प्रश्न सामने आ चुका था। 'परीक्षा गुरु' में, जो हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है, उपयोगितावादी नैतिकता का स्वरूप स्पष्ट होने लगता है। उस समय आर्यसमाजी आन्दोलन भारतवर्ष में भारतीय आदर्शों और परम्पराओं को पुन: स्थापित करने का बीड़ा उठा चुका था। इसका प्रभाव हिन्दी उपन्यासों पर पड़ना आवश्यक था और वह पड़ा भी। भारतवर्ष में अंग्रेजी शासन की पूर्ण स्थापना और मिशनरियों के प्रयत्नों से अछूत और शोषित हिन्दू समाज ईसाइयत की ओर लपका। आर्यसमाजी इस ओर सतर्क थे, उन्होंने समय की गति को पहचाना और शुद्धि का आन्दोलन चलाया तथा समाज की रूढ़िवादी परम्पराओं को छोड़कर प्रगतिवादी नवीन परम्पराओं को आगे बढ़ाया। इस परिवर्तन का यह परिणाम निकला कि जहाँ समाज आगे बढ़ने लगा, वहाँ पिछली परम्पराएँ टूटने से प्रतिरोध करके अपने को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न करने लगीं और प्रगतिवादी तत्त्व उन्हें बाहर धकेलने लगे। इस संघर्ष का परिणाम यह निकला कि प्राचीन और नवीन का संघर्ष प्रारम्भ हुआ, जिसकी प्रतिध्वनि हमें हिन्दी उपन्यासों में भी देखने को मिलती है।

इस काल के उपन्यासों में एक नये जोश और भारतीय सभ्यता के तत्त्वों और परम्पराओं की हिमायत तथा यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति की ह्रासशील शक्तियों का उद्‌घाटन किया गया, यह भावना किशोरी लाल गोस्वामी में अपनी पूर्ण स्पष्टता के साथ आई है। इस काल के उपन्यासों में (जबकि हिन्दी उपन्यास अपनी शैशवावस्था में ही था) हमें पात्रों के भावों का ऊहापोह और संघर्ष दिखाई देता है, यद्यपि वह उस स्थिति तक विकसित नहीं है जैसा कि प्रेमचन्द में जाकर हुआ। इस काल के उपन्यासों में प्रेम का ही अधिक वर्णन हुआ और प्रेम में भी आदर्श की स्थापना की गई। अन्य भावों का चित्रण उतनी व्यापकता के साथ नहीं हुआ। समस्याएँ उठाई गईं, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से सामने लाये जाने की अपेक्षा उन्हें परोक्ष रूप से प्रस्तुत करना ही उस काल में उपयुक्त समझा जाता था। इस काल में उपदेश वृत्ति इतनी प्रमुख और कलात्मक योजना इतनी शक्तिहीन थी कि अच्छे उपन्यास नहीं लिखे जा सके।

प्रेमचन्द युग में आकर भारत में मध्यवर्गीय समाज की स्थापना स्पष्ट

हो गई थी। प्राचीन रीति-रिवाज ढहने लगे थे। प्राचीन भारतीय परम्परा पर आधारित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं का अन्त हो रहा था और यूरोप के अनुकरण पर नवीन संस्थाओं की स्थापना हो रही थी और हो चुकी थी। काँग्रेस का आन्दोलन तीव्र और उग्र रूप धारण करता जा रहा था। भारतीय समाज के सभी क्षेत्रों को पाश्चात्य प्रभाव घेरता आ रहा था और उसके फलस्वरूप मध्यवर्ग का विकास हो रहा था। मध्यवर्ग में नया पढ़ा-लिखा युवक आ रहा था। अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य की नींव को सुदृढ़ करने के लिए तथा कार्य चलाने के लिए लिखे-पढ़े व्यक्तियों को आसानी से उपलब्ध करने हेतु अनेक अंग्रेजी विद्यालयों, महाविद्यालयों अथा विश्वविद्यालयों की स्थापना कर दी थी। इन शिक्षा संस्थाओं से प्रतिवर्ष हजारों पढ़े लिखे लोग निकल कर बाहर आने लगे थे और शिक्षा ने जहाँ अंग्रेजों की शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी कठिनाइयों को हल किया, वहीं पढ़े-लिखे भारतीयों ने यूरोप के स्वातन्त्र्य-विलास से प्रभावित होकर स्वयं भी स्वतन्त्र होने की बात उठाई और धीरे-धीरे वह बात आगे बढ़ने लगी थी। प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने इस सम्बन्ध में 'इण्डियन हैरीटेज' नामक ग्रन्थ में पृष्ठ १२३-२४ पर लिखा है--

"Administration was long conducted with a view to commercial advantages. For full exploitation of country's resources, Britain needed a group of middle men who could act as interpreters between her and the Indian people. The needs of administration also posed the same problem. Higher policy could be determined by the British themselves, but its application to the daily routine of administration required the services of indigenous man. The result was the creation of a large ministerial class, who helped the British in administration and commerce. The primary qualification for such subordinates was proficiency in the English language. Education was therefore remodelled to suit the needs of the rulers. Instead of development of human personality, the chief aim of education became the attainment of linguistic proficiency in English."

इस मध्यवर्ग में स्थिति बड़ी विचित्र थी। बाबूजी नामक यह जीव दफ्तर और क्लब में पैन्ट पहनता और नैकटाई लगाता था, शराब पीता था, डिनर और पार्टियाँ खाता था, खास इंगलैण्ड की सिगरेट पीता था,

यूरोपियन स्टाइल की अंग्रेजी बोलता था, और कमीज के भीतर यज्ञोपवीत पहनता था, घर में बैठकर पूजा करता था, नित्य गंगाजल पीकर अपने को शुद्ध कर लेता था, चौके में केवल धोती पहनकर भोजन करता था और श्राद्धतर्पण करके पितरों को सन्तुष्ट करता था। उसकी दशा त्रिशंकु की सी थी, जो न पूरा अंग्रेज बन पाया था और न शुद्ध भारतीय ही रहा था। वह घर में शुद्ध भारतीय था और दफ्तर तथा क्लब में पूरा अंग्रेज। इस वर्ग की समस्याएँ दूसरे वर्गों से भिन्न थीं।

मध्यवर्ग की नारी-समस्या अधिक वैविध्यपूर्ण होती जा रही थी। आर्थिक दृष्टि से आश्रित तो वह युग-युगों से चली आ रही है, मिथ्या सामाजिक और नैतिक परम्पराएँ भी उसे अपने अंक में जकड़े हुए थीं। इनकी दशा इसलिए अधिक दयनीय थी कि निम्न वर्ग की नारियाँ नर के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर कार्य करती थीं, आर्थिक दृष्टि से केवल वह स्वतन्त्र ही नहीं थीं—और अब भी हैं,—वरन् वह दूसरों को खिलाने की सामर्थ्य भी रखती थीं (महतरों में तो नारियाँ ही कमाती थीं और पुरुष घर बैठ कर खाते थे)। इसीके परिणामस्वरूप वे उतनी त्रस्त, शोषित और दुःखी नहीं थीं। वे पति को छोड़ कर या मर जाने पर दूसरा विवाह करने के लिए स्वतन्त्र थीं।

निम्न वर्ग के समान ही उच्च वर्ग में पुरुष अधिक उच्छृङ्खल और अनेक नारियों को भोगने में सर्वथा स्वतन्त्र था। एक राजा के महल में हजारों रानियाँ, रखैलें, दासियाँ आदि होती थीं। उनमें से अनेक से तो राजा का जीवन भर मिलना भी नहीं होता था, अतः वे उनकी यौन पवित्रता का इतना ध्यान नहीं रख सकते थे (और न रखते ही थे), जितना कि एक मध्यवर्गीय पुरुष रखता था। मध्यवर्गी नारी को गृहलक्ष्मी और अपनी, अपने घर, कुटुम्ब और जाति ही नहीं, परलोक की भी मर्यादा-रक्षक समझता था। मध्यवर्गीय नारी इसी आदर्श पर अपने सर्वस्व और प्राणों को न्यौछावर कर देती थी—यदि कोई इतना बड़ा त्याग करने को तैयार नहीं होती थी तो समाज उसे ऐसा करने को बाध्य करता था और नित्य सहस्रों अबलाएँ आत्महत्या और घर वालों के शोषण का शिकार होती थीं। उनमें गहनों का मोह प्रदर्शन की प्रवृत्ति तथा अनमेल विवाह होने पर जीवन भर निभाये और सहते हुए चले जाने की भारी सामर्थ्य के दर्शन होते हैं।

इस काल में विवाह छोटी उम्र में हो जाते थे, जिससे चेचक, महामारी या अन्य आपत्ति के कारण प्रत्येक घर में दो-चार बालविधवाओं के दर्शन होना आवश्यक था। मध्य वर्ग में बेमेल (कम उम्र की स्त्री और अधिक आयु के पुरुष) विवाहों की भी धूम रहती थी। इसके फलस्वरूप वेश्याएँ बहुत बढ़ गई थीं।

उच्च वर्ग का पुरुष जहाँ एक ओर अंग्रेज का बड़ा गुलाम होता था, वहाँ प्रजा पर भारी अत्याचार करने वाला और पुलिस तथा अपने अमले की सदैव सहायता करके अपने रोब और शोषण को स्थिर बनाये रखने की नीति में विश्वास करता था। जब लोग इनके हथकण्डों से भी काबू में नहीं आते थे तो वह हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा, छुआछूत और जाति-बिरादरी आदि का झगड़ा कराके अपना उल्लू सीधा करता था। शिक्षित और यूरोप आदि की हवा खाया हुआ जमींदार तथा विदेशी कम्पनियों से व्यापार करने वाला व्यापारी धीरे-धीरे यन्त्रों, मिलों, फैक्टरियों, कारखानों की ओर बढ़ रहा था। इसमें रुपये लगाकर सदैव मजदूर का रक्त चूसकर अपना पेट भरने की गारन्टी थी। इससे जहाँ रुपये कमाने की मशीनें मिल-मालिक के अधिकार में आतीं और भारी परिमाण में उत्पादन होता था, वहाँ मजदूर के रूप में समाज का साधन और सम्पत्तिविहीन वर्ग एकत्रित होता जा रहा था। मिलों और फैक्टरियों में धीरे-धीरे माँगों को लेकर हड़तालें चलने लगी थीं और पूँजीवादी व्यवस्था की समर्थक सरकार पुलिस और फौज के बल पर इस शोषण में सहायता देती थी। परिणामस्वरूप राजनीति के समान उद्योगों में भी दमन-चक्र तीव्रगति से घूम रहा था।

इस काल में किसान की दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी। उसे खेत में बोने और अगली फसल तक खाने को अन्न की तंगी हर समय रहती थी। वह सालभर जमींदारों, व्यापारियों और ब्याज खाने वालों से कर्ज ले-ले कर काम चलाता था और फसल आने पर सबसे पहले जिनका खाया है, उनका वापस करता था। भाव सस्ते थे, अतः मूलधन और ब्याज में से आधा ही कभी पूरी फसल में से चुक पाता था और आधा शेष रह जाता था और पूरी साल उसके सामने पड़ी रहती थी, जिसके लिए अन्न का एक दाना भी नहीं छोड़ा जाता था। एक बार जो किसान कर्ज के इस चक्र में फँस जाता था, उसका उसमें से छूटना असम्भव ही था। किसान के सामने मुखिया, पटवारी, पुलिस, अफसर, जमींदार, कर्ज देने वाले, धर्माचार्य आदि अनेक कठिनाइयाँ थीं, जिनसे मुक्त होना उसके लिए असम्भव था। कर्ज और जमींदार तथा उसके सहयोगियों को दो चक्कों के बीच में पड़ा हुआ किसान कराहता हुआ दम तोड़ देता था।

राजाओं, मध्यवर्गियों, व्यापारियों और भिखारियों तक में ऐसे व्यक्ति मौजूद थे, जो सब कुछ त्यागने और स्वतन्त्रता के संग्राम में कूदने को तैयार रहते थे और अवसर पड़ने पर बिना आगा-पीछा सोचे अपने अस्तित्व तक को बाजी पर लगा देते थे।

इन समस्त समस्याओं को किसी न किसी रूप में हम हिन्दी उपन्यासों में देखते हैं।

नारी-समस्याएँ

(१) **वेश्या**--परीक्षा गुरु (श्रीनिवासदास), सौ अजान एक सुजान (बालकृष्ण भट्ट) तथा सेवासदन (प्रेमचन्द) से इस समस्या का प्रारम्भ हुआ और विकास-विस्तार के लिए मंच (राजेश्वरप्रसाद), वेश्यापुत्र (ऋषभचरण), पाप और पुण्य (प्रफुल्लचन्द ओझा), पतिता की साधना (भगवती प्रसाद वाजपेयी), अप्सरा (निराला) तथा वेश्या का हृदय (धनीराम प्रेम) आदि उपन्यासों को स्वीकार किया जा सकता है।

(२) **अनमेल विवाह और दहेज की समस्या**—इस समस्या का सजीव वर्णन निर्मला (प्रेमचन्द) में मिलता है। दहेज प्रथा और वृद्ध व्यक्ति से अरमान भरे दिल की युवती का विवाह, ये दो प्रश्न इस उपन्यास में एक साथ उठाये गये हैं और इसके परिणामस्वरूप तीन परिवार नष्ट होते हुए दिखाये गये हैं। इस विषय को लेकर क्षमा (श्रीनाथसिंह), मीठी-चुटकी (भगवतीप्रसाद वाजपेयी), अनाथ पत्नी (वाजपेयी) तथा तलाक (प्रफुल्लचन्द ओझा) आदि अनेक अन्य उपन्यास लिखे गये हैं।

(३) **विधवा समस्या**—समाज में विधवाओं की समस्या इतनी जटिल थी कि उसे किसी न किसी प्रकार हल करना था, वरना सारे समाज के टूट जाने का ख़तरा पैदा हो गया था। प्रेमचन्दजी ने ('प्रतिज्ञा' में) इस समस्या को उठाया और इसका समाधान उनकी समझ में यही आया था कि समाज के कुछ कर्मठ तथा समझदार युवक सामने आयें और बहादुरी के साथ इन विधवाओं से पाणिग्रहण करके अपने और अपनी पत्नियों के जीवन को कृतार्थ करें। इस विषय पर निम्नांकित अन्य उपन्यास भी लिखे गये—

हृदय का काँटा (तेजरानी दीक्षित), विधवा के पत्र (चन्द्रशेखर शास्त्री), अमर अभिलाषा (चतुरसेन शास्त्री), आत्मदाह (चतुरसेन शास्त्री) तथा परख (जैनेन्द्रकुमार) आदि उपन्यास इसी कोटि में आते हैं।

(४) **नारी के त्यागपूर्ण जीवन की भित्ति** पर निर्मित उपन्यासों में त्यागमयी (वाजपेयी), नारी हृदय (शिवरानी), मदारी (गोविन्दवल्लभ पन्त) तथा वचन का मोल (उषादेवी मित्रा) का स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(५) **स्वच्छन्द प्रेम की समस्या** पर लिखे गये उपन्यासों जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदि पर चोट की गई है। प्रेम इन बन्धनों को मानकर नहीं

चलता, वह तो सर्वथा स्वच्छन्द और बन्धन-मुक्त होकर प्रेम करना चाहता है। दूसरी ओर समाज अपने प्रतिबन्ध उसके ऊपर लगाता है, दोनों शक्तियों में संघर्ष होता है और नित्य ही अनेक सोफियाएँ (रंगभूमि) और सकीनाएँ (कर्मभूमि) समाज में अपने को बलिदान की वेदी पर चढ़ाती रहती हैं। वर्माजी के गढ़कुण्ढार, कुण्डलीचक्र व प्रेम की भेंट में भी यही प्रश्न किसी न किसी प्रकार उठाया गया है। 'सुनीता' में नारी को बाहर के नवीन आकर्षण का सामना करना पड़ता है। पति-प्रेम के सहारे वह आगे बढ़ती है और सामाजिक बन्धन तोड़ना उसके लिए भी असम्भव हो जाता है, वह फिर जहाँ की तहाँ आ जाती है और हरिप्रसन्न भाग जाता है।

(६) नई नारी की समस्या—यह समस्या इधर के उपन्यासों में यथेष्ट स्थान घेरकर बैठी है। विदा (प्रतापनरायन श्रीवास्तव) तथा गोदान (प्रेमचन्द) में इस प्रश्न को उठाया गया है। यद्यपि भारतीय आदर्श और परम्पराओं के कारण भारतीय आदर्श की विजय और नवीन यूरोपीय आदर्शों पर चलने वाली नारी की पराजय दिखाई गई है, किन्तु उसे सहानुभूति के साथ आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि मिल गई है।

(७) गहनों आदि की समस्या—'गबन' उपन्यास का कथानक मध्यवर्गीय परिवारों की समस्याओं से ओत-प्रोत है। इस उपन्यास में गहनों को प्रिय मानने वाली नारी का चित्रण है। यद्यपि शैली व्यंग्यात्मक है, किन्तु नारी की आत्म-प्रवंचना को पूर्णरूप से स्पष्ट किया गया है। जालपा की आभूषणप्रियता उसे पति से अलग करा देती है और उसके पति रमानाथ की मिथ्या प्रदर्शन की प्रवृत्ति छल, प्रपंच और अन्त में यथार्थ परिस्थितियों से पलायन के लिए मजबूर कर देती है। इसका परिणाम यह निकलता है कि झूँठे प्रदर्शन के लिए सारा परिवार तबाह हो जाता है। हमारे देश में इस प्रकार न जाने कितने परिवार झूठी मर्यादा के पीछे तबाह होते रहते हैं।

नारी के इन रूपों के अतिरिक्त समाज की अन्य समस्याएँ भी उपन्यासों के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती रही हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

कौटुम्बिक समस्या—आर्थिक विघटन के कारण पुराने आधार पर बने हुए कुटुम्ब धीरे-धीरे टूटने और समाप्त होने लगे हैं। यूरोपीय पद्धति पर छोटे-छोटे (पति-पत्नी और सन्तान के) कुटुम्ब बनते जा रहे हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि ऊपर-ऊपर से तो हम आदर्शवादी बने रहने के लिए सम्मिलित परिवारों में रहते हैं और भीतर-भीतर से आर्थिक संघर्ष और रुचि वैचित्र्य आदि के कारण बिलकुल अलग-अलग हो जाते हैं। इसका परिणाम

यह होता है कि सौतेली माँ, सास-बहू, देवरानी-जिठानी आदि के झगड़े नित्य उठते रहते हैं। ये प्रश्न भाई (ऋषभचरण), विमाता (अवधनारायण), मँझली बहू (शिवनाथ शास्त्री), बहूरानी (शम्भूदयाल सक्सैना) तथा माँ (कौशिक) आदि में भली प्रकार दिखाये गये हैं। गोदान में यह प्रश्न अपनी भयंकरतम आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के साथ आया है—इसका एकमात्र उपाय परिवारों का विघटन ही हो सकता है, इसकी ओर इंगित है। टेढ़े-मेढ़े रास्ते (भगवतीचरण वर्मा) में दिखाया गया है कि आज एक बाप के तीन बेटे और चौथा भाई भिन्न-भिन्न विचारधारा और परिस्थितियों को स्वीकार करके चलते हैं। उनमें संघर्ष होता है। पुरातनपन्थी परिवार का मुखिया प्राचीन विचारधारा का प्रतीक बनकर सबको शासित करने का प्रयत्न करता है, युवक नई मान्यताओं के प्रतिनिधि बनकर गम्भीर प्रतिरोध करते हैं और एक भारी संघर्ष ठन जाता है। परिवार नर्क बन जाते हैं और देर-सबेर सिवाय विघटन के और कोई युक्ति शेष नहीं रहती। प्रकारान्तर से इसी समस्या को अनेक नवीन उपन्यासों में भी प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या—हिन्दू और मुसलमानों का परस्पर द्वेष और तनाव आज का नहीं वरन् तभी से चला आ रहा है जबकि हिन्दुस्तान में आक्रमणकारी के रूप में मुसलमान आये थे और यहाँ पर जमकर शासन करने लगे थे। मुसलमानों को विजेता की महिमा और हिन्दुओं को प्राचीन परम्पराओं और पद्धतियों के गौरव का नशा था। दोनों एक दूसरे को अपने में मिलाने के लिए तैयार तो थे, किन्तु शर्त यह थी कि दूसरा अपने अस्तित्त्व को विलीन करना चाहे तो, अन्यथा नहीं। इस अस्तित्त्व के विलीनीकरण के लिए कोई भी न झुका। एक ने शासक के नाते दबाया और दूसरा शासित के नाते सिकुड़ गया; किन्तु मन में दोनों के ईर्ष्या भरी रही। जब तक मुसलमान शासक रहे, हिन्दू दबा रहा; जब अंग्रेज का राज्य आया तो हिन्दू का स्थान भी मुसलमान की बराबरी का हो गया अर्थात् दोनों गुलाम हो गये। अंग्रेज ने दोनों के मनों में एक दूसरे के प्रति भरी हुई हिंसा और द्वेष की भावना को अच्छी तरह से समझा और अपने साम्राज्य को सुदृढ़ करने का साधन बनाया, फलस्वरूप हिन्दू-मुसलमानों के साम्प्रदायिक झगड़ों का सूत्रपात हो गया, जिसकी चरम परिणति १९४६-४७ के हिन्दुस्तान के बँटवारे के समय के झगड़ों में हुई। इस रहस्य को 'कायाकल्प' में प्रेमचन्दजी ने अच्छी तरह से खोला है और बताया है कि इस विद्वेष का कारण अंग्रेजों की कूटनीति और शोषण की मनोवृत्ति है। 'कायाकल्प' में यह प्रश्न खुलकर सामने आता है और उस उपन्यास का पच्चीसवाँ परिच्छेद केवल इस समस्या को लेकर ही लिखा गया है। प्रेमचन्दजी इन झगड़ों का रहस्योद्घाटन करते हुए लिखते हैं—

"हिन्दुओं और मुसलमानों में आये दिन जूतियाँ चलती रहती हैं........ निज के रगड़े-झगड़े साम्प्रदायिक संग्राम के क्षेत्र में खींच लाये जाते थे........ मुसलमानों ने बजाजे खोले, हिन्दू नँचे बाँधने लगे। सुबह को ख्वाजा साहब हाकिम जिला को सलाम करने जाते, शाम को बाबू यशोदानन्दन। दोनों अपनी-अपनी राजभक्ति का राग अलापते। दोनों देवताओं के भाग्य जागे, जहाँ कुत्ते निद्रोपासना किया करते थे, वहाँ पुजारीजी की भंग घुटने लगी। मस्जिदों के दिन फिरे, मुल्लाओं ने अबाबीलों को बेदखल किया। जहाँ साँड़ जुगाली करता था, वहाँ पीर साहब की हँडिया चढ़ी। हिन्दुओं ने महावीर दल बनाया, मुसलमानों ने अली गोल सजाया। ठाकुरद्वारे में ईश्वर-कीर्तन की जगह नबियों की निन्दा होती थी, मास्जिदों में नमाज की जगह देवताओं की दुर्गति। ख्वाजा साहब ने फतवा दिया, जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाये, उसे एक हजार हजों का सबाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पंडितों की व्यवस्था मँगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गौदानों से श्रेष्ठ है।" ('कायाकल्प', पृष्ठ ४२७)

औद्योगीकरण—महात्मा गांधी ने लिखा है कि मैनचैस्टर का माल मँगवा लेना इतना हानिकारक नहीं है जितना कि भारत को मैनचैस्टर बना देना। इसका अभिप्राय लोग यह लगाते हैं कि महात्माजी औद्योगीकरण के विरोधी थे। यह तो उनकी उस समय की नीति थी जबकि भारत में विदेशी वस्त्र आता था या देश में अंग्रेज आकर अपनी मिलें खोल रहा था। सभी बड़े-बड़े नगरों में अंग्रेजी कम्पनियों के पुतलीघर खुल रहे थे। महात्माजी जानते थे कि यदि मैनचैस्टर का कपड़ा आयेगा तो उसे तो रोका भी जा सकेगा, किन्तु मिलों के देश में खुल जाने पर तो सारी अर्थनीति विदेशी कम्पनियों के हाथ में चली जायगी और स्वदेशी आन्दोलन का सारा महत्व ही नष्ट हो जायगा।

अन्य उद्योगों के सम्बन्ध में महात्माजी की सम्मति भिन्न प्रकार की थी। वे गृह उद्योगों के भारी पक्षपाती थे और देश की परिस्थितियों के अनुरूप अर्थनीति चाहते थे और गृह उद्योगों द्वारा ही यहाँ का विकास सम्भव हो सकता है, इस तथ्य को उन्होंने समझ लिया था। बड़े कारखाने खड़े करने के लिए भारी आर्थिक साधनों और मशीनरी की अवश्यकता होती थी, देश में इतना धन कहाँ था; अतः गृह उद्योगों को ही स्वीकार किया जा सकता था। इसके लिए उन्होंने शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन करने की सिफारिश की थी और स्वयं एक ऐसा पाठ्यक्रम स्वीकार किया था (जिसे 'बुनियादी तालीम' की संज्ञा दी गई है), जिसमें किताबी शिक्षा के साथ-साथ गृह उद्योगों

और शिल्प आदि का सम्यक् ज्ञान (क्रियात्मक) कराया जाता था। कांग्रेस के कार्यक्रम में गृह उद्योगों को स्वीकार किया गया था।

प्रेमचन्दजी के समय में कांग्रेस आन्दोलन जोरों पर था और प्रेमचन्द इस आन्दोलन को अपने उपन्यासों में चित्रित करते समय औद्योगीकरण को भूलते नहीं हैं। 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' आदि में जो आश्रम स्थापित किये गये हैं, उनमें गृह उद्योगों द्वारा आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाया गया है।

'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' में आकर इस समस्या को और भी स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है। वे बड़े-बड़े मिलों और फैक्टरियों के विरोधी थे और इस विरोध का कारण इन संस्थाओं के पीछे आने वाली अनिवार्य असामाजिक स्थिति और नैतिक अधःपतन हैं। गाँव के स्वच्छन्द और स्वास्थ्यकारी वातावरण को त्याग कर किसान मजदूर बन जाता है और नगरों के बदबूदार वातावरण में रहता है—नित्य नये-नये व्यसनों में फँसता चला जाता है, मानवता धीरे-धीरे उसमें से निकलती जाती है और उसका स्थान हैवानियत ले लेती है। इसका सच्चा चित्र देखिए—

"आपके मजूर बिलों में रहते हैं—गन्दे, बदबूदार बिलों में, जहाँ आप एक मिनट भी रह जायँ, तो आपको कै आ जाय। कपड़े जो वह पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोंछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खायगा।"

मिल बन जाने पर क्या कुकर्म और अधर्म होगा, इसका वर्णन सूरदास जैसे आदर्शवादी पात्र के मुख से सुनिए—

"मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायगी, रोजगारी लोगों को फायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी तहाँ ताड़ी-शराब का परचार भी तो बढ़ जायगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायँगी, परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा। दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे, और अपने बुरे आचरण अपने गाँव में फैलाएँगे। देहातों की लड़कियाँ, बहुयें मजूरी करने आएँगी, और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक यहाँ हो जायगी। भगवान न करे यहाँ वह रौनक हो।"

औद्योगीकरण के गृह उद्योग रूप के वे पक्षपाती थे, देखिए—

"उन्हें घर से निर्वासित करके दुर्व्यसन के जाल में न फँसाएँ, उनके आत्माभिमान का सर्वनाश न करें और यह उसी दशा में हो सकता है जब घरेलू शिल्प का प्रचार किया जाय और वह अपने गाँव में कुछ और बिरादरी की तीव्र दृष्टि के सम्मुख अपना-अपना काम करते रहें।"

किसान समाज की समस्याएँ और उनका चित्रण काफी हुआ है।

प्रेमचन्द ने इस प्रश्न को लेकर कई उपन्यासों की आधार भूमि रखी है। उत्तर प्रदेश में पहला किसान-आन्दोलन १९२३-२४ में चला। प्रेमचन्द ने प्रेमाश्रम, कर्मभूमि आदि में इन आन्दोलनों का वर्णन किया है। गोदान में किसान की सारी समस्याएँ साकार रूत में आ गई हैं। किसान की विपत्ति किसी एक सूत्र से संचालित नहीं है वरन् "गौरांग महाप्रभु, हिन्दू-मुसलमान, सरकारी अफसर, पुलिस-पटवारी, धर्म के ठेकेदार पण्डे मुल्ले एक थैली के चट्टे-बट्टे हैं और सामाजिक प्रश्नों के पीछे क्षीण राजनीतिक सूत्र ही दौड़ते हैं।"[1]

किसान की समस्याओं का चित्रण प्रसाद, नागार्जुन तथा फणीश्वरनाथ रेणु आदि ने भी अपने उपन्यासों में किया है। तितली, बलचनमा, बाबा बटेसरनाथ, मैला आंचल और परती परिकथा आदि उपन्यास किसानों की भिन्न-भिन्न समस्याओं को उनके परिवेश में प्रस्तुत करते हैं। किसान की सबसे बड़ी समस्या महाजनी व्यवस्था द्वारा शोषण है। जब तक उसको आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी, तब तक वह किसी प्रकार भी पनप नहीं सकेगा। उसकी दशा को देखकर किस हृदयवान की रुलाई न छूट जायगी। जब उसकी कथा प्रेमचन्द के शब्दों में सुनते हैं तो कलेजा बाहर निकल पड़ता है, सुनिए—

"फसल में सब कुछ खलिहान पर तौल देने पर भी अभी उस पर कोई तीन सौ का कर्ज था, जिस पर कोई सौ रुपए सूद के बढ़ते जाते थे। मँगरू साह से आज पाँच साल हुए बैल के लिए साठ रुपए लिये थे। उनमें साठ दे चुका था, पर यह साठ रुपए ज्यों के त्यों बने हुए थे। दातादीन पंडित से तीस रुपए लेकर आलू बोये। आलू तो चोर खोद ले गए, और उन तीस के इन तीन बरसों में सौ हो गए थे। दुलारी विधवा सहुआइन थी, जो गाँव में नोन, तेल, तम्बाकू की दुकान रखे हुए थी, बँटवारे के समय उससे चालीस रुपए लेकर भाइयों को देना पड़ा था। उसके भी लगभग सौ रुपए हो गए थे, क्योंकि आने रुपए का ब्याज था। लगान के भी अभी पच्चीस रुपए बाकी पड़े हुए थे और दशहरे के दिन शकुन के रुपयों का भी कोई प्रबन्ध करना था.........जिन्दगी के दो बड़े-बड़े काम सिर पर सवार थे गोबर और सोना का विवाह .... यह विपत्ति अकेले उसी के सिर पर न थी। प्रायः सभी किसानों का यही हाल था। अधिकांश की दशा तो इससे भी बदतर थी।"

किसान पर जमींदार का डण्डा भी सदैव पड़ता रहता था। वह उसे

---

१. 'आलोचना' : उपन्यास विशेषांक, पृष्ठ ८७।

कभी भी चैन से खेती नहीं करने देता था। नजराना, फसलाना, लगान, इजाफा, बेदखली, पट्टा आदि से तो वह रुपया वसूल करता ही था, किसी उत्सव, विवाह, यज्ञोपवीत, मृत्यु आदि के अवसरों पर भी चन्दा वसूल करता था। यदि दो रुपए फी किसान वसूल करने का आदेश होता था तो उसका अमला १०-२० रुपया फी आसामी वसूल करता था और जिन्स तथा दूध आदि ऊपर से। थोड़ा-सा जमींदार को और बाकी उनके पेटों में चला जाता था। 'कायाकल्प' के राजा विशालसिंह की गद्दी के अवसर पर १०) का चन्दा लगाया गया। आदेश मिलते ही अमला टूट पड़ा और हुक्म मिलने की देर थी। कर्मचारियों के हाथ तो खुजला रहे थे। वसूली का हुक्म पाते ही बागबाग हो गये। फिर तो वह अन्धेर मचा कि सारे इलाके में कुहराम पड़ गया। जिसने खुशी से दिये, उसका तो १०) में ही गला छूट गया, जिसने हीले, हवाले किये व कानून बघारा, उसे १०) के बदले २०), ३०), ४०) देने पड़े।

किसान की इस दीनता के अनेक कारणों में से उसका अज्ञान और धर्मभीरुता प्रमुख हैं। होरी धर्म से डरकर और ब्राह्मण के कर्जे से दबकर एक अन्तरद्वन्द्व का शिकार होता है। स्वार्थ पर धर्म-परायणता विजयिनी होती है और उसकी दशा बड़ी विचित्र हो जाती है। यदि ठाकुर या बनिये के रुपए होते तो उसे ज्यादा चिन्ता न होती; लेकिन ब्राह्मण के रुपए! उसकी एक पाई भी दब गई, तो हड्डी तोड़कर निकलेगी। भगवान न करें कि ब्राह्मण का कोप किसी पर गिरे। बंस में कोई चिल्लू भर पानी देने वाला, घर में दिया जलाने वाला भी नहीं रहता। उसका धर्मभीरु मन त्रस्त हो उठा। उसने दौड़ कर पंडित जी के चरण पकड़ लिए और आर्त्त स्वर में बोला—

"महाराज, जब तक मैं जीता हूँ, मैं तुम्हारी एक-एक पाई चुकाऊँगा।"

इस धर्म को शोषण का साधन कहना अनुचित नहीं है।

कुछ स्थलों पर किसानों और ग्रामीणों के उत्सवों, त्यौहारों, पर्वों और विशिष्ट अवसरों का भी वर्णन है। ग्रामीण समाज में उनके सामाजिक और पारिवारिक उत्सव आदि भी आते हैं। हमारा सारा जीवन आज राजनीति से घिरा हुआ है, अतः इनके मूल में भी राजनीतिक शोषण खोखला-पन उत्पन्न करता रहता है, फिर भी कुछ चित्र यथार्थ वातावरण और दुःख में भी थोड़ी देर का आनन्द मनाकर दुःख को भूलने की प्रवृत्ति सदैव से रही है—इसीके परिणामस्वरूप यह सारा चित्रण हुआ है। 'तितली' (प्रसाद) में वसन्तोत्सव का एक दृश्य देखिए—

"निर्धन किसानों में किसी ने अपनी चादर को पीले रंग से रंग लिया, तो किसी की पगड़ी ही बचे हुए फीके रंग से रंगी है। आज बसन्त पंचमी है। सबके पास कोई न कोई पीला कपड़ा है। दरिद्रता में भी पर्व और

उत्सव तो मनाये ही जावेंगे। मँहगू महतो के अलाव के पास भी ग्रामीणों का ऐसा ही झुण्ड बैठा था। जौ की कच्ची बालों को भूनकर गुड़ मिलाकर लोग 'नवान' कर रहे थे। चिलम ठण्डी नहीं होने पाती थी। एक लड़का जिसका कंठ सुरीला था, बसन्त गा रहा था।"

किसानों के सुख-दुःख सभी का सर्वांगपूर्ण चित्र हिन्दी उपन्यासों में मिलता है।

अछूत समस्या—सियारामशरण गुप्त ने अछूतों की समस्या को अपने उपन्यास में जो सशक्त मुखरता दी है, वह अभूतपूर्व है। अछूतों का प्रश्न आज के समाज के ज्वलन्त प्रश्नों में स्वीकार किया गया है। इस अभिशाप को दूर करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने एक कानून बना दिया है, किन्तु किसी न किसी रूप में यह समस्या आज भी चल रही है। मन्नन द्विवेदी, शिवपूजन सहाय, प्रसाद, प्रेमचन्द, नागार्जुन आदि ने इस समस्या को उठाया है। 'कर्मभूमि' में यह समस्या अपने पूर्ण परिवेश के साथ आती है। 'गोदान' में सिलिया की कहानी इसी समस्या को उठाती है। उसमें प्रेमचन्द इसका कारण और हल दोनों देते हैं। जब तक आज का युवक क्रान्तिकारी बनकर प्राचीन परम्पराओं को ध्वस्त करके आगे नहीं आयेगा, तब तक यह सम्भव नहीं है कि हमारे समाज का अभिशाप अछूत समस्या हल हो सके।

इस प्रकार हमने देखा कि सामाजिक प्रश्नों को लेकर हिन्दी उपन्यासों में यथेष्ट ऊहापोह हुआ है और सामाजिक प्रश्नों को उठाकर उनका हल देने का प्रयत्न भी किया गया है।

९. मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण की आज असंख्य प्रणालियाँ प्रचलित हैं। डॉ० रांग्रा ने इसे दो भागों में विभाजित किया है।[१] एक को उन्होंने बहिरंग माना है और दूसरे को अन्तरंग। प्रत्येक व्यक्ति जब हमारे सामने आता है तो उसके दो रूप हम स्पष्ट समझ सकते हैं। प्रथम रूप तो वह होता है जो हमें बाहर से दिखाई देता है। इस रूप में उसका नाम, आकृति, वेशभूषा, क्रियाएँ और अनुभाव चित्रण (एक्सप्रेसिव फीचर्स) आदि आते हैं। इस दिखाई देने वाले और आसानी से जाने जा सकने वाले रूप के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति का एक और रूप होता है जो अन्तरग या भीतरी कहलाता है। हमारे मन में क्या भाव उठते हैं ? प्रत्येक क्रिया के पीछे हमारा क्या उद्देश्य होता है ? हमारे मन में किन-किन भावों का कब-कब, कैसे-कैसे और क्यों संघर्ष होता है ? हम विभिन्न परिस्थितियों और मनोदशाओं में मन ही मन क्या कहते और सुनते रहते हैं ? कभी-कभी हमारे मन में दूसरों से कहने या क्रियात्मक रूप में परिणत करने के लिए क्या-क्या बातें आती हैं ? और उन्हें हम क्यों नहीं कह या कर पाते ? हम स्वप्न देखते हैं—दिन में और रात में उनका एक विशेष रूप होता है, हमारे स्वप्नों के इस रूप में दिखाई देने का क्या कारण है ? कभी-कभी हम अत्यन्त भयाक्रान्त होकर प्रत्येक क्षण विभिन्न रूपों में उसी वस्तु या प्राणी को देखते हैं, जिसने हमें भयभीत किया है, ऐसा क्यों है ? कभी-कभी हम बिना कारण जाने ही किसी व्यक्तित्व से एकदम इतने अधिक प्रभावित हो जाते हैं कि उसका साथ नहीं छोड़ना चाहते आदि बातें ऐसी हैं जिन का उत्तर हम चाहते हैं और आज का मनोविज्ञान इन सब प्रश्नों का उत्तर देता है। मनोवैज्ञानिक शोधों पर आधारित होकर आज अनेक मनोवैज्ञानिक उपन्यास हिन्दी में भी लिखे गये हैं। मोटे तौर पर यदि चरित्र-चित्रण की इन प्रणालियों को संज्ञा दी ही जाय तो इन्हें निम्नांकित शीर्षकों में बाँधना अनुचित न होगा—

---

१. 'हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास' : पी-एच० डी० शोध प्रबन्ध, पृष्ठ ६३।

(१)	अन्तःप्रेरणाओं का चित्रण	(मोटिवेशन)
(२)	अन्तर्द्वन्द्व	(इन्टरनल कनफ्लिक्ट)
(३)	अन्तर्विवाद	(इन्टीरियर मोनोलौग)
(४)	मनोविश्लेषण	(साइको एनैलिसिस)
(५)	मुक्त आसंग प्रणाली	(फ्री एसोसिएशन)
(६)	बाधकता-विश्लेषण	(एनैलेसिथ रेजिस्टेंस)
(७)	स्वप्न-विश्लेषण	(ड्रीम एनैलिसिस)
(८)	निराधार-प्रत्यक्षीकरण का विश्लेषण	(हैल्यूसीनेशन एनैलिसिस)
(९)	सम्मोह-विश्लेषण	(हिप्नो एनैलिसिस)
(१०)	प्रत्यक्षावलोकन-विश्लेषण	(एनैलिसिस ऑफ रिकलेक्शन)
(११)	पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली	(केस हिस्टरी मैथड)
(१२)	शब्द सहस्मृति परीक्षा	(वर्ड एसोसिएशन टेस्ट)

आदि-आदि ।

वैसे तो पात्रों का स्रष्टा उपन्यासकार होता है किन्तु पात्र उपन्यासकार ही नहीं होते वरन् वे उससे भिन्न और कभी-कभी विपरीत भी होते हैं। उपन्यास के पात्र वैसे ही होते हैं जैसे कि सामान्य जीवन के प्राणी। जब हम सामान्य प्राणियों की परिस्थितियाँ, स्वभाव, पसन्द-नापसन्द, क्रियाएँ आदि सब कुछ जानते और देखते रहते हैं, फिर भी उनके सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ भी बता सकने में समर्थ नहीं होते।[1] मानव का सबसे अधिक गुह्य और रहस्यपूर्ण चरित्र का वह अंश होता है जो अन्त तक अभिव्यक्त नहीं हो पाता, किन्तु व्यक्ति के व्यक्त रूप की प्रेरणा वही बना रहता है। यह ठीक है कि उन चेष्टाओं द्वारा भी उसका आभास पाना सम्भव नहीं होता है।[2] किसी व्यक्ति के किसी व्यवहार को समझने के लिये, जिसे उसने किसी विशेष परिस्थिति में किया है, हमें केवल इतना ही जानना पर्याप्त नहीं है

1. "When all we know about a person's behaviour is the external stimulous situation, our description of his hehaviour cannot be complete." ('Psychology and Life' : Ruch, p. 122.)
2. "There are many complicating factors that disturb a simple intention-effect relation. In the first place, an intention is not usually realised in social life, due to opposition, interruption, internal conflict or the subjects' inability. And even when the effect is realised it may be even harder to detect than the intention of the subject." ('Explorations in Personality' : Murray, p. 244.)

कि उसकी वाह्य परिस्थितियाँ क्या रही हैं, वरन् हमें यह जानना अधिक आवश्यक है कि उसके अन्त: की क्या स्थिति है, जिसकी कि इस व्यवहार में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसलिए उपन्यासकार किसी पात्र के व्यवहार का औचित्य सिद्ध करने के लिए केवल उसकी बाहरी नाप-जोख आदि ही नहीं करता रहता, वरन् उसके मानस में बैठकर अन्त:प्रेरणाओं (इन्टरनल मोटिव्स) को प्रकाशित करने का प्रयत्न करता है।

सामान्यत: व्यक्तियों के मन के प्रेरक तत्त्वों को जानना कठिन होता है, इसी लिए हमें प्रत्येक व्यक्ति को पहचानना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। ठीक यही बात उपन्यास के पात्रों के सम्बन्ध में भी ठीक रही होती, यदि उपन्यासकार उनका निर्माता न रहा होता और वह प्रत्येक बारीकी को स्पष्ट करके खोल-खोल करके हमारे सामने रखने की क्षमता वाला न हुआ होता। उपन्यास के पात्रों का चरित्र-चित्रण इसीलिए अधूरा नहीं रहता कि अन्त:प्रेरणा के वर्णन द्वारा पात्रों में परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले तत्त्वों की भी संगति बैठ जाती है और उनमें एकसूत्रता आ जाती है।[1] चरित्रों में यह नहीं देखा जाता कि वह जो क्रियाएँ कर रहा है, वह संगतियुक्त और एकसूत्र में बँधी हुई हैं वरन् यह संगति तो उनकी प्रेरणाओं में देखी जाती है। उनमें विरोध होने पर चरित्र-चित्रण कृत्रिम और अनुचित माना जायगा। कभी-कभी उपन्यासकार पात्रों की क्रियाओं का औचित्य सिद्ध करने के लिए उनकी मूल प्रकृति के विरुद्ध आचरण कराने लगते हैं। चतुर उपन्यासकार इस प्रकार की कमियों से बचते हैं।

उदाहरणस्वरूप, प्रेमचन्द के 'निर्मला' उपन्यास की नायिका जब अपने सौतेले पुत्र सियाराम को अपने गहनों का बक्स रात में चुराते हुए और घर के बाहर ले जाते हुए देखती है, तब भी चुप रहती है और शोर करके उसे रोकती नहीं। निर्मला का यह कृत्य सामान्य नारी चरित्र के विपरीत और उस निर्मला के और भी विरुद्ध है जो गहनों पर जान देती थी और बुड्ढे पति से शादी करके, सिवा गहनों के उसे मिला ही क्या था? किन्तु जब उपन्यासकार इस विशेष बात का रहस्योद्घाटन करता है तो सारी बात समझ में आ जाती है। इसका कारण था कि निर्मला अपने को सौतेली माँ समझती थी और उसे भय था कि सभी लोग उस घटना पर भी यही कहेंगे

---

1. "Motives do not necessarily have to be reasonable—they are not so in real life—but they must be natural and they must be consistent in what we know of character." ('The Enjoyment of Literature' : Boas, p. 223.)

कि सौतेली माँ है, इसलिए झूठा आरोप लगाती है; आगे चलकर वह इस बात को स्पष्ट कहती भी है----

"मुझ में बुराइयाँ ही बुराइयाँ हैं, तुम्हारा कसूर नहीं, विमाता का नाम ही बुरा होता है, अपनी माँ विष भी खिलाए तो वह अमृत है, मैं अमृत भी पिलाऊँ तो विष हो जाएगा।"

इसी प्रकार जब भैरों ने सूरदास (रंगभूमि) पर मुकदमा चलाया तो जगधर ने उसकी सहायता की। जगधर इससे पूर्व सूरदास की सहायता कभी नहीं करता था तो इस बार ऐसा क्यों हुआ--ज्ञात न हो सका। इसका रहस्योद्-घाटन करते हुए प्रेमचन्द भी बताते हैं कि भैरों से जगधर ईर्ष्या करता था और सूरदास की सहायता इसी का परिणाम थी।

तीसरा उदाहरण ज्ञानशंकर का अपनी ससुराल में--जहाँ अपनी पत्नी विद्या के साथ रहने में उसे कोई आकर्षण प्रतीत नहीं होता--रुकना अस्वाभाविक सा लगता है, किन्तु धीरे-धीरे इसका भी रहस्योद्घाटन हो जाता है और पता चल जाता है कि ज्ञानशंकर अपनी पत्नी विद्या के कारण नहीं वरन् अपनी साली गायत्री के कारण वहाँ रुका था।

यहाँ पर पात्रों और उनकी प्रेरणाओं में पूर्ण संगति है;[1] अतः मनोवि-ज्ञान की कसौटी पर इन्हें उचित ठहराय जाता है।

अन्तर्द्वन्द्व

हम अपने जीवन में कभी-कभी ऐसी मानसिक दशा में जा पहुँचते हैं जबकि यह निर्णय करना कठिन होता है कि क्या करें? हमारे सामने एक ऐसा दो ओर जाने वाला मार्ग आ जाता है जहाँ पहुँचकर हमें यह निर्णय करना आवश्यक होता है कि हम किस मार्ग पर चलें; हमें दोनों मार्गों की उपयोगिता या अनुपयोगिता ज्ञात रहती है, हम दोनों में से किसी को भी छोड़ना नहीं चाहते हैं, किन्तु दोनों पर एक साथ चल भी नहीं सकते हैं।

---

1. "It is not consistency of action that makes a novel true to human nature and human experience, but consistency of motive and character. Human beings are consistently inconsistent in thought, word and deed, but these inconsistencies arise from temperamental qualities, from circumstantial or psychological causes and are logically related to motives and events." ('Living With Books' : H. E. Haines, p. 526.)

दोनों विरोधी होते हैं, अतः एक को अन्त में छोड़ना ही है और दूसरे को अपनाना ही है । हम एक तीसरे मार्ग को खोजने का भी प्रयत्न करते हैं कि एक साथ ही दोनों मार्गों पर चलने का भ्रम सबको उत्पन्न करादें, किन्तु अन्त तक ऐसा निभना सम्भव नहीं होता और आदमी धीरे-धीरे अपने को एक मार्ग पर आगे बढ़ा हुआ पाता है और तब दूसरा मार्ग उससे काफी पीछे छूट चुका होता है । उपन्यासों में ऐसे अनेक पात्र आते हैं और उनकी इन मनोदशाओं का चित्रण भी किया जाता है । ऐसे पात्रों में इच्छाशक्ति की कमजोरी और आत्मबल की कमी के कारण हिचकिचाहट रहती है और वे शीघ्र ही कोई निर्णय नहीं कर पाते हैं । उसे एक मार्ग को स्वीकार करना इसलिए कठिन होता है कि दूसरे मार्ग को छोड़ने पर जो हानि उठाने की सम्भावना रहती है—वह उसके लिए तैयार नहीं होता । ऊपर से देखने में चाहे उसकी यह अनिश्चय की स्थिति हमें कितनी ही अस्वाभाविक क्यों न लगे, किन्तु यदि उपन्यासकार निश्चय पर पहुँचने से पूर्व की मानसिक स्थिति का पूर्ण दर्शन करा दे तो उस पात्र को समझने में गलती नहीं होती । उपन्यासकार पात्रों की विरोधी क्रियाओं में संगति बिठाने के लिए ही अर्न्तद्वन्द्व का चित्रण करते हैं ।

सामान्यतः देखा यह जाता है कि उन्हीं पात्रों में अर्न्तद्वन्द्व अधिक उठता है जो आत्मबल और प्रबल इच्छाशक्ति से वंचित होते हैं । ऐसे पात्रों के जीवन के मूल्य भी स्पष्ट नहीं होते । जिन पात्रों के सामने आदर्श स्पष्ट होता है, पहले से ही यह निश्चित रहता है कि क्या करना है और क्या नहीं करना है, तो ऐसे पात्रों के हृदय में संघर्ष उठने का अवसर नहीं आता । आदमी में जैसे-जैसे कमजोरी (आदर्श सम्बन्धी) आती जाती है, वैसे ही वैसे वह संघर्षमय बनता जाता है । हिन्दी उपन्यास के प्रथम उत्थान काल में हमें कोई उपन्यास ऐसा नहीं मिलता जिसका नायक या नायिका किसी अर्न्तद्वन्द्व का शिकार हो—सारे मानव-मूल्य उसके सामने पूर्ण स्पष्ट रहते थे, अतः उन पर बेझिझक चलना ही वीरता और जीवन की सफलता मानी जाती थी । इस एक शताब्दी ने ही हमारे सारे जीवन को परिवर्तित कर दिया है, जीवन-पात्र बिलकुल बदल गये हैं और आज हम कर्म करने तक निश्चय की स्थिति में नहीं होते—यह कितनी विडम्बना है ।

मनोविज्ञान शास्त्री यह मानते हैं कि मनुष्य के भीतर दो प्रकार का द्वन्द्व चलता है—

(१) चेतन,
(२) अचेतन ।

चेतन-संघर्ष में पात्र पूर्ण जागरूक रहता है और उसके चेतन मस्तिष्क

में ऊहापोह चलता है। पात्र की समझ में उसका कारण पूर्ण रूप से स्पष्ट होता है।

अचेतन-संघर्ष में पात्रों के अचेतन मस्तिष्क में हलचल होकर द्वन्द्व चलता रहता है, इसे समझने में पात्र पूर्ण असमर्थ रहता है। इस स्थिति का ज्ञान पात्र को होता रहता है। इस ज्ञान की प्रतीति अपने अन्दर महसूस होने वाली बेचैनी से होती है जिसे पात्र निरन्तर अनुभव करता है, किन्तु इस बेचैनी का कारण उसकी समझ में नहीं आता। पात्र चाहकर भी वह नहीं कर पाता जिसे करना चाहता है और न चाह कर भी वह कर बैठता है जिसे नहीं करना चाहता।

उदाहरण—प्रेमचन्द की नायिका प्रेमा ('प्रतिज्ञा') का प्रेमपात्र से विवाह नहीं होता—दूसरे से होता है। नायिका इस विवाह के विरुद्ध संघर्ष नहीं करती, वरन् अपने को समर्पित करके परिस्थितियों से मेल बिठाने की चेष्टा करती है। कर्त्तव्य बुद्धि उसे यह स्वीकार करा लेती है कि वह पति के प्रति वफादार रहेगी और उसे प्रेम करती रहेगी। जीवन में वह इसे निभाती भी है, किन्तु इसी स्थिति में पड़ने वाली 'विवर्त' (जैनेन्द्र) की नायिका भुवन मोहनी है। पूर्ण प्रयत्न करने पर भी वह पति के प्रति सच्ची नहीं रह पाती। पति और प्रेमी के बीच लटकती हुई त्रिशंकु बनी रहती है। न एक को स्वीकार कर पाती है और न दूसरे को छोड़ पाती है। उसके इस द्वन्द्व का कारण उसके अचेतन में होने वाला प्रवृत्ति (सेक्स अर्ज) और विवेक बुद्धि (कान्शेन्स) का संघर्ष है।

पात्रों के चेतन मन में होने वाले संघर्ष को तो उपन्यासकार इन्टीरियल मोनोलौग के द्वारा स्पष्ट कर देता है, किन्तु अचेतन मन में जो द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, उसकी अभिव्यक्ति अत्यधिक कठिन और कष्टसाध्य है। इसके लिए अनेक मार्ग अपनाये जाते हैं, जैसे—मनोविश्लेषण, स्वप्न विश्लेषण, निराधार-प्रत्यक्ष-विश्लेषण, सम्मोह-विश्लेषण, प्रत्यक्षावलोकन-विश्लेषण आदि।

आजकल के उपन्यासों में अन्तर्द्वन्द्व प्रायः सभी अच्छे उपन्यासों में किसी न किसी रूप में रहता है। मनोविज्ञान का थोड़ा सा ज्ञान रखने वाला विद्यार्थी भी इसके महत्व को समझता और उपन्यासकार के परिश्रम का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करता है।

उदाहरण—निरंजना ('पर्दे की रानी') अपने हृदय से शीला को चाहती है और उसे कष्ट नहीं देना चाहती, किन्तु होता इसका उल्टा है। उससे वही होता चला जाता है जो कुछ कि वह नहीं चाहती, स्वयं वह अपने स्वभाव पर आश्चर्य प्रकट करती तथा अपनी भर्त्सना तक करती है, किन्तु मजबूर है। जब तक उसके चेतन मन में यह बात नहीं आती कि वह वेश्या

माता और खूनी पिता की सन्तान है, तब तक तो वह सामान्य स्थिति में रहती है, किन्तु जैसे ही यह बात उसके चेतन मन में आ जाती है वह असाधारण पात्र बन जाती है और सब कुछ ध्वस्त कर देने के लिए व्यग्र रहने लगती है।

इसी प्रकार का एक उदाहरण पारस नाथ ('प्रेत और छाया') है। उसे यह विश्वास हो जाता है कि उसकी माँ व्यभिचारिणी थी। इस ज्ञान के साथ ही उसे सारे संसार की स्त्रियाँ व्यभिचारिणी प्रतीत होने लगती हैं। जब तक यह बात उसे ज्ञात न थी, वह नारी के प्रति तीव्रता से आकर्षण अनुभव करता था और उससे बँधता चला जा रहा था, किन्तु माँ के बारे में पता चलने पर वह अपने को छुड़ाकर भागता है। अन्य अनेक नारियाँ उसके सम्पर्क में आती हैं, उससे आकर्षित होती हैं, किन्तु वह अपने को अलग रखता है और बराबर बचता चलता है, जब तक कि उसका पिता उसकी माँ की पवित्रता और सतीत्त्व की बात अपनी मृत्यु से पूर्व उसे नहीं बता देता।

इन मनोवैज्ञानिक पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जब तक इन्हें सत्य का ज्ञान नहीं होता, असाधारण बने रहते हैं और सत्य का ज्ञान होते ही साधारण बन जाते हैं।

कुछ व्यक्तिवादी पात्र ऐसे होते हैं जिनका अहं अपनी चरम सीमा पर होता है, जो वर्तमान समाज-व्यवस्था से असन्तुष्ट होने के कारण सबको (जो उनके मार्ग में पड़ता है) अपना विरोधी मानने लगते हैं। जहाँ और जिस स्थिति में उन्हें अपना अहं व्यथित होता हुआ प्रतीत होता है, वे अपने को उस परिस्थिति से दूर करने में जरा भी देर और संकोच नहीं करते। वे जीवन के संघर्षों से भागकर अन्तर्मुखी हो जाते हैं और अपने स्वयं निर्मित जगत में निवास करते हैं।[1] ऐसा ही एक पात्र शेखर है।

---

1. "The neurotic, from childhood on, is trained in his law of movement to recreat from tasks that he fears might, through his failings in them, injure in vanity and interfere with his striving for personal superiority, for being the first, a striving that is all too strongly dissociated from social interest. Further more, his life motto (all or nothing) usually only slightly modified, the oversensitivity of a person continuously threatened with defects, the intensified affects of one who lives as though he was in a hostile country, his impatience and his greed evoke more frequent and stronger conflicts than would be necessary." ('Social Interest : A Challange to Mankind' : Alfred Adler, p. 113.)

शेखर जब तक कहीं रहना चाहता है तो परिस्थितियों और प्राणियों पर अपना पूर्ण प्रभुत्त्व चाहता है। इसके विपरीत यदि परिस्थितियाँ उस पर हावी होना चाहती हैं तो वह उनसे टकराने का प्रयत्न नहीं करता, उसकी अपेक्षा उसे यह उचित प्रतीत होता है कि अपने को कच्छप वृत्ति के अनुसार समेट कर अपने ही भीतर स्थित हो जाय। वह किसी की ओर नहीं देखना चाहता, वह तो वहाँ रहना पसन्द करता है जहाँ उसकी ओर देखा जाय। किसी भी परिस्थिति में वह तभी तक रह सकता है जब तक कि उसके अहं की तृप्ति होती रहे। अहं पर चोट पड़ते ही वह अपने वश में नहीं रहता और जल्दी से जल्दी वहाँ से अलग हो जाता है। शेखर ऐसी-ऐसी परिस्थितियों में भी डाला गया है जब कुछ लोग उसके अनुशासन में रहते हैं और वह स्वयं भी किसी के अनुशासन में है। यह स्थिति उस समय आती है जबकि वह लाहौर के काँग्रेस शिविर में प्राणपण से कार्य करता है। उसका सदैव प्रयत्न यह होता है कि किसी भी प्रकार की अनुशासनहीनता उसके अनुशासन में रहने वाले न करें और वह स्वयं किसी का अनुशासन नहीं मानना चाहता। जब उसके अधिकारी उससे अनुशासन की आशा करते हैं तो वह उत्तर देता है—

"मैं अपने फैसले को गलत नहीं मानता, आप उसे रद्द करें, वह आपकी मर्जी है आप जैसा गुजारा करना चाहते हों, कीजिए, मुझे उससे कोई सरोकार नहीं होगा। मुझे इजाजत दें।"

शेखर की जीवन सम्बन्धी मान्यताएँ उसे वाह्य संघर्ष की ओर बढ़ने नहीं देतीं। वह अपने में भी सन्तुष्ट बना रहता है—शेष सृष्टि से अपने को महान समझ कर सन्तोष कर लेता है, फिर भी उसका मन पूर्ण शान्त और व्यवस्थित नहीं रहता। उसमें उथल-पुथल और अव्यवस्था निरन्तर चलती रहती है। और इसका कारण है उसके अचेतन मन का अन्तर्द्वन्द्व। उसके अचेतन मन में एक कथा है जिसे वह कहना तो चाहता है, किन्तु क्या कहना है यह नहीं समझ पाता। उसे लगता है जैसे दो विरोधी तत्त्व उसके अचेतन में संघर्षरत हैं, दोनों अपने विरोधी को परास्त कर उसकी चेतना पर अधिकार करना चाहते हैं। कोई दूसरे को पूर्णतः विजित नहीं कर पाता। एक बार एक बढ़ जाता है तो दूसरी बार उसका प्रभाव कम हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसके व्यवहार में एक प्रकार की प्रतिकूलता अथवा असम्बद्धता आ जाती है।

शेखर में यौन प्रवृत्ति तथा विवेक बुद्धि के बीच चलने वाला संघर्ष भी साधारण नहीं है। यह उस कोटि का है जहाँ पहुँचकर व्यक्तित्त्व पूर्ण अव्यवस्थित और संघर्षशील हो उठता है। संस्कार और शिक्षा से जो ग्रन्थियाँ

उसके मन में पैदा हो जाती हैं वह उसे यौन प्रवृत्ति में कभी भी पूर्ण तन्मयता प्राप्त नहीं करने देतीं। वह देखता सब कुछ है—करना चाहता भी है, किन्तु करते समय उसकी पूर्ण तन्मयता की स्थिति नहीं आती। अति भावुकतापूर्ण क्षणों में भी वह अपने को एक सीमा तक तटस्थ सा ही पाता है। सरस्वती, शारदा, शशि सभी की ओर वह आकर्षित होता है, किन्तु उसके सामाजिक संस्कार और विवेक बुद्धि निरन्तर रोकते चले जाते हैं—वह मार्ग बदलता जाता है, किन्तु उसके संस्कार और अति बौद्धिकता की ग्रन्थियाँ उसे कहीं भी चैन नहीं लेने देतीं। यह स्थिति इकतरफा ही हो ऐसा नहीं है, दूसरी ओर भी इसी प्रकार की संकटपूर्ण स्थिति है। शेखर के सम्पर्क में आने वाली उसकी मौसेरी बहन शशि सामाजिक दृष्टि से तो बहन है किन्तु प्यार दोनों में काफी गहरा है। शशि की कठिनाई का अनुभव इसी से लगाया जा सकता है कि एक ओर तो शेखर है जो उसका मौसेरा भाई है और दूसरी ओर वह विवाहिता है। वह शेखर को खुलकर प्यार करना चाहती है किन्तु उसके संस्कार, सामाजिक रूढ़ियाँ और विवेक बार-बार उसे रोकते हैं। उसकी परिस्थिति-विषमता इसी से जानी जा सकती है कि वह अवसर मिलने पर शेखर से कहती है—

"मैं विवाहिता हूँ, अपना आप मैंने स्वेच्छा से दिया है; अपने का इह का संकल्प कर दिया है—आहुति देदी है, जो दे दिया है, मेरा नहीं है, उसकी ओर से मैं कुछ नहीं कह सकती; न कुछ स्वीकार कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर सकती हूँ, और—न कुछ दे सकती हूँ,—पर तुममें मेरा वह जीवन है जो मैं हूँ, जो मेरा मैं है, और वह मूर्त्त नहीं है, इसलिए कम सच नहीं है, कम जीता नहीं है। शेखर तुम मुझे बहिन, माँ, भाई, बेटी कुछ मत समझो, क्योंकि मैं—अब कुछ नहीं हूँ, एक छाया हूँ,—और अमूर्त्त होकर मैं—तुम्हारा अपना आप हूँ, जिसे तुम नाम नहीं दोगे।"

शशि और शेखर के प्रेम में 'इन्सैस्ट बैरियर' के कारण वासना का शमन ऊपर से दिखाई देता है किन्तु वह अचेतन में पहुँच जाती है और चेतन में वे दोनों भाई-बहिन बने रहते हैं—पवित्र रहते हैं किन्तु अचेतन में उनकी वासना 'कान्शेन्स' से निरन्तर संघर्ष करती रहती है और उसका परिणाम यह होता है कि दोनों में से चैन किसी को नहीं मिलता। फ्रायड भी इसे इसी रूप में स्वीकार करता है।[1]'

---

1. "An incestuous love strikes repression, the emotional and the sensual components are seperated, and the only emotional component persists in consciousness, owing to its apparent

(शेष आगे पृष्ठ पर)

भुवन और रेखा ('नदी के द्वीप') के सम्बन्ध में इससे उल्टी बात होती है। वहाँ यौन प्रवृत्ति और कान्शैन्स में जो तुमुल युद्ध छिड़ता है, उसमें पहले यौन प्रवृत्ति की विजय होती है और कान्शैन्स दब जाती है, आगे चलकर यौन प्रवृत्ति दब जाती है और कान्शैन्स उभर आती है। नौकुछिया ताल पर वह रेखा के समर्पण को स्वीकार करने में असमर्थ रहता है, उसे इस सम्बन्ध में अपने भीतर कहीं गहरे में एक भीषण संघर्ष अनुभव होता है, किन्तु वह उस संघर्ष को समझ नहीं पाता, न उसे चेतन मन के स्तर पर ला पाने में समर्थ होता है। कान्शैन्स उसे रोकती है और आत्मसमर्पण नहीं हो पाता।

जैनेन्द्रजी के पात्रों में यह अचेतन संघर्ष कुछ भिन्न प्रकार का है। उनकी नायिकाएँ जब किसी अन्य की ओर आकर्षित होतीं तथा समाज-विरोधी क्रिया करती हैं तो लगता है जैसे समाज और उनका पति आदि तो संघर्ष में आते नहीं हैं। उनके पतियों ने तो उन्हें सब कुछ करने की आज्ञा देदी है, फिर क्या कारण है कि वे शान्त नहीं रह पातीं और जिधर उनका मन रमने लगा है उधर झुककर एक दम तेजी के साथ क्यों नहीं चलतीं ? पति परिस्थिति की यथार्थता से अपना मानसिक सन्तुलन बिठा लेते हैं और पत्नी को किसी रोक-टोक या संघर्ष आदि का सामना नहीं करना पड़ता; इसका परिणाम यह होता है कि नायिकाओं के लिए वाह्य संघर्ष नगण्य हो जाता है, समाज आदि का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठाया गया है—लगता है जैसे वे किसी अन्य दुनिया के जीव हों, फिर भी यदि मानसिक वेदना है तो उसका कारण सम्भवत: उनके परम्परागत सामाजिक संस्कार और पातिव्रत धर्म की रूढ़ियाँ ही हो सकती हैं। ये संस्कार उनके मन में इतने भीतर प्रवेश पा गये होते हैं कि वे अपने पति से उदासीन होने की कल्पना भी नहीं कर पातीं और यह विचार आने पर वे एकदम चंचल हो उठती हैं। अपने को अपराधी मानने लगती हैं।

उदाहरण—'सुखदा' के पति ने उसे कुछ भी करने और कहीं भी जाने की स्वतन्त्रता दे रखी है। वह कुछ दिन 'दल' के मकान में अकेली रहती है, किन्तु इस काल में भी उसका चित्त शान्त नहीं रहता, वह निरन्तर अपने

(शेष पिछले पृष्ठ का)

desexualization. The original love is transferred to a new feminine object which resembles the former, but the link between sexual emotion and genital sexuality is not re-established." ('Paycho-Analytical Method and the Doctrine of Freud', Vol. I : Dalbez, p. 134.)

से जूझती रहती है । वह अपने पति का आह्वान सच्चे मन से करती है और कहती है—

"आज चौथा दिन है, निश्चय आज स्वामी आएँगे । कहाँ गये हैं ? क्यों गये हैं ? नहीं जानती—पर उन्हें आज आजाना ही होगा, नहीं तो सब मेरे लिए निषिद्ध बन जायगा । उन्हें आना है, आना है, आना है ।"

जैनेन्द्रजी की नायिकाओं में भी हमें यौन प्रवृत्ति और विवेक बुद्धि का संघर्ष दिखाई देता है । वे भरसक चेष्टा करने पर भी अपने पतियों को समर्पित नहीं हो पाती हैं । वह सोचती है कि मैं भी हृदय रखती हूँ और और मेरा भी कुछ दायित्व है, मेरे बुद्धि है और मैं निर्णय कर सकती हूँ, मैं अपने पति की गुलामी क्यों करूँ ? मैं भी कुछ हूँ और यह दिखा दूँगी कि बहुत कुछ कर सकती हूँ । उनका यही विवेक उन्हें पति को छोड़कर प्रेमियों के सामने भी पूर्ण समर्पण करने से रोकता है और वे पतियों के सामने अपराधिनी बनकर स्वयं अपनी दृष्टि में हेय नहीं बनना चाहतीं । उनमें जो मानसिक संघर्ष चलता है उसमें वह जूझती तो हैं किन्तु अन्त में विजय यौन प्रवृत्ति की ही होती है । हरि प्रसन्न के सामने सुनीता, क्रान्तिकारीलाल के सामने सुखदा, जितेन के सामने भुवन मोहिनी, जयन्त के सामने अनिता का समर्पण और कुछ नहीं वरन् विवेक के ऊपर उनकी यौन प्रवृत्ति की विजय है । जब वे दूसरे के सामने समर्पित हो जाती हैं तो उनका अहं स्वयं ही पराजित होकर नीचे बैठ जाता है ।[1] जैनेन्द्रजी अहं के विरोधी हैं और किसी न किसी प्रयत्न से वे अहं को नष्ट करना अपना उद्देश्य मानते हैं । वे यह स्पष्ट रूप से मानते हैं कि व्यक्ति को केवल अपने से ही सन्तोष नहीं होता—जो व्यक्ति केवल अपने में ही लीन रहता है और दूसरे की अपेक्षा को ठुकराता रहता है वह अपूर्ण है, उसकी पूर्णता तभी सम्पन्न होगी जबकि किसी के प्रति समर्पित हो जायगा । इसीलिए जैनेन्द्रजी के उपन्यास और नायिकाएँ जब किसी के प्रति पूर्ण सपर्पण कर देते हैं तो सामान्य (Normal) हो जाते हैं और

---

1. "There is a natural source of conflict between them, for the ego urge is selfish, aiming as it does at the conservation of the individual and its personal up-building, while the sex urge, whose aim is to assure the continuance of the species, is attruistic. By attruism, I mean that one human being must, before finding the complete gratification of his sex urge he helps gratify, the result of that co-operation being the creation of a third human being." ('Psycho-Analysis and Love' : Andre Tridon, pp. 46-47.)

उपन्यास समाप्त हो जाता है। अपने को पूरा-पूरा प्राप्त करने के लिए दूसरे की आवश्यकता होती है।

जैनेन्द्रजी के पुरुष पात्रों में अहं और विवेक की प्रबलता रहती है। वे दया, परोपकार और उदारता के रूप में विकसित होते दिखाये गये हैं। इन पात्रों की विषमता यह है कि वे किसी को न स्वीकार कर पाते हैं और न किसी के सामने समर्पित हो पाते हैं। हरि प्रसन्न (सुनीता), प्रीमियर (कल्याणी), कान्त (सुखदा), नरेश (विवर्त) और जयन्त (व्यतीत) सभी या तो गिरते-गिरते बचते हैं या आजीवन आविवाहित रहते हैं, या पत्नी के प्रति उदारता दिखाते हैं या कहीं पूर्ण रूप से समर्पित नहीं होते और इसी प्रकार अन्त तक चलते रहते हैं।

ये पात्र अपने अचेतन में चलने वाले द्वन्द्व को स्वयं भी नहीं जान पाते कि हमारा चेतन मन जिस काम को करना चाहता है, न जाने क्यों प्रयत्न करने पर भी हम उसे नहीं कर पाते और जिसे नहीं करना चाहते, उसे कर जाते है? वे दुःखी होते रहते हैं और परवश पड़े रहने वाले की सी दशा रहती है। इसका कारण यह होता है कि उनके अचेतन का द्वन्द्व उनके भाव, विचारधारा और व्यवहार को प्रभावित करके उनमें आवेग-जन्य तनाव पैदा करता रहता है, जिससे उनका सन्तुलन परिस्थितियों से ठीक प्रकार नहीं बैठ पाता।[१]'

अन्तर्विवाद

जो पात्र अन्तर्मुखी होते हैं, वे अपने भीतर की बात छोटे-छोटे असम्बद्ध वाक्यों द्वारा प्रकट करते हैं। इस कथन द्वारा हमें पात्र के भीतरी संघर्षों और ऊहापोहों का ज्ञान होता है। इस सम्बन्ध में लेखक स्वयं तो मौन रहता है किन्तु पात्र स्वयं बोलता है।[२] इन कथनों द्वारा पात्र के वे भाव स्पष्ट होते हैं जो उस समय उसके मन में उठ रहे होते हैं। पाठक पात्र के

---

1. "The conflict, though unconscious, continues to influence the individual's thought, feeling and behaviour and is the cause of his emotional tension and inability to adjust." ('Psychology and Life' : Ruch, pp. 527-28.)
2. "The internal monologue, like every monologue, is the speech of given character, designed to introduce us directly into the internal life of this character, without the author's intervening by explanation or commenting." ('The Psychological Novel' : Edel, p. 80.)

साथ तादात्म्य स्थापित करके उसके अन्तर्मन में पैठता है और सब कुछ स्वयं देखने और समझने का प्रयत्न करता है ।[1]

जब तक उपन्यासकार पात्रों और पाठकों के बीच में बना रहता है तब तक पात्रों का मनन और चिंतन अन्तर्विवाद के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता । इन पात्रों के मन में जो कुछ होता है उसे उपन्यासकार की आँखों के माध्यम से हम देखते हैं । हमें सीधे-सीधे पात्र के मन के भीतर बैठ कर कुछ देखने की आज्ञा नहीं होती । परिणाम यह होता है कि पाठक तटस्थ दर्शक बना रहता है, वह पात्रों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता और साहित्य के परम उद्देश्य 'रस' की अनुभूति हो जाती है । वह पात्र के सुख-दुःख को अपना सुख-दु.ख नहीं समझ पाता । इन वर्णनों को आज का पाठक विश्वास के साथ स्वीकार नहीं करता, अतः इन्हें अन्तर्विवाद नहीं माना जा सकता ।

'पार्टी कामरेड' (यशपाल) की गीता का अन्तर्विवाद बड़ा ही अनुभूति-पूर्ण है, जब वह पार्टी-दफ्तर से लौटकर मजहर और रंगा की बातों को याद करने लगती है और उसी सन्दर्भ में उसे समाचार पत्र का एक समाचार भी याद आ जाता है—

"जर्मनी में लड़कियों और स्त्रियों ने अपने चुम्बन बेच-बेचकर युद्ध के समय देश की सहायता के लिए रुपया इकट्ठा किया था और जापान में वेश्यावृत्ति द्वारा देश की सहायता के लिए धन कमाया था । इस देश में ऐसे काम को किसी भी भावना से नहीं सहा जा सकता । क्या यह स्वयं देश और समाज का पतन नहीं है ? समाजवादी रूस में क्या इसे सहन किया जा सकेगा ? कभी नहीं । परन्तु इस देश में बिना जाने-बूझे पुरुष को पति रूप में स्वीकार कर लेना क्या स्त्री का आत्मसम्मान है ? कोई स्त्री विवश हो वेश्या बनती है, कोई विवश हो पतिव्रता—, भावरिया गुण्डे ने क्या—नौ रुपए चौदह आने इसका मूल दिया था ? जैसे कामिला मोजीवाला बनवारी के साथ सिनेमा आने से इसलिए इनकार न कर सकी कि बनवारी ने उसके

---

1. "The internal monologue, in its nature on the order of poetry, is that unheard and unspoken speech by which a character expresses his inmost thoughts, those lying nearest the inconcious, without regard to logical organisation—that is, in their original state—by means of direct sentences reduced to syntactic minimum, and in such a way as to give the impression of reproducing the thoughts just as they come into mind." (Ibid, p. 80.)

भाई की सहायता की थी।—सेलिंग वन्स कम्पनी (अपनी संगति का मूल्य वसूल करना) ? पास बैठकर दिल बहलाना, मुस्करा कर खुश करना, हाथ मिलाकर दिल बहलाना, या कमर में हाथ डालने देना ? प्रयोजन वही है। क्या है स्त्री भी ? उसका मूल्य पुरुष को सन्तोष देने में ही है ? यदि अपने सन्तोष के लिए वह कुछ करे तो मै उसे बुरा न कहूँगी।"

इस कथन द्वारा हम पात्र के गहरे मन में अन्दर बैठकर उसका विकास तक देख सकते हैं। 'दादा कामरेड' की यशोदा जब अपने पति के सन्देह का शिकार होती है तो बहुत बुरी तरह छटपटाने लगती है और उस दशा में उसका मन जो विद्रोह करता है उसका आर्थिक अन्तर्विवाद पाठकों को बिलकुल अपना सा लगता है। हम सोचने लगते हैं इसमें और हममें (यदि हम इस परिस्थिति में हुए होते तो) कोई अन्तर नहीं है। इस मोनोलौग का एक अंश देखिए--

"यह मेरा अपमान क्यों कर रहे हैं ?—मुझ पर यह ज्यादती क्यों कर रहे हैं ?—आखिर मैंने किया क्या है ? यही न एक आदमी से मेरे परिचय का इन्हें पता लगा—मैंने इन्हें यह नहीं बताया कि मैंने कांग्रेस में काम करने की बाबत बात-चीत की है—यह आठ वर्ष से कांग्रेस में काम कर रहे हैं, मैंने तो कभी इनसे नहीं पूछा कि वह क्या और क्यों कर रहे हैं ?—इतनी सी बात पर सन्देह ? केवल इसलिए न कि मैं एक स्त्री हूँ। मानो स्त्री सन्देह के काम के सिवा और कुछ कर ही नहीं सकती।"

जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में अच्छे अन्तर्विवाद इसलिए नहीं मिलते कि लेखक अपने को पात्र और पाठकों के बीच से अलग नहीं करता। लेखक लगातार या तो बना रहता है या थोड़ी देर के लिए अलग रहकर पाठक को आगे को बढ़ाता है और बीच में रोक देता है कि यह मत भूलो कि मैं उपस्थित नहीं हूँ, मेरी उपस्थिति को स्वीकार करते हुए ही तुम कुछ जान और समझ सकते हो। 'सुनीता' से एक उदाहरण देखिए—

"वह सोचने लगी कि अगली रात तक ही मानों उसका यह जन्म है। क्या अगली रात पुनर्जन्म ही नहीं ले लेना होगा ?—वे लोग कौन हैं ?—वे क्या चाहते हैं ? अपनी जानों को हथेली पर रखकर वे लोग क्या चाहते हैं ? किन्तु सच, परिवार ही क्या व्यक्तित्त्व की परिधि है ? क्या मैं इसी में बीतूँ ? क्या इसे तोड़कर लाँघकर, एक बड़े हित में खो जाने को मैं न बढ़ूँ ? उस विस्तृत हित के लिए जीऊँ ? उसी के लिए मरूँ, तो क्या यह अयुक्त है ? अधर्म है ?—ओ मेरे स्वामी, तुम कहाँ हो ? कहाँ हो ? भला जी, तुमने ऐसी चिट्ठी मुझे किसलिए लिखी ?—क्या इसीलिए कि मुझे परख में डालना चाहते हो ?"

इसके पश्चात् लेखक तुरन्त अपनी उपस्थिति बता देता है और यह

कहता प्रतीत होता है कि पाठको ! आप मुझे न भूलिए, मैं सदैव आपके साथ हूँ। जो कुछ आप देख रहे हैं यह मेरी ही कृपा का फल है, इस प्रकार मोनोलौग का प्रभाव कम हो जाता है।

मनोविश्लेषण

आचार्य फ्रायड के अनुसार यह कहा जा सकता है कि बचपन में हमें जो दुःख देने वाले अनुभव होते हैं और जिन संघर्षों का कोई हल नहीं निकल पाता, वे शमित हो जाते हैं और हमारे अन्तर्मन में प्रविष्ट हो जाते हैं। वे खुलकर ऊपर तो आते नहीं किन्तु उस व्यक्ति के भावों, विचारों और क्रियाओं को सदैव प्रभावित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि उस व्यक्ति में आवेगपूर्ण तनाव उत्पन्न हो जाता है, जिससे उसके मस्तिष्क का सन्तुलन स्थिति के साथ ठीक-ठीक बैठ नहीं पाता। जिस पात्र की यह दशा होती है, वह मनोविज्ञान शास्त्र के अनुसार न्यूरोटिक (बीमार) कहलाता है। उसका निदान करने के पश्चात् फ्रायडाचार्य उसकी चिकित्सा-प्रणाली सुनियोजित करते हैं। इसके लिए वे आवश्यक मानते हैं कि मनोविश्लेषण द्वारा इन कुण्ठाओं को अचेतन में से निकालकर चेतन में लाने से रोगी स्वस्थ हो जाता है।[1] बिना कारणों (अचेतन परकों) को जाने रोगी कभी भी रोग-मुक्त नहीं हो सकता है। अचेतन की घुण्डियाँ खोलने की अनेक विधियाँ हैं।

उपन्यासकार भी इसी प्रकार अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए इन सभी या इनमें से कुछ प्रणालियों को अपनाता है। उपन्यासकार को अपने पात्रों को रोग-मुक्त करना नहीं होता, वरन् वह तो पात्र के अचेतन में व्याप्त संघर्ष को ध्वनित करके भिन्न-भिन्न स्थितियों में उसके भाव, विचार और आचार को प्रेरित करने वाले कारणों में एकसूत्रता लाकर पाठकों को समझाने का प्रयत्न करता है।

इलाचन्द जोशी के नायक या नायिकाएँ न्यूरोटिक होते हैं। उनके अचेतन में कोई न कोई ऐसी ग्रन्थि होती है जो उन्हें चैन से कहीं भी नहीं बैठने देती। उनकी कुण्ठाओं का विश्लेषण जोशीजी अपने उपन्यासों में करते हैं। सामान्य जीवन में फ्रायड के अनुसार ऐसे रोगियों की चिकित्सा यही है

---

1. "Psycho-analysis aims primarily at the reclamation of the Id by the Ego." ('New Introductory Lectures on Psycho-analysis' : Freud, p. 112.)

कि उन कुण्ठाओं को याद दिलाया जाय और बताया जाय कि तुम्हारी असाधारण मनोदशा का कारण यही ग्रन्थियाँ हैं ।[1] जिन कारणों से जीवन के प्रति गलत दृष्टिकोण बन गया है, यदि उनका ज्ञान हो जाय तो वह गलती स्वभावतः दूर हो जाती है । बीमार की आदत बिगड़ जाती है और वह केवल एक स्मृति बनकर रह जाती है । होता यह है कि अचेतन की कुण्ठा चेतन में आकर समाप्त हो जाती है—अचेतन चेतन के सामने हार जाता है। जोशीजी अपने पात्रों की पूर्व घटनाओं की खोज करते हैं और उनका सही कारण जानकर उन्हें चेतन मस्तिष्क में लाते हैं । स्मृति के द्वारा पात्र को ऐसा लगता है, जैसे मैंने किसी महत्वपूर्ण सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया है । वह समझने लगता है कि उसके अचेतन पर जो पर्दा पड़ा हुआ था, उसी के कारण वह जीवन भर इधर से उधर केन्द्र से च्युत पिण्ड के समान मारा-मारा फिरता रहा है । इसका एक सुन्दर उदाहरण महीप के प्रति धीरज के ये शब्द हैं—

"आपकी बातों से मेरे भीतर की जो बन्द आँखें खुली हैं, वे उस दहकते हुए सत्य को अब प्रत्यक्ष देखने लगी हैं, जिसके ताप का अनुभव मैं अपने अज्ञात में इतने दिनों तक करता रहा था, पर जिसे देख नहीं पा रहा था ।"

इस प्रकार का अनुभव मनोविश्लेषण पद्धति की पूर्ण सफलता है । बाल्यकाल की स्मृतियाँ अचानक ही प्रकट नहीं हुआ करतीं, उनके पीछे इच्छा शक्ति की प्रेरणा का रहना आवश्यक माना गया है ।[2] इच्छा जितनी ही तीव्र होगी, स्मृतियाँ उतनी ही स्पष्टता और तीव्रता के साथ उभरेंगी । शेखर की वेदना एक साथ उसके बचपन की स्मृतियों को उभार देती है । एक-एक करके सारी घटनाएँ उसके सामने उभरने और स्पष्ट होने लगती हैं । एडलर के अनुसार मनुष्य की स्मृतियाँ जीवन के प्रति बन चुके उसके दृष्टिकोण के प्रतिकूल नहीं जा सकतीं । जीवन में असंख्य सुख और दुःखों से भरी हुई

---

1. "The essence of analytical cure consists in resolving morbid habits by reducing them to the memory of events from which they sprang." ('Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud' : Dalbeiz, p. 206.)

2. "There are no chance memories : out of the incalculable number of impressions which met an indvidual, he chooses to remember only those which he feels, however darkly, to have a bearing on his situation." ('What Life Should Mean to You : Adler, p. 73.)

घटनाएँ घटती हैं और इन घटनाओं के पश्चात् उनके संस्कार बीज रूप में अचेतन मस्तिष्क में पड़ जाते हैं। जब पिछली घटनाओं को याद किया जाता है तो वे सभी घटनाएँ एक साथ उभर कर सामने नहीं आतीं और न वे बिना क्रम के अप्रत्याशित रूप में ही सामने आती हैं। अचेतन में पड़ी हुई उन्हीं घटनाओं के संस्कार हमारे चेतन में आते हैं जो उस मनुष्य के जीवन दर्शन के अनुकूल होते हैं।

शेखर की माँ के बारे में उसकी स्मृति है जिसे वह डायरी में लिखता है—

"अच्छा होता कि मैं कुत्ता होता—दुर्गन्धमय कीड़ा—कृमि होता—बनिस्वत इसके कि मैं वैसा आदमी होता, जिसका विश्वास नहीं है।"

एक अन्य स्मृति उभरती है—

"वह (शीला) मेरी शिष्या थी, पर मैं उसका गुरु न था—उसके लिए मैं था एक बड़ा सा भाई—किन्तु ऐसा भाई जिससे प्रेम किया जा सके, जिसके आधार पर स्वप्न बुने जा सकें—और जो उपेक्षा से उन्हें तोड़ दे।"

मुक्त आसंग प्रणाली

फ्रायड ने जहाँ कुण्ठाओं को कारण बताया, वहाँ उसका उपचार करते हुए कहा कि रोगी को आराम से लिटाकर जो कुछ उसके मन में आये निर्बाध रूप से कहने की स्वतन्त्रता दे देनी चाहिए। इससे असामान्य मनोदशा वाले पात्र भी सामान्य हो जाते हैं। इस प्रणाली को जैनेन्द्रजी ने अपने उपन्यासों में स्वीकार किया है। उनका 'जयवर्द्धन' उपन्यास इसका एक सुन्दर उदाहरण है। इसके स्पष्ट संकेत उसमें दिये गये हैं—

हूस्टन की डायरी—१२ मार्च—

"बोलते समय उसकी आँखे मुझसे हट गई थीं मानो वे बन्द की गई थीं,—बहुत दिनों की बात है, बीस, शायद बाईस वर्ष पहले की, सागर का तट था।..........उसकी आँखें खुलीं, जैसे उसने अब पहचाना कि यह बाईस वर्ष बाद की आज है, कि बात मुझ दिलवर हूस्टन से हो रही है........ वह एक दम शिष्ट थी और संयत, जैसे जो सुनाया वह पट पर दीखा था, देखकर वर्णन के रूप में ही कह सुनाया गया था।"[१]

जैनेन्द्रजी के अन्य उपन्यासों में भी मुक्त आसंग प्रणाली के छुटपुट उदाहरण मिल जाते हैं। 'कल्याणी' के वकील साहब मनोविश्लेषक ही सिद्ध

---

१. 'जयवर्द्धन', पृष्ठ १२८-३२।

होते हैं। वे 'कल्याणी' को उस स्थिति में ले आते हैं, जहाँ पहुँचकर वह अपने मन की गाँठ खोलने लगती है।

इलाचन्द जोशी के 'निर्वासित' का धीराज महीप के सामने अपने मन की गाँठ खोलने के लिए आकुल हो उठता है और धीरे-धीरे उसकी मुखाकृति बदल कर आँखें चमकने लगती हैं और उसकी वाग्धारा बह निकलती है।

बाधकता-विश्लेषण

मनोविश्लेषक पात्र को मुक्त आसंग से पूर्व यह समझा देना अपना कर्त्तव्य समझता है कि पात्र के मन में जो कुछ आये उसे बिना किसी प्रकार के संकोच आदि के उसके सामने प्रस्तुत करता चले; फिर भी पात्र उन घट-नाओं को या तो छोड़ जाता है या जानबूझकर छिपा लेता है या उनको बताने से साफ-साफ मना कर देता है। जहाँ पात्र रुक जाय या कुछ कहने में संकोच करने लगे, फ्रायड के अनुसार पात्र की कुण्ठाओं से उसका गहरा सम्बन्ध माना जाता है। मनोविश्लेषक ऐसे स्थलों पर विशेष रूप से सतर्क होकर कार्य करने लगता है और उन कुण्ठाओं को उसके चेतन मन में लाने का पूरा प्रयत्न करता है जिन्हें वह अचेतन में पाले हुए है। मनोविश्लेषण पद्धति के अन्तर्गत इसी प्रयत्न को बाधकता-विश्लेषण कहा जाता है।

'जयवर्द्धन' में इला अपनी बात कहते-कहते जब रुक जाती है और अपने तथा जयवर्द्धन के बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं करना चाहती है और बताने से इनकार तो नहीं करती किन्तु बहाना करती है—

"लेकिन क्या मैं अब आपसे क्षमा माँग सकती हूँ?" हूस्टन मानता नहीं, तो कहती है—

"पर क्या प्रेम की व्याख्या में मुझे आपके साथ पड़ना होगा?........"
कई बार प्रयत्न करने पर भी इला कुछ बताती नहीं तब तक हूस्टन उसके मन की थाह नहीं पा सका—उसे उसका विश्वास नहीं मिल सका। अन्त में जयवर्द्धन जब इला को समझाता है कि हूस्टन तो सत्य का अन्वेषी है—इसे बताने में संकोच न हो—तब वह समझौते की स्थिति में पहुँचती है और मुक्त आसंग करने लगती है।

हूस्टन का यह प्रयत्न इसी बाधकता-विश्लेषण के अन्तर्गत आता है। यदि हूस्टन धैर्य से काम न लेता तो सारा खेल बिगड़ सकता था। हूस्टन की जिज्ञासा उसी क्रम से बढ़ती गई जिस क्रम से कि इला का रहस्योद्घाटन न करने का हठ बढ़ता गया।

बाधकता-विश्लेषण का दूसरा उदाहरण इलाचन्द जोशी के 'निर्वासित'

उपन्यास का पात्र धीराज है जिसे महीप जैसे मनोविश्लेषक मुक्त-आसंग की स्थिति में लाना चाहता है। जब कुछ बातों को बताकर धीराज कुछ बातों को छिपाना चाहता है तो महीप कहता है—

"देखिए, ठाकुर धीराजसिंह आपने जब अपने व्यक्तिगत जीवन की कुछ गुप्ततम बातें मेरे आगे प्रकाशित करने की कृपा की है तब दूसरी बातों के सम्बन्ध में इस प्रकार का अर्थहीन संकोच न आपको सुहाता है, और यह उचित ही है। आप यदि मेरे प्रश्नों का उत्तर दें तो बहुत सम्भव है कि आपके मन को शान्ति पहुँचे और यह भी सम्भव है कि मैं भी अपनी समझ के अनुसार आपको इस विषय में कुछ सलाह दे सकूँ।"

इस कथन का परिणाम यह होता है कि धीराज के मुख पर संकोच की जो रेखाएँ थीं, वह मिट जाती हैं और वह आसानी के साथ महीप की ओर देखता हुआ अपने मन की बातें कहने लगता है।

स्वप्न-विश्लेषण

फ्रायड की मान्यता है कि प्रत्येक स्वप्न का एक विशेष अर्थ होता है। कोई स्वप्न कितना ही अतीन्द्रिय, अलौकिक और अस्वाभाविक हो, किन्तु उसकी भी युक्तिसंगत व्याख्या की जा सकती है। फ्रायड Interpretation of Dreams में बताता है कि स्वप्न का अर्थ और कुछ नहीं होता वरन् उसका कारण होता है; स्वप्न के अर्थ को जान लेने पर यह पता चल जाता है कि क्या कारण था जो स्वप्न लेने वाले व्यक्ति के अन्तर्मन में कुण्ठा बनकर अशान्ति मचा रहा था। अशान्ति का कारण जानने के लिए स्वप्नों का विश्लेषण किया जाता है। फ्रायड के अनुसार सेन्सर जिन बातों को असामाजिक और अनुपयुक्त समझकर चेतन मन में नहीं आने देता, स्वप्न में वही बातें अपनी अभिव्यक्ति पाती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कुछ कारण ऐसे असामाजिक और दुःखद होते हैं कि स्वप्नावस्था में भी हमारा विवेक उन्हें असली रूप में नहीं आने देना स्वीकार करता, तो वे फिर अपना रूप बदल कर आते हैं। इस रूप-परिवर्तन को स्वप्न-संघटन कहा गया है। इन स्वप्न संघटनों (Dream Mechanism) को फ्रायड ने पाँच श्रेणियों में विभाजित किया है—

(१) कडैन्सेशन,
(२) डिस्प्लेसमेंट,
(३) ड्रामेटाइजेशन,
(४) सिम्बोलाइजेशन,
(५) सेकण्डरी एलोबोरेशन।

कडेन्सेशन—जिस स्वप्न-संघटन में अनेक विचारों और व्यक्तियों से सम्बन्धित शमित भावनाएँ स्वप्न में इस प्रकार प्रकट हों कि वे सब मिलकर एक से ही सम्बन्धित प्रतीत हों—वह कन्डेन्सेशन कहलाता है।

डिस्प्लेसमेंट—जिस स्वप्न-संघटन में किसी व्यक्ति के प्रति जाग्रतावस्था की अनुभूतियाँ तथा संवेदनाएँ उस व्यक्ति से हटकर किसी अन्य व्यक्ति से सम्बद्ध हो जायें—वह डिस्प्लेसमेंट कहलाता है।

ड्रामेटाइजेशन—ड्रामेटाइजेशन में स्वप्न से एकदम पहले की जाग्रतावस्था के भावों या विचारों का स्वप्न में छाया-चित्रों के रूप में प्रकटीकरण होता है।

सिम्बोलाइजेशन—सिम्बोलाइजेशन (प्रतीकीकरण) उस स्वप्न-संघटन को कहते हैं जहाँ व्यक्तियों या घटनाओं से सम्बन्धित दुःखद या असामाजिक अनुभूतियाँ या सम्वेदनाएँ अपने मूल रूप में प्रकट न होकर प्रतीकों के सहारे रूप बदल कर प्रकट होती हैं।

सेकण्डरी एलोबोरेशन—सेकण्डरी एलोबोरेशन एक ऐसी क्रिया विशेष है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति स्वप्न से जाग्रतावस्था की ओर बढ़ने के साथ-साथ स्वप्न में देखी बातों में कृत्रिम क्रम लाता जाता है।

ड्रामेटाइजेशन और सिम्बोलाइजेशन में यह अन्तर माना गया है कि ड्रामेटाइजेशन में प्रतीक और प्रतीकीकृत भाव का सम्बन्ध व्यक्तिगत होता है, जबकि सिम्बोलाइजेशन में यह सम्बन्ध व्यापक होता है।

इन्हीं स्वप्न-संघटनों के द्वारा जब उपन्यासकार पात्रों का चरित्र-चित्रण करता है और उनके चरित्र की विशेषताओं का विश्लेषण करके उनके मन की कुण्ठाओं को प्रकाश में लाता है तो स्वप्न विश्लेषण कहलाता है।

फ्रायड ने कवियों के स्वप्नों का विश्लेषण करने वालों को स्पष्ट रूप से यह चेतावनी दे दी है कि वे कवि-स्वप्नों पर विचार करते समय यह न भूलें कि उन्होंने उन स्वप्नों के वर्णन में से वे समस्त सूचनाएँ निकाल दी होंगी जिन्हें वे अनावश्यक और व्यर्थ की समझते रहे होंगे।[१]

इलाचन्द जोशी ने प्रायः सभी प्रकार के स्वप्न-संघटनों का प्रयोग अपने उपन्यासों में किया है। उनमें से कुछ का विश्लेषण किया जाता है।

---

1. "In considering dreams reported by a poet one may often assume that he has excluded from the report those details which he received as disturbing and which he considered unesential". ('Interpretantion of Dreams' : Frued, p. 379.)

'प्रेत और छाया' की मंजरी का स्वप्न जिसे वह अपनी रुग्ण माँ की चारपाई के सहारे टिककर देखती हैं, जोशीजी ने इन शब्दों में वर्णित किया है––

"वह प्रेत और छायाओं के किसी घोर दुःस्वप्न लोक में किसी दुर्गम पहाड़ी पथ पर एकाकी चली जा रही है—किसी अज्ञात रहस्यमय अनिर्दिष्ट स्थान में बसेरा ढूँढ़ने के लिए; जैसे समय बहुत कम है और चलने में शीघ्रता न करने से अनन्त अन्धकारमयी काल रात्रि उसे चारों ओर से घेर कर अपने विकराल जबड़ों से डस लेगी, वह हाँफती हुई, ठोकरें खाती हुई केवल चली जा रही है, कहाँ पहुँचने पर उसे विश्राम मिलेगा, इसका कुछ भी ध्यान उसे नहीं है।"

मंजरी इस स्वप्न को देखने से पूर्व अपने दुःखद जीवन और भविष्य की चिन्ताओं से भाराक्रान्त थी। वे दुश्चिन्ताएँ ही इस स्वप्न में नाटकीकरण संघटन (Dramatisation Mechanism) के द्वारा प्रकट हुई हैं। पहाड़ जिस पर वह चली जाती हुई दिखाई गई है, वह पहाड़ मुसीबतों का पहाड़ कहा जा सकता है। उसका इस पहाड़ पर चढ़ना इस बात का सूचक है कि उसे इन मुसीबतों का सामना करना है। प्रतीकों के द्वारा उसके जीवन में किसी प्रेमी से विवाह सम्बन्ध न होना स्वप्न के एकाकीपन का द्योतक है।

'शेखर : एक जीवनी' का एक स्वप्न-संघटन जिसे कन्डेन्सेशन की कोटि में रखा जा सकता है, विचारणीय है। शेखर को एक बार उसकी माँ उसके छोटे भाई को पैंसिल न देने के अपराध में मारती है। शेखर इससे उबल पढ़ता है और जान से मार डालने पर भी पैंसिल न देने की प्रतिज्ञा-सी करता है। खाना नहीं खाता और रात को अपनी चारपाई पर लेट जाता है—नींद नहीं आती और आती है उसकी बहन सरस्वती जिसे वह प्रेम भी करता था। वह उसकी गोद में सिर रख कर रोने लगता है और सो जाता है रात में एक स्वप्न देखता है। वह स्वप्न इस प्रकार बताया गया है—

"एक विस्तीर्ण मरुस्थल। दोपहर की कड़कड़ाती हुई धूप।

शेखर एक ऊँट पर सवार उस मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है—सवेरे से, या कि पिछली रात से, वह वैसे भागा जा रहा है—और उसके पीछे कोई आ रहा है। शेखर को नहीं मालूम कि कौन ? लेकिन वह जानता है कि कोई उसका पीछा कर रहा है, और कभी वह मुड़कर देखता है, तो पीछे बहुत से ऊँटों के पैरों से उड़ी धूल उसे दीखती है—…………वह प्यासा है, पर पानी कहीं दीखता नहीं…………सामने नीचे लहराता हुआ एक पहाड़ी झरना बह रहा है, शुभ्र, स्वच्छ, निर्मल………

शेखर घुटने टेक कर बैठता है..............पानी बहुत नीचे है, और वह उस तक पहुँचता नहीं..........

उसके हाथ पर सरस्वती का हाथ है.......दोनों प्यासी आँखों से पानी की ओर देख रहे हैं.........वह दबाकर सरस्वती का हाथ पकड़ लेता है।"

इस स्वप्न का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है—

"इस स्वप्न में शेखर के गत जीवन के अनेक भाव, विचार और अनुभूतियाँ तथा कई दृश्य मिलकर एकाकार हो गये हैं। इसमें शेखर के जीवन का कटु यथार्थ मरुस्थल के रूप में प्रकट हुआ है और उसकी अहंता (इगो) ऊँट के रूप में है जिस पर चढ़ कर वह मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है। उसका पीछा करने वाला 'कुछ' उसके माँ-बाप और अन्य लोगों की अहंताएँ (इगोज) हैं, जो उसे घेरकर उसका समाजीकरण करना चाहती हैं। इस मरुस्थल में उसे केवल एक ही शाद्वल (ओसिएस) दिखाई देता है और वह है 'सरस्वती'। शेखर प्यासा ही भागता चला जा रहा है। उसकी प्यास सेक्स की प्यास है, जिसे वह बुझाना चाहता है, पर झरने के पास पहुँचकर भी वह अपनी प्यास नहीं बुझा सका है। उसके हाथ पर सरस्वती का हाथ है और वे दोनों प्यासी आँखों से पानी की ओर देख रहे हैं। एक दूसरे के निकटतम होने पर भी दोनों प्यासे ही रह जाते हैं। जल रूपी सेक्स-तृप्ति (Gratification) को वे पा नहीं सकते, क्योंकि वे सगे बहन-भाई हैं, शायद इसीलिए।"[1]

इसी प्रकार 'नदी के द्वीप' में प्रतीकीकरण संघटन के द्वारा रेखा के स्वप्न का वर्णन है। रेखा देखती है कि वह और भुवन नदी के किनारे की रौस पर बैठे हैं अर्थात् उनके यौन सम्बन्ध को सामाजिक मान्यता नहीं मिल सकी है। फिर वे कागज की नाव पर बैठकर नदी में उतरते हैं—इससे रेखा की उनके अस्थायी (कच्चे) प्रणय-सम्बन्धों पर प्रकट मत अभिव्यक्त होती है। नदी का पानी सूखा रेत हो जाना—उनके सम्बन्धों में आई हुई नीरसता का प्रतीक माना जा सकता है। भुवन उसके प्रति उदासीन होता जा रहा है, अतः रेखा को स्वप्न में उसका चेहरा बदला हुआ लगता है। इसमें प्रतीकों द्वारा कुण्ठाओं को अभिव्यक्त करने का सुन्दर प्रयास है।

---

१. 'हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास' : रणवीरचन्द्र रांग्रा पी-एच० डी० का शोध प्रबन्ध (आगरा विश्वविद्यालय), पृष्ठ ५००।

निराधार-प्रत्यक्षीकरण का विश्लेषण

मानसिक रोगग्रस्त व्यक्तियों को अपने सामान्य जीवन में ऐसी परि-स्थिति से गुजरना पड़ता है कि मानो स्वप्न देख रहे हों, किन्तु यह स्वप्न नहीं होता वरन् अचेतन की ग्रन्थियों का संघर्ष इतना प्रबल हो जाता है कि जाग्रतावस्था में भी निराधार प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। हैल्यूसीनेशन की दशा ठीक वही होती है जो स्वप्न की होती है, केवल अन्तर यह है कि एक जाग्रतावस्था का अनुभव है और दूसरा सोने के समय का। इस दशा में व्यक्ति उन ध्वनियों और व्यक्तियों तथा वस्तुओं को भी प्रत्यक्ष सुनता और देखता है जिनका बिलकुल अस्तित्त्व नहीं होता।[1]

जब निराधार-प्रत्यक्षीकरण की स्थिति प्रारम्भ होती है तो रोगी उसे केवल भ्रम मान लेता है, किन्तु धीरे-धीरे यह दशा बढ़ती जाती है और उसका विवेक दबने लगता है और अन्त में यह स्थिति आ जाती है कि देखने वाले दृश्य और सुनाई पड़ने वाली आवाजें प्रत्यक्ष हो जाती हैं और पात्र उन पर अविश्वास नहीं कर पाता।

निराधार-प्रत्यक्षीकरण की सारी प्रक्रियाएँ कल्याणी के माध्यम से जैनेन्द्रजी ने व्यक्त की हैं। वह हैल्यूसीनेशन की रोगिणी है, उसके प्रत्यक्षी-करण का ब्यौरा उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

"कोई एक महीने से गुसलखाने से सिसकी की आवाज उन्हें सुन पड़ती थी। जैसे कोई मुँह देखकर रोता हो। साँझ का अँधेरा गाढ़ा होता कि आवाज शुरू हो जाती। पहले तो वह सुनती रहीं और टालती गईं। सोचा कि होगा कुछ। कहीं मन का भ्रम ही न हो। पर चीज वह टाले न टल सकी। जैसे वह आवाज डटती हो तो अन्दर कलेजे को पकड़ लेती हो। कई बार झटपट वह वहाँ गईं। पर देखें तो कहीं कुछ नहीं।

एक रोज आधी रात बीते वह सपने से चौंककर जगी। सन्नाटा था। बत्ती मद्धम जल रही थी। सपने सिर में घूम रहे थे। तभी सुनती क्या है,

---

1. "A dream is a hallucination in sleep, and a hallucination is only a waking dream, though it is probable that the waking impression, seeing that it can contend on equal terms with the impressions derived from the external objects, is more vivid than the common run of dream." : 'Appreciations and Thought Transference' : Frank Padmore p. 186.)

कि जैसे गुसलखाने में कुछ फुस-फुस आवाजें हो रही हों। कमरे में वह अकेली थी। मारे डर के वह वहीं की वहीं गढ़ सी रही। पर कान चौकन्ने थे और चेतना उद्दीप्त थी। कुछ देर में वे आवाजें कुछ प्रबल हुईं। जैसे किसी स्त्री और पुरुष में बहस छिड़ी हो। बहस जरा में बखेड़ा बन आई। अब कुछ साफ सुनाई देने लगा—

एक पुरुष कण्ठ ने कहा—चुप नहीं रहेगी क्यों ?

स्त्री कण्ठ ने उत्तर दिया—मैं नहीं रहूँगी चुप ! कभी नहीं रहूँगी ! मुझे मार क्यों नहीं डालते ? लेकिन चुप मैं न रहूँगी। मैं—

'नहीं रहेगी ? मुझे गुस्सा मत दिला।'

'जो मन में है पूरा क्यों नहीं कर डालते हो ? लो, मुझको मार डालो। पर समझ रखना, चुप मैं मरने के बाद भी न रहूँगी।'

'नहीं रहेगी ?'

'नहीं, नहीं, नहीं रहूँगी।'

'देख, मैं फिर कहता हूँ।'

'नहीं, नहीं, नहीं। हाँ, घोंटो गला—'

'नहीं ? तो ले, मत रह चुप—'

उसके बाद आवाज कुछ भर्राई सी निकली। छटपटाहट सुनाई दी और धीमें-धीमें सब शान्त।

कल्याणी तो जैसे इस पर पत्थर बन आई थी। मति-गति उसकी खो गई थी। इतने में पथराई आँखों से देखती है कि एक आदमी उसी तरफ से आकर उसके कमरे में से आर-पार चला जा रहा है, उसकी घिग्घी बँध गई। डर के मारे चीख भी न सकी। क्षण में वह आदमी जाने कहाँ बिला गया। उन्हें पसीना छूट चला था। कुछ पल बाद होश हुआ, तब जोर से वह चीखी। लोग जग आए, पर तब तक सब लुप्त हो चुका था।·······इसके बाद उनका कहना है कि कई बार वह स्त्री उन्हें दीखी है। इधर तीन रोज से वह पीछा ही नहीं छोड़ती। जब उसका गला घोंटा जा रहा था और आँखें निकली पड़ रही थीं, वह उसकी मूर्ति बार-बार सामने आ खड़ी होती है। गुसलखाने में कल्याणी नहीं जाती, पर वह कमरे में आ जाती है। मन से वह दूर नहीं होती। छरहरे बदन की, अतिशय सुन्दरी, अभी जैसे सयानी उमर भी नहीं है। गर्भवती है। अब भी वह इस घर में रहती है और रोज मिलती है। कल्याणी बचती है, पर कहाँ बचे ?''

इस निराधार-प्रत्यक्षीकरण में पहले तो कल्याणी उसे प्रत्यक्ष नहीं कर पाती क्योंकि वह प्रारम्भिक स्थिति थी और उसका विवेक जाग्रत था—

उसे वह भ्रम कह कर टाल देती है। धीरे-धीरे विवेक कम होता गया और उसका भय बढ़ता गया। परिणाम यह हुआ कि आवाजें प्रत्यक्ष होने लगीं और अन्तिम स्थिति में तो कान और आँखें दोनों इन्द्रियाँ उसे प्रत्यक्ष करने में भी समर्थ हो गईं। उसके इस निराधार-प्रत्यक्षीकरण का कारण उसके अचेतन की ग्रन्थियाँ हैं। वह गर्भवती थी और उसे विश्वास हो रहा था कि इस प्रसव में वह मर जायगी। वह अपने शारीरिक सौन्दर्य को बनाये रखना चाहती थी और अन्य व्यक्तियों से वर्जित सम्बन्धों के कारण अपने को पति और समाज के सामने खड़ी होने लायक भी नहीं समझती है। वह मृत्यु का स्वागत करने को इसलिए भी अपने को तैयार करती है कि इससे यथार्थ जीवन की समस्याओं और घर की लड़ाई आदि से मुक्ति मिल सकेगी। उसका वैवाहिक जीवन नरक है और इसके परिणामस्वरूप उसमें मृत्यु का अकारणमय (फोबिया) विकास पा लेता है। उसके इस निराधार प्रत्यक्षीकरण का तात्कालिक कारण उसको अपने पति से तभी मिलने वाला पत्र है, जिसमें उसने उसकी पहली दयनीय दशा को बताकर उसके उद्धार का श्रेय अपने को दिया था और उसे अपनी इच्छा के अनुकूल चलाने के लिए सभी सम्भावित उपाय—यहाँ तक कि अदालत का दर्वाजा खटखटाने तक की धमकी दी गई थी।

इस विश्लेषण द्वारा उपन्यासकार पात्रों के अचेतन में पड़ी हुई विकृतियों का विश्लेषण करता है और इसके द्वारा इन पात्रों के मन में गहरे पैठकर उनकी क्रियाओं और विचारों की असंगतियों को आसानी से समझने में समर्थ हो जाता है।

सम्मोह-विश्लेषण

फ्रायड ने पहले तो प्रयोग किये थे कि किसी पात्र को अपने विश्वास में लेकर और उसके ऊपर 'सम्मोह' का प्रयोग करके उसके अचेतन में पड़ी हुई कुण्ठाओं को निकालकर उसे 'सामान्य' (Normal) कर देना; किन्तु धीरे-धीरे उसे इस प्रक्रिया को छोड़ देना पड़ा और इसे छोड़ने का कारण यह था कि उसकी मान्यतानुसार रोगी को ठीक करने वाली यह प्रक्रिया लाभकारी नहीं है, जिसके द्वारा रोगी की अचेतन में पड़ी हुई कुण्ठाएँ चेतन मस्तिष्क में न आ सकें। सम्मोहन' के पश्चात् रोगी जब उठाया जाता है तो उसे कुछ भी याद नहीं होता—वह यह बताने में असमर्थ होता है कि इस समय में उसने क्या कहा है ? फ्रायड के अनुसार मनोवैज्ञानिक केस तब तक

ठीक नहीं हो सकता जब तक कि अचेतन की विकृतियों को उसका चेतन मन स्वीकार न कर ले।

'सम्मोहन' में कोई ऐसा पात्र नहीं लिया जा सकता जो सम्मोहक की आज्ञा न माने या जो उसके ऊपर अविश्वास करे। इस प्रक्रिया में पहले किसी रोगी को सच्ची बातें बताई जाती हैं जिससे उसके मन पर यह विश्वास जम जाता है कि सम्मोहक सच्ची बातें कहता है। धीरे-धीरे सम्मोहक उसे आदेश देकर निद्रा की सी स्थिति में ले आता है और तब ऐसे आदेश देता है जो सत्य नहीं होते, किन्तु रोगी उन्हें सत्य मानकर अपने को उसी दशा में अनुमानित कर लेता है और भूतकाल में उस दशा में उत्पन्न होने वाली विकृतियाँ उसके सामने मुँह उठा-उठा कर आने लगती हैं और वह उन्हें सम्मोहक को बताता चलता है। सम्मोहक धीरे-धीरे सारी बातें पूछकर पुनः उसे होश में ले आता है। साधारण जीवन में जो बात वह नहीं कह और कर सकता—इस दशा में वे बातें भी उसके लिए सहज और सम्भव होती हैं।

उपन्यासकार इस प्रक्रिया का प्रयोग पात्रों के मन में पड़ी हुई विकृतियों का उद्घाटन करने के लिए करते हैं। इससे उनके चरित्र की असंगतियाँ और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली बातों में से संगति और एक प्रकार की कार्यकारण परम्परा स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रक्रिया का सफल प्रयोगकर्त्ता नृपेन्द्र (जिप्सी) है जो अपनी प्रेमिका मनिया पर जब तब 'सम्मोहन' करके उसे अपनी ओर आकर्षित किये रहता है। उसके प्रयोग पूर्ण सफल होते हैं और मनिया के मन में उसके प्रति जो घृणा है, धीरे-धीरे वह समाप्त होने लगती है और वह उसे प्रेम करने लगती है। नृपेन्द्र उसके विद्रोही भावों को दबाने में समर्थ सिद्ध होता है। उसे सम्मोहित करके ठीक वैसे ही आदेश देता है जैसा कि कोई कुशल मनोविज्ञान शास्त्री कर सकता है—

'बोलो, करोगी मुझे प्यार ?'

'हाँ !'

'फिर बोलो, प्यार करोगी और खुश रहोगी ?'

'हाँ, प्यार करूँगी और खुश रहूँगी।'

'अब तो मैं काल की तरह नहीं लगता ?'

'नहीं'

'तब नींद से उठ बैठो।'

प्रत्यक्षावलोकन-विश्लेषण

मनोविज्ञान शास्त्री मानते हैं कि बचपन के प्रथम पाँच वर्षों का जीवन और उस काल में हमारे मन पर पड़े हुए संस्कार जीवन भर हमें प्रेरित करते रहते हैं। यदि किसी व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का सही मूल्यांकन और मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना हो तो उसके लिए यह आवश्यक माना जाता है कि उसके बाल्यकाल की स्मृतियों का विश्लेषण हो। फ्रायड के अनुसार इन्हीं असंगतियों में मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों के कारण निहित रहते हैं। प्राचीन स्मृतियों और बचपन की इन अचेतन में पड़ी हुई घटनाओं को उखाड़ने को ही प्रत्यावलोकन-विश्लेषण कहा जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत उपन्यासकार पात्रों की वर्तमान असंगतियों का कारण खोजते-खोजते उसके अतीत जीवन की रहस्यमयी भूमिका में प्रवेश करता है और उस काल के अनेक रहस्यमय स्थलों को पाठकों के सामने प्रस्तुत करता और उनकी व्याख्या करके वर्तमान समस्याओं का रूप स्पष्ट करता है। इस विश्लेषण द्वारा सारी ग्रन्थियाँ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है।

'प्रेत और छाया' (इलाचन्द जोशी) के नायक पारसनाथ की इसी पद्धति से व्याख्या की गई है। पारसनाथ को अपने पिता की स्मृति आती है और वह उसे यह घोषणा करता दिखाई देता है कि—"पारसनाथ जारज सन्तान है। वह अपने पिता को उसकी माँ को तंग करता देखता था और देखता था अपने पिता को अपनी माँ के अतिरिक्त किसी अन्य पहाड़िन लड़की से प्रेम करते और अन्त में उसे छोड़कर भागते।"

इन घटनाओं के उसकी स्मृति में तेजी से दौड़ने पर अपने जीवन का क्रम उनके साथ जोड़ने लगता है।

इसी प्रकार 'व्यतीत' (जैनेन्द्र कुमार) का नायक जयन्त भी जीवन के एक विशेष अवसर (जन्म दिवस पर) अपने विगत जीवन का विश्लेषण करता है और इस विश्लेषण का परिणाम होता है कि एक पुस्तक हमें उसके द्वारा लिखी हुई उपलब्ध होती है। इसका परिणाम यह होता है कि विगत जीवन की घटनाओं द्वारा पात्र का एक पूर्ण और क्रमबद्ध चरित्र पाठकों को मिल जाता है जिसमें उस व्यक्तित्त्व की सभी विशेषताएँ और विकृतियाँ स्पष्ट हो उठती हैं।

शेखर जीवन के अन्तिम प्रहर में अपने जीवन की स्मृतियों को सँजोता है। उसकी पहली स्मृति उसकी मौसेरी बहन शशि की है। शशि के अस्तित्त्व ने शेखर के अस्तित्त्व को निखारने और बने रहने में यथेष्ट योगदान दिया है इसे शेखर स्वयं स्वीकार करता है। शशि द्वारा शेखर का अहं तुष्ट होता रहा

है। हमें शशि के रूप और शेखर द्वारा उसकी अनिवार्यता जानकर शेखर को समझने में यथेष्ट सहायता मिलती है ।

शेखर की दूसरी स्मृति उसकी माँ है जिससे उसके अहं को काफी ठेस लगी है। माँ ने उसका अविश्वास करके और बैंक से चैक भुना कर लाते समय उसके अहं पर तीव्र प्रहार किये, जिनकी प्रतिक्रिया स्वरूप शेखर ने प्रतिज्ञा करली थी कि वह अपना माँ को कदापि नहीं मानेगा ।

शेखर के जीवन की निर्भयता और अहं भाव इन्हीं बचपन की स्मृतियों के साथ जुड़े हुए सूत्र हैं। इन सूत्रों का विश्लेषण करने पर लगता है कि जिस प्रकार शेखर ने एक बार बाघ से डरकर अनेक भयंकर स्वप्न देखे थे और जब बाघ को घर में आया देखा तो उस पर चढ़ा, उसके मुँह में हाथ डाला और अन्त में उसकी खाल काटकर उसके भीतर का फूँस बिखरा दिया था। इस घटना से उसने अपना खोया हुआ आत्मविश्वास पुनः प्राप्त किया और समझ लिया कि बाहर से भयभीत बनाने वाली सभी वस्तुएँ निर्जीव पात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। यदि उनका वाह्य चाम आप काट सकें तो भीतर का फूँस स्वयं बिखर उठेगा ।

शशि का जीवन उसके अहं की तुष्टि में गया, इसलिए वह उसे भली प्रकार याद करता है और उसकी माँ ने सदैव उसके अहं पर चोट की, अतः अपनी माँ को घृणा द्वारा उसने याद किया और माँ के मरने पर वह रोया भी नहीं था ।

शेखर को इस प्रकार की घटनाओं के विश्लेषण का कोई ध्यान नहीं है, जिन घटनाओं द्वारा वह दूसरों के कपट का कारण बना था। उसे तो वही घटनाएँ याद हैं जिन्होंने उसे दुःखित बनाया है। इसलिए वह अपने को सदैव उपेक्षित समझता रहा और उसकी कहानी 'ए रिकार्ड ऑफ पर्सनल सफरिंग' बन गई है। इसीलिए उसकी अपने विषय में यह मान्यता हो गई है कि मैं घृणा के संसार से इतना कुचला गया हूँ--पीड़ा से इतना घिरा हुआ हूँ कि आनन्द मेरा अपरिचित हो गया है। ये सभी स्मृतियों के आधार पर चरित्र की विशेषताओं का विश्लेषण है ।

पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली

किसी पात्र के व्यक्तित्त्व के अध्ययन के लिए जितनी मनोवैज्ञानिक प्रणालियाँ हैं वे विश्लेषणत्मक हैं, जबकि पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली संश्लेषणात्मक है। इसके उचित प्रयोग द्वारा साहित्य और मनोविज्ञान दोनों का मिला-जुला सुन्दर रूप प्रकट होता है। दोनों कसौटियों पर यह खरी सिद्ध होती है । पात्र

का पूर्ववृत्त और विगत अनुभूतियाँ इस पद्धति का पाथेय हैं और उपलब्धि है वर्तमान जीवन का सांगोपांग और यथातथ्य विश्लेषण। उपन्यासकार अपने पात्र की वर्तमान दशा और परिस्थितियों का विश्लेषण करने के लिए उसके विगत जीवन में उतरता है और इसके लिए उसे पात्र की वर्तमान दशा, पात्र के मन पर पड़े प्रभाव और उनका विकास तथा भावी प्रवृत्तियों का अनुमान खोजना पड़ता है।

इस पद्धति में कई दोष भी हैं। सबसे बड़ा दोष यह है कि पात्र के सम्बन्ध में जानकारी दूसरों द्वारा उपलब्ध होती है। दूसरे जानकारी देते समय उसमें अपनी प्रतिक्रिया और पूर्वाग्रह आदि को भी मिला देते हैं।

यदि उपन्यासकार इस पद्धति के दोषों से बच सके तो वह इसका सुन्दर उपयोग कर सकता है और इस प्रकार वह एक व्यक्तित्व का रहस्योद्घाटन करके पाठकों को सुन्दर, सामंजस्यपूर्ण और सुनियोजित सामग्री प्रदान कर सकता है।

इस पद्धति का सबसे अधिक और सुन्दर उपयोग इलाचन्द जोशी ने किया है। जोशीजी ने 'जहाज का पंछी' में ऐसे पूर्ववृत्तों को स्थान दिया है जो पात्र अपने आप कहते हैं। इन पूर्ववृत्तों को असंदिग्ध और पूर्वाग्रहयुक्त नहीं माना जा सकता। कुछ पूर्ववृत्त इस प्रकार हैं—

(१) करीम चाचा का पूर्ववृत्त (आप बीती कहानी),
(२) हरीपद का पूर्ववृत्त,
(३) फ्लोरा का पूर्ववृत्त (चश्मानशीन अभागिन युवती फ्लोरा का किस्सा),
(४) चकले की अमला, सुजाता, जुलेखा और सुखिया का पूर्ववृत्त।

कुछ पूर्ववृत्त दूसरों द्वारा सुने हुए भी मिलते हैं—

(५) मानसिक अस्पताल की रोगिणी 'बरिक' का पूर्ववृत्त आदि।

इन पूर्ववृत्तों से यह पता चलता है कि पुरुषों के मानसिक सन्तुलन खो बैठने का कारण आर्थिक और स्त्रियों का अतृप्त सेक्स रहता है।

शब्द सहस्मृति परीक्षा

मनोविज्ञान शास्त्री इस पद्धति के अन्तर्गत पात्र को एक शब्द शृंखला सुनाता या पढ़ाता है और प्रत्येक शब्द के पश्चात् यह जानने का प्रयत्न करता है कि इस शब्द को सुनने पर उसके मन में कौन सा शब्द सबसे पहले आया। इस प्रकार वह पात्र की मनोविज्ञान परीक्षा करता जाता है और रोग को पकड़ने का प्रयत्न करता है।

उपन्यासकारों ने भी इस पद्धति का प्रयोग किया है। उपन्यास में इसे ज्यों का त्यों स्वीकार करना उपयुक्त नहीं है। हाँ, कुछ पात्र किसी शब्द विशेष को सुनकर एकदम चौंक उठते हैं और इस प्रकार उनके अन्तर्मन में पड़ी हुई कुण्ठाओं को खोजने में सहायता मिल जाती है।

'प्रेत और छाया' का पारसनाथ 'विवाह' शब्द सुनकर चौंक उठता है और एकाएक उठकर भाग जाना चाहता है। इस चौंकने और भाग जाने की वृत्ति के पीछे क्या रहस्य है, इसे जानने के लिए पाठक व्यग्र होते हैं। धीरे-धीरे यह पता चलता है कि पारसनाथ ने अपने माँ-बाप का जो वैवाहिक जीवन देखा था और उसकी प्रतिक्रिया उसके मन पर हुई थी, उसके फलस्वरूप उसे वैवाहिक जीवन से ही नहीं, 'विवाह' शब्द से भी घृणा हो गई थी और वह घृणा इस कोटि को पहुँच चुकी थी कि वह उसे भूल कर और दूसरों के सन्दर्भ में भी नहीं सुनना चाहता था।

'जिप्सी' का नायक नृपेन्द्र 'नीरू' शब्द से इस प्रकार चौंकता है, जैसे बालक 'हऊआ' से। उसकी माँ बचपन में उसे 'नीरू' के नाम से पुकारा करती थी और उसी सन्दर्भ में वह उस शब्द को चुनौती मानकर चलता है।

'जहाज का पंछी' की लीला 'गंगा-यमुना में आँसू जल'—यह पन्तजी की पंक्ति सुनते ही रोने लगती है।

इस प्रकार हमने देखा कि हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मनोविज्ञान की प्रायः सभी प्रचलित प्रणालियों का प्रयोग हुआ है और इनसे उपन्यास-शिल्प को विकसित होने में यथेष्ट सहायता मिली है। जो विद्वान यह मानते हैं कि हिन्दी साहित्य का सबसे समृद्ध और विकासशील अंग कथा साहित्य है, उनके निर्णय में उपन्यासों के कथ्य और परिमाण के अतिरिक्त शैली शिल्प का भी बड़ा भारी योगदान है।

हिन्दी उपन्यास अब बिना मनोविज्ञान की सहायता के नहीं चल सकता और मनोविज्ञान की अधुनातन शोध उसका संबल बन रही है। व्यक्तित्व को समझने का प्रयत्न मनोविज्ञान और उपन्यास दोनों करते हैं, अतः दोनों का सम्बन्धित होना स्वाभाविक ही है। जैसे-जैसे मनोविज्ञान आगे बढ़ता जायगा, उपन्यास को भी नये-नये क्षेत्र और विषय मिलते जायँगे—ऐसी आशा है, और इस प्रकार साहित्य और शास्त्र मिलकर मानव का कल्याण और रंजन करते रहेंगे।

१०. हिन्दी उपन्यासों में नारी-चित्रण

हमारे शास्त्रों में नारी को पर्याप्त महत्ता और उच्च स्थान दिया गया है, किन्तु जैसे-जैसे परिस्थितियाँ, आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध आदि परिवर्तित होते गये, वैसे ही वैसे पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों में भी परिवर्तन आता चला गया। जिस नारी के सम्बन्ध में एक समय में यह कहा जाता था कि 'जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं', महात्मा लोग तक यह कहने लगे कि 'संसार में क्लेश और पाप का कारण नारी है। नारी का सेवन करने से नर्क मिलता है' आदि आदि।

नारी के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण रूप 'सहचरी' है। समाज के निर्माण काल में पूर्व में भी नारी पुरुष की सहचरी रही होगी। विवाह के आविष्कार से भी पूर्व नारी पुरुष की 'पूरिका' रही होगी। साहित्य में नारी को जहाँ अनेक स्थान दिये गये हैं, वहाँ उसका सबसे व्यापक स्थान 'प्रेमिका' का ही माना गया है। वैसे नारी को हिन्दी उपन्यासकारों ने निम्न रूपों में चित्रित किया है—

(१) प्रेमिका,
(२) स्वच्छन्दा,
(३) पत्नी,
(४) सपत्नी,
(५) विधवा,
(६) रखैल,
(७) माता,
(८) विमाता,
(९) पुत्री,
(१०) भगिनी,
(११) सखी,
(१२) वेश्या,
(१३) दासी,

(१४) लोक सेविका, और

(१५) व्यवसायिका ।

जीवन में नारी को हम जितने रूपों में देखते हैं, उपन्यास जीवन का चित्र होने के कारण उतने ही नारी रूपों से युक्त हो सकता है—और होता है, किन्तु सामाजिक मान्यताओं के आधार पर इसको कुछ सीमाओं में बाँधने की चेष्टा की है और ये वर्गीकरण उसी के परिणाम स्वरूप किये गये हैं ।

प्रेमिका

संसार प्रेम पर आधारित है । कुछ लोगों (दार्शनिकों) की मान्यता है कि संसार में सत्य को एक ही शब्द में व्यक्त करना हो तो उसे 'प्रेम' कह सकते हैं । नारी में कोमलता और प्रेम की मात्रा तथा तन्मयता की स्थिति पुरुष की अपेक्षा अधिक मानी गई है, इसलिए नारी के इसी रूप को काव्य में सर्वाधिक महत्व दिया गया है । हिन्दी उपन्यास के तत्त्वों का जहाँ विवेचन होता है, उसमें आजकल परम्परागत तत्त्वों के अतिरिक्त जिन नवीन तत्त्वों को स्वीकार किया जाता है, उनमें एक तत्त्व 'प्रेम' भी है । उपन्यास में यद्यपि सारा कथानक रहस्य जिज्ञासा पर आधारित दिखाया जाता है किन्तु नारी का प्रेमिका रूप उन जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों का भी आधार बताया गया है जहाँ घटनावैचित्र्य और 'लखलखा' की प्रधानता रही है । खत्रीजी के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' उपन्यासों का आधार उसकी नायिका किशोरी का प्रेम है । कमलिनी और कामिनी के चारों ओर ही सारा घटनाचक्र चलता है । रम्भा और कुसुम कुमारी भी इसी प्रकार की नायिकाएँ हैं, जिन्हें अस्वीकार करके उपन्यास की रीढ़ ही टूट जाती सी लगती है ।

प्रेमचन्द के उपन्याओं में मालती, सिलिया (गोदान), सकीना (कर्मभूमि), सोफिया (रंगभूमि) आदि ऐसी नारियाँ हैं जो पुरुषों को प्रेरणा ही नहीं देतीं, परिवर्तित तक कर देती हैं । अवसर आने पर सिखातीं और आगे बढ़ने का पथ प्रशस्त करने से भी नहीं चूकतीं । जोशीजी की लज्जा (लज्जा) और मंजरी (प्रेत और छाया) आज के युग की प्रेमिकाओं के समान हैं, सुनीता (सुनीता) और दिव्य। (दिव्या) का प्रेमिका रूप अपने साथ-साथ युग प्रश्नों को लेकर चलता है । सारी दुनिया आज इन प्रश्नों को हल करने में लगी हुई है। समाज-शास्त्री और दार्शनिक इन प्रश्नों में उलझे हुए हैं ।

इन प्रेमिकाओं को अनेक उपविभागों में विभाजित किया जा सकता है । नारी के प्रेयसी रूप को निम्न विभागों में रखा जा सकता है—

(१) अविवाहिता, सगाई होने पर रूप, गुण आदि के कारण पुरुष पर आसक्त हो।

(२) अविवाहिता, जो विवाहित पुरुष पर आसक्त हो।

(३) विवाहिता, जो कुमारावस्था के प्रेमी से प्रेम करती रहे।

(४) विवाहिता, जो विवाहित, अविवाहित या विधुर प्रेमी पर आसक्त रहे।

(५) अविवाहिता या विवाहिता जो एकांगी प्रेम करती रहे, चाहे दूसरा पक्ष उसकी निरन्तर उपेक्षा ही क्यों न करता हो।

(६) विधवा, जो किसी से प्रेम करती हो।

(७) विवाहिता, जो पति को दूसरी स्त्री की ओर आकर्षित देखकर स्वयं ईर्ष्यावश किसी से प्रेम दिखाना प्रारम्भ कर दे।

स्वच्छन्दा

प्रेमिका का 'काम' या 'अहं' जब दमित होता है तब उसकी प्रतिक्रिया होती है। यह प्रतिक्रिया जब सरल मार्ग का अनुसरण करती है तो त्याग, दया, सहानुभूति, सेवा, करुणा आदि मार्गों से अपनी अभिव्यक्ति करती है और जब वह भयंकर मार्ग अपनाती है तो बिना भविष्य का विचार किये ही विध्वंस करने लग जाती है। उसका विध्वंसकारी रूप हमें कभी-कभी शंकाकुल और अस्वाभाविक तक लगने लगता है। उस समय उसके लिए कुल, मर्यादा, लज्जा आदि के सामान्य बन्धन भी क्षणिक सिद्ध होते हैं। आज के यूरोपीय और विशेषतः अमेरिकी उपन्यासों में इस प्रकार की नारियों का चित्रण आधिकता से होता है। ढूँढ़ने पर हिन्दी में भी ऐसी नारियाँ मिल जाती हैं।

देवकीनन्दन खत्र की मोहिनी (नरेन्द्र मोहिनी) ऐसी ही नारी है। उसे जब पता चलता है कि उसके प्रेमी नरेन्द्र का रमा से विवाह होने वाला है, तब उसकी इतनी भयंकर प्रतिक्रिया उसके मन में होती है कि वह नरेन्द्र और रम्भा दोनों को विष देकर समाप्त करने का प्रयत्न करती है। जब संयोगवश वे बच जाते हैं तो अपनी आत्महत्या करने में भी उसे देर नहीं लगती।

किशोरी लाल गोस्वामी की जोहरा (तारा), गोविन्द वल्लभ पन्त की ताइजो (मदारी), जोशी की शारदा (निर्वासित), प्रसाद की घंटी (कंकाल) आदि इसी कोटि की नारियाँ हैं। भगवती चरण वर्मा के 'पतन' की सरस्वती पहले भवानीशंकर को प्रेम करती है, आगे चलकर प्रतापसिंह के वासनामय कुचक्र में

पड़कर हत्या करने को तैयार हो जाती है। यद्यपि कल्पना द्वारा निर्मित इन पात्रों को सम्भाव्य तो माना जा सकता है, किन्तु नारी इतनी गतिशील सामान्य जीवन में देखी नहीं जाती। 'मुर्दों का टीला' (रांगेय राघव) की वेणी भी ऐसी ही है जिसका चरित्र प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अनेक प्रकार के सहसा परिवर्तनों और अस्थिरताओं से भरा हुआ है। स्वच्छन्दा नारियों के चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि और स्वाभाविकता का ध्यान प्रायः लेखक नहीं रखते और इसका परिणाम यह होता है कि ये पात्र सस्ते, रोमांचक और और अस्वाभाविक बनकर रह जाते हैं। आज के मनोवैज्ञानिक युग में कोई पात्र जब तक मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरेगा, तब तक उसको मान्यता नहीं मिल सकती।

पत्नी

गृहस्थ रूपी रथ के पति और पत्नी दो पहिये हैं। एक पहिये से रथ नहीं चल सकता, गृहस्थ भी इनमें से एक की अनुपस्थिति में नहीं चलता। गृहस्थ में पुरुष की प्रधानता और नारी की अधीनता भारतीय आदर्श है। हिन्दी उपन्यासकारों की दृष्टि में पत्नी प्रेमिका, सहचरी, पतिव्रता ,अर्द्धांगिनी, सती और गृहिणी है। पत्नी होने पर वह केवल प्रेयसी नहीं रहती; वरन् कर्त्तव्य और त्याग उसके अनिवार्य आभूषण या बन्धन हो जाते हैं, जो उसकी चंचलता को गम्भीरता में और अनुराग को तपस्या में परिवर्तित कर देते हैं। उसमें पूर्ण निष्ठा और परितृप्ति का अपूर्व संयोग उत्पन्न हो जाता है। इस वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में हिन्दी उपन्यासकार एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं, जिनमें से कुछ को शृङ्खलाबद्ध करके यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयत्न है—

(१) विवाह सम्बन्ध श्रेष्ठ है—किन्तु माँ की आज्ञा आवश्यक है।

(२) विवाह सम्बन्ध आध्यात्मिक सम्बन्ध है जो व्यक्ति और समष्टि दोनों का मंगल करता है।

(३) विवाह सम्बन्ध श्रेष्ठ है—माँ-बाप की आज्ञा उचित है, किन्तु वयस्क कन्या की अनुमति लेना भी उचित है।

(४) विवाह स्वय जीवन साथी ढूँढ़कर करना चाहिए।

(५) विवाह स्वयं जीवन साथी ढूँढ़कर करना चाहिए। माँ-बाप का हस्तक्षेप बिलकुल न हो।

(६) विवाह एक समझौता है, जिसे व्यक्ति व्यक्ति के साथ, जब तक

उचित समझे केवल तब तक के लिए करता है। इसे कभी भी समाप्त किया जा सकता है। यह आध्यात्मिक नहीं है, केवल मनुष्य निर्मित है।

आज के समाज में भी स्त्री को आदर्शमय गुणों से विभूषित देखने की लालसा अधिकांश पाठकों की रहती है। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्दजी ने गोदान में मेहता के माध्यम से जो विचार प्रकट किये हैं, वे विचारणीय हैं—

"मेरे जेहन में औरत वफा और त्याग की मूर्ति है जो अपनी वेजबानी से, अपनी कुर्बानी से, अपने को मिटाकर पति की आत्मा का एक अंग बन जाती है। देह पुरुष की रहती है पर आत्मा स्त्री की होती है। स्त्री पृथ्वी की तरह धैर्यवान है, शान्ति सम्पन्न है, सहिष्णु है। पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं तो वह महात्मा बन जाते हैं और नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं तो वह कुलटा हो जाती है। संसार में जो कुछ सुन्दर है, उसीकी प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूँ। मैं उससे यह आशा रखता हूँ कि उसे मार भी डालूँ तो प्रतिहिंसा का भाव उसमें न आवे। अगर मैं उसकी आँखों के सामने किसी स्त्री को प्यार करूँ तो भी उसमें ईर्ष्या न जागे।"

प्रेमचन्दजी जहाँ पतिव्रता धर्म का इतना सम्मान करते हैं, वहाँ स्त्रियों की दशा से दुःखी भी हैं। 'सेवासदन' में उन्होंने इस दुःख को गजानन्द के माध्यम से प्रकट किया है—

"ईश्वर वह दिन कब आयेगा कि हमारी जाति में स्त्रियों का आदर होगा।"

भगवती प्रसाद वाजपेयी ने अपने उपन्यासों में यह बताने की चेष्टा की है कि स्त्री जब पति को छोड़ जाती है तो इसका दोष पति पर होता है। यदि पति अत्याचार न करे और उसे सच्चा प्रेम दे, तो कोई स्त्री पतिगृह को छोड़कर न जाय। किन्तु यह मान्यता बिलकुल उचित नहीं मानी जा सकती। यह भी एकांगी मत है, कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें निश्छल प्रेम करने वाले से भी सन्तोष नहीं मिलता।

प्रसाद प्रेमचन्द के आदर्श को ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। उन्होंने 'इरावती' में चन्दन के माध्यम से कहा है—

"एक मात्र पति-कुल की कल्याण-कामना से भरी हुई दिनान्त में भी सबको खिला-पिला कर स्वयं यज्ञ-शिष्ट अन्न खाती हुई उपालम्भ न देकर प्रसन्न रहती है। वही गृहिणी है, अन्नपूर्णा है।"

यशपाल का मत इस सम्बन्ध में आधुनिकतम है। वे नारी की दयनीयता का कारण पुरुषों द्वारा उसकी दासता की आयोजना को मानते हैं। मारिश ('दिव्या') कहता है—

"नारी के प्रति अनुराग से, उसके आश्रय की कामना से ही पुरुष उसे अपने अधीन कर आत्मनिर्भर नहीं रहने देता। नारी प्रकृति के विधान से नहीं, समाज के विधान से भोग्य है। समाज में और प्रकृति में भी स्त्री-पुरुष अन्योन्याश्रय हैं।"

पतिव्रत धर्म पर व्यंग्य करते हुए रावर्टसन ('दादा कामरेड') कहता है—

"जिस तरह पराई सम्पत्ति लेना पाप है उसी तरह दूसरे की औरत से बात करना भी पाप है, परन्तु औरत ऐसी सम्पत्ति है जिसके अपने हाथ, पैर और सिर हैं, इसलिए उसे समझाया गया कि अपने मालिक से चिपके रहने में ही तेरा कल्याण है। तू पतिव्रता बनी रहना।"

हिन्दी उपन्यासों में तीन प्रकार की पत्नियाँ चित्रित की गई हैं—

(१) **सहधर्मिणी**—भारतीय आदर्श पत्नी।

(२) **सहचरी**—पति की प्रेमिका और आत्मसम्मान के प्रति भी पूर्ण जागरूक, किन्तु पति में पूर्ण रूप से अनुरक्त।

(३) **सहकर्मिणी**—समानता की कांक्षिणी, विद्रोहिणी, नारी-अधिकारों पूर्ण परिचित, शिक्षित और स्वच्छन्द।

इन तीनों के अनेक उदाहरण हमारे उपन्यासों में मिलते हैं—

सहधर्मिणी—श्रद्धा (प्रेमाश्रम), महालक्ष्मी (टेढ़े मेढ़े रास्ते), रतन (कुंडली-चक्र), धनिया (गोदान), लीलावती (रक्त की प्यास) आदि इसी कोटि में आने वाली पत्नियाँ हैं।

सहचरी—जालपा (गबन), सुखदा (कर्मभूमि), गोमती (विराटा की पद्मिनी), नीलू (नीलमणि) आदि पत्नियाँ स्वाभिमानी और पति अनुरक्ता दोनों गुणों से युक्त है।

सहकर्मिणी—यशोधा (दादा कामरेड), लीला (अनुरागिनी), सुमन (सेवासदन), अर्चना (चलते-चलते), नन्दिनी (प्रेत और छाया), मनोरमा (मनुष्य के रूप) और मीनाक्षी (प्रेमाश्रम) आदि पत्नियाँ इस कोटि में आ सकती हैं।

सपत्नी

हिन्दी उपन्यास में भारतीय समाज की भूतकालिक और वर्तमान कालीन समस्याओं का चित्रण होने के कारण यहाँ के समाज में प्रचलित सपत्नियों का भी अच्छा चित्रण मिलता है। भारतीय समाज में एक पुरुष का अनेक नारियाँ होना वैध माना जाता था, अतः प्रत्येक सम्पन्न पति की पत्नी

य, तो वैध सपत्नी के घर में आने के सम्भावित दुःख से अथवा पति की अवैध प्रेमिका आदि से सदैव शंकाकुल और त्रस्त बनी रहती थी। आज के नये समाज में प्रथम कोटि के दुःख की सम्भावनाएँ कम हो गई हैं, किन्तु द्वितीय प्रकार के दुःख की सम्भावनाएँ अधिक होने लगी हैं।

हिन्दी उपन्यासों में सपत्नी को स्त्रियों की ईष्या का केन्द्र माना गया है। सौत के लिए स्त्रियाँ हर असम्भव कुकृत्य करने को तैयार रहती हैं एक ओर जहाँ यह देखा जाता है, वहाँ दूसरी ओर यह भी देखा जाता है कि औरतें आग्रह करके अपने पति का दूसरा विवाह करती हैं और आजीवन अपनी सपत्नी के साथ प्रेमपूर्वक रहती हैं। हिन्दी उपन्यास में सपत्नियों के ये दोनों रूप मिलते हैं।

इस कलह का एक सुन्दर उदाहरण 'कायाकल्प' के राजा विशालसिंह की चार पत्नियाँ हैं। उनकी पहली तीन पत्नियाँ वसुमती, रामप्रिया और वसुमती पुरानी चाल की हैं, किन्तु स्त्रियों के वे सभी हथकण्डे जानती हैं जिनके द्वारा पुरुष को वश में किया जाता है तथा सपत्नी को नीचा दिखाया जाता है। राजा साहब अपनी चौथी पत्नी मनोरमा पर आसक्त होकर उसे सबसे अधिक प्रधानता देते हैं। मनोरमा पढ़ी-लिखी और आधुनिका होने के कारण इन सारी रीतियों और हथकण्डों से अपरिचित रहती है, किन्तु राजा के न चाहने पर होता वही है जो ऐसे मामलों में हुआ करता है। एक दिन रोहिणी रोष में आ कर मनोरमा से भिड़ पड़ती है और कहती है—

"मुझमें वह हाव-भाव कहाँ कि इधर राजा साहब को मुट्ठी में किये रहूँ, उधर हाकिमों को मिलाये रखूँ, यह तो कुछ पढ़ी-लिखी शहरवालियों को ही आता है। हम गँवारिनें यह त्रियाचरित्र क्या जानें? यहाँ तो एक ही की होकर रहना जानती हैं।"

इस कलह का परिणाम होता है रोहिणी की मृत्यु। रोहिणी मरकर राजा साहब का मन मनोरमा की ओर से फेर देने में समर्थ सिद्ध होती है। इसके परिणामस्वरूप उस घर की शान्ति नष्ट हो जाती है।

'विराटा की पद्मिनी' में राजा नायकसिंह की मृत्यु के पश्चात् मंत्री द्वारा अनेक षड्यंत्रों का शिकार होने पर दोनों रानियाँ (सौतें) साथ-साथ रहती हैं और मिलकर परिस्थिति का मुकाबिला करती हैं।

हमारे उपन्यासों में दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं।

रखैल

समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति भी रहे हैं जो अपनी पत्नियों से सन्तुष्ट नहीं

रहे। कोई नौकरानी या नीच जाति की सुन्दर स्त्री मन भर गई तो उसे अपनी अंकशायिनी बना लिया। यदि वह स्त्री निष्ठावान हुई तो आजीवन उसे स्वामी मानकर उसके प्रति वफादार बनी रही और यदि पुंश्चली हुई तो किसी भी समय दूसरे के साथ चली जाती है। ऐसी स्त्रियों को 'रखैल' की संज्ञा दी जाती है। रखैलें नीची कौमों की ही हों—यह आवश्यक नहीं है। कभी-कभी संकटग्रस्त उच्चवर्ण की नारियाँ भी इस जीवन को व्यतीत करने के लिए मजबूर हो जाती हैं। भारतीय-समाज का सर्वांगपूर्ण चित्र देने वाले महान् उपन्यासकार प्रेमचन्द ने 'गोदान' में नारी के इस रूप का भी सुन्दर विश्लेषण किया है, उसकी निष्ठा और मान्यताएँ स्पष्ट की हैं कि वह क्या चाहती है, किस प्रकार पति की वफादार रहती है, आदि सारे प्रश्न स्पष्ट होकर आये हैं। 'गोदान' में दातादीन-सिलिया और गोबर-झुनिया के दो युग्म इसी कोटि में आते हैं, जिनका समाज-व्यवस्था द्वारा मान्य पद्धति से विवाह नहीं हुआ है, जो अपनी पसन्द से एक-दूसरे को स्वीकार करके जीवन पथ में चल पड़ते हैं और भविष्य तथा समाज की चिन्ता नहीं करते, वे ही इस पथ के पथिक बनते हैं।

दातादीन और सिलिया के युग्म में दातादीन ब्राह्मण-पुत्र और सिलिया चमार-पुत्री है। इस प्रकार के सम्बन्ध का परिणाम यहाँ तक होता है कि चमार लोग आकर दातादीन के मुँह में हड्डी डाल देते हैं। समाज और अपने पिता के भय से दातादीन गर्भिणी सिलिया को त्याग देता है। वह अकेली रहने लगती है, किन्तु अपने माँ-बाप के घर नहीं जाती और न दूसरों की आश्रित बनती है। वह तो केवल अपने परिश्रम पर जीवित रहना जानती है और ऐसा ही करती भी है। जब वह दातादीन के आश्रय में थी तब भी दिन-भर काम करती थी और दो रोटी खाती थी। वह केवल देना चाहती है, लेना नहीं। इस भयंकर स्थिति में उसके पुत्र होता है जो उचित लालन-पालन और संरक्षण के अभाव में मर जाता है। सिलिया इतने पर भी दातादीन के प्रति पूर्ण वफादार बनी रहती है। पुत्र-मृत्यु पर दातादीन पाश्चात्ताप करता है और अन्त में सारे समाज को ठुकराकर सिलिया को स्वीकार कर लेता है और उसी के साथ उसी की झोंपड़ी में रहने लगता है।

गोबर अहीर-पुत्री झुनिया को, जो विधवा-युवती है, लेकर भागता है। झुनिया को तो घर छोड़ जाता है और स्वयं शहर चला जाता है। सभी उसकी भर्त्सना करते हैं। होरी इसके लिए दण्ड भरता है। गोबर फिर उसे शहर ले जाता है और जब गोबर शराब के नशे में झुनिया को मारता है, तब वह यही सोचती है कि यदि मैं रखैल न होती तो मेरे साथ इस प्रकार का व्यवहार

न होता; किन्तु गोबर की बीमारी में उसकी निष्ठा और श्रम-शक्ति उभरती है और इसका परिणाम यह होता है कि उसे अपना पहला स्थान मिल जाता है।

'कायाकल्प' की लौंगी ठा० हरिसेवकसिंह की रखैल है जो पतिव्रता की तरह उनकी आजीवन सेवा करती है और उनके बच्चों को अपना बच्चा समझती है। अन्त में ठाकुर साहब अपनी सारी जायदाद लौंगी के नाम कर जाते हैं जिससे कि उसे कोई कष्ट न हो और उसे उनका पुत्र गुरुसेवक घर से निकाल न दे।

'भूले बिसरे चित्र' में भी रखैल के समान ही एक पात्र हमें मिलता है और वह है तहसीलदार के पिता मुंशीजी की सेविका; जो उनकी नौकर भी रही है और पत्नी भी। आगे चलकर वह पूर्ण रूप से उन्हीं के साथ रहने लगती है। मुन्शीजी भी उसकी बात मानते हैं और मुसीबतों में उसका सहारा उनके लिए प्रेरणादायक सिद्ध होता है।

आजकल भी कुछ लोग अपनी पत्नियों को छोड़कर या अविवाहित होने की दशा में रखैलों के साथ रहते हैं—कभी-कभी समाज के भय से भाग भी जाते हैं। अतः ये रखैलें हमारी यथार्थ सामाजिक समस्याओं में से हैं। समाज को इतना सहिष्णु और उदार होना चाहिए कि इन प्रेम-सम्बन्धों को, यदि दोनों अविवाहित या विधुर हैं तो, पति-पत्नी के रूप में स्वीकार कर ले और उन्हें समाज का विहित अंग समझे।

विधवा

आदर्श भारतीय समाज में विधवा का रूप आजीवन पतिव्रता रह कर सात्विक जीवन बिताना माना जाता है। नारी स्वभाव से कोमल और प्रेम करने वाली होती है, वह बिना प्रेम किये रह नहीं पाती—अतः आदर्शानुकूल उसके लिए व्यवस्था है कि वह भगवान को अपना इष्टदेव मानकर भक्ति कर सकती है। (जब तक पति जीवित है तब तक पति को ही परमेश्वर माना जाय।) नारियाँ और पुरुष कमजोरियों और मानव-सुलभ वासनाओं आदि से युक्त होते हैं; स्वभावतः यह कमजोरी विधवा में भी आ जाती है और देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप ये विधवाएँ किसी न किसी को आत्मसमर्पण कर बैठती हैं। समाज इसे मान्यता देने के स्थान पर निन्दनीय मानता है—उनके बच्चों का (यदि सारी कोशिशों के बाद भी वे जीवित रह जायँ) समाज में कोई स्थान नहीं होता, वरन् उन्हें सदैव तिरस्कार और लांछना मिलती रहती है।

विधवाएँ यदि शिक्षित होती हैं तो कोई नौकरी करके या अन्य कार्य करके अपना जीवन-यापन करती हैं और यदि कोई सन्तान हुई तो उसका पालन पोषण करती हैं, किन्तु ऐसा न होने पर स्थिति भयंकर होती है। पति-गृह में उसका कोई स्थान नहीं होता—सभी उसे अतिरिक्त भार समझ कर दुतकारते हैं। पितृ-गृह में भौजाई और भाई आदि उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होते—यदि समाज या माँ-बाप (यदि वे जीवित होते हैं) के भय से वे उन्हें घर में रखते भी हैं तो सदैव एक नौकर का सा व्यवहार करते हैं और समय-असमय उसे दुर्भाग्यशाली, कलंकिनी, पति को खाकर अब उन्हें भी खा जाने वाली आदि के विशेषणों से स्वागत करते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उसे अपना जीवन काटना कठिन हो जाता है। एक तो वह पति-वियोग में स्वयं ही अर्द्धजीवित रहती है और उस पर यह कष्ट ! ऐसी दशा में यदि कोई उससे सहानुभूति के दो शब्द कह देता है तो वह उसी को अपना सच्चा हितैषी और प्रिय मान लेती है; और इनमें अधिकांश स्वार्थी, कायर और वासना की तृप्ति करने वाले होते हैं जो उसके जीवन को अधिक कष्टमय तथा भारयुक्त बना देते हैं। आज की अधिकांश वेश्याओं का प्रारम्भ इसी समस्या का फल है।

हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक युग में विधवा को आदर्श-पथ अपनाने की मान्यता ही सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। 'पुनर्जन्म' और 'आदर्श हिन्दू' आदि उपन्यासों में यही मान्यता उपलब्ध होती है। परिवर्तित होती हुई समाज-व्यवस्था में आज इसे स्वीकार करना सम्भव नहीं है, अतः विधवा-विवाह के विरोध को भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने व्यंग्य द्वारा इतना अधिक आलोचित किया है कि उनके सारे उपन्यास इसके उदाहरणों से भरे पड़े हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

"एक पति का सुख प्राप्त कर लेने के पश्चात् वह दाम्पत्य सुख को पुनः प्राप्त करने की अधिकारिणी रह ही कहाँ जाती है ? ऐसा होने पर वह दूषित न हो जायगी ! विष ही विष उसकी देह में फैल जायगा और फिर वह विष हमारे समाज में फैलकर उसे रसातल को न ले जायगा ? पुरुष आवश्यकता पड़ने पर दूसरा विवाह कर सकता है क्योंकि उसकी आवश्यकता समाज की पीर है, किन्तु स्त्री की आवश्यकता, उसका उत्पीड़न, उसकी मानसिक और दैहिक भूख, समाज में कोई वस्तु नहीं। ऐसी दशा में समाज उससे सहानुभूति क्यों रखे ? और इस प्रश्न पर ठण्डे दिल से विचार करने की आवश्यकता ही क्या है ? हमारे धर्मशास्त्र हमें इसकी अनुमति नहीं देते। पुरुष के लिए एक स्त्री के मर जाने और तुरन्त उसका स्थान पूर्ण होने में,

उसकी मंथर गति में, अन्तर नहीं आता, तब विधवा के पक्ष में ऐसा विचार आते ही उसके हृदय की गति क्यों रुकने लगती है ?"

('चलते-चलते', पृष्ठ २०८)

प्रसाद, प्रेमचन्द, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, इलाचन्द जोशी, चतुरसेन शास्त्री, अंचल, उषादेवी मित्रा, निराला, गोविन्दवल्लभ पन्त, जैनेन्द्र, रांगेय राघव आदि उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में विधवा समस्या को उठाया है और उन्हें समाज का एक दुःखता हुआ फोड़ा माना है, जिसका उपचार शीघ्र ही होना चाहिए। विधवाओं की करुणापूर्ण कथाएँ इतनी मार्मिक और हृदयस्पर्शी सिद्ध हुई हैं कि कुछ उपन्यासों की तो मुख्य कथा ही इस समस्या को आधार बनाकर चलती है। इस प्रश्न के मूल में नारी की आर्थिक-परतन्त्रता ही है, जिसे आदर्शमय भव्य रूप देकर भिन्न-भिन्न समाधान सुझाने का प्रयत्न विभिन्न उपन्यासों में किया गया है। इस समस्या को यथार्थवादी दृष्टि से देखना आवश्यक है और विधवा ही क्या, नारी मात्र को जब तक आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्रता नहीं मिलती, समाज में उसका यथोचित स्थान नहीं बन सकेगा। प्रेमचन्द ने नारी समस्या को परोक्ष रूप से और वेश्या के प्रश्न को प्रत्यक्ष रूप से उठाया है और बिना हल किये ही छोड़ दिया है। उसका हल जो उनकी दृष्टि में होगा वह सार्वदेशिक और सार्वजनीन होगा, इसीलिए मिर्जा के 'मंडली' बनाने पर कहा गया है कि यह प्रश्न २-४ वेश्याओं का नहीं है वरन् व्यापक है। इसकी व्यापकता आज और बढ़ गई है। उपन्यासकारों को नारी के मान्य आदर्शों में उसकी आर्थिक मुक्ति को सर्वप्रथम स्थान देना चाहिए, तभी जन-मानस बदलेगा और उसके साथ ही बदलेंगे समाज के मानदण्ड जो हमें पीछे की ओर खींच रहे हैं।

माता

माँ को मानव का सर्वश्रेष्ठ रूप कहा गया है। वह न केवल जननी है वरन् पोषणकर्त्ता और जगत में सभी प्रकार के आनन्दों को लेने के योग्य बनाती है। वह पिता, गुरु, सखा और अनुचर आदि सभी होती है। यही कारण है कि वेदों से लेकर आज तक माता का इतना गुणगान किया गया है। माता के महत्व के कारण ही श्रीराम के बनवास के समय माँ, पिता की आज्ञा से माता की आज्ञा को श्रेष्ठ कहकर, उन्हें रुकने का निर्देश देना चाहती हैं, किन्तु जब उन्हें बताया जाता है कि यह न केवल पिता की आज्ञा है वरन् माता कैकेयी की भी अभिलाषा है तो वह चुप हो जाती हैं। माता के इस गौरवमय पद को हिन्दी उपन्यासकारों ने भी स्वीकार किया है। प्रेमचन्द के

मेहता (गोदान) मिसेज खन्ना से मातृत्व की महत्ता वर्णन करते हुए कहते हैं—

"नारी केवल माता है और उसके अतिरिक्त वह जो कुछ है वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है।"

पुत्र का माता के प्रति क्या कर्त्तव्य है—उपन्यासकारों ने इसे भी खूब स्पष्ट किया है। 'चलते-चलते' में राजेन्द्र के माध्यम से वाजपेयीजी कहते हैं—

"मैं उसे मनुष्य नहीं श्वान मानता हूँ जो माँ का एक आँसू भी देख-कर चुप रहता है। मैं प्रायः सोचा करता हूँ कि अगर माँ की आँखों में आँसू है तो पुत्र उसका जीवित क्यों हो ?"

'विदा' में शान्ता माँ की व्याख्या करती हुई बताती है—

"स्नेह और वात्सल्य का अन्तिम रूप है माँ।"

कभी-कभी माँ के सामने भयंकर परिस्थितियाँ या कर्तव्य आ जाता है और उस स्थिति में वह या तो पुत्र को छोड़ देती है या प्रेम नहीं कर पाती। इन स्थितियों का भी सुन्दर चित्रण हिन्दी उपन्यासों में हुआ है। माँ के कुछ रूप उपन्यासों में मिलते हैं—

(१) स्नेहमयी,
(२) निष्ठुर,
(३) कर्त्तव्यशीला,
(४) विमाता,
(५) अनादृता।

'गुप्त गोदना' में बख्तर की माँ, 'सितारों के खेल' में बंसीलाल की माँ, 'प्रेमाश्रम' की विद्या, 'माँ' की सुलोचना, 'प्रत्यागत' की मंगल-जननी, 'विदा' की शान्ता, 'एक सूत्र' की रागिनी आदि ऐसी माताएँ हैं जो पुत्रों को अपना प्राण समझती हैं और उनके लिए अवसर पड़ने पर प्राण न्यौछावर करने को भी तैयार रहती हैं।

कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें माँ पुत्र-प्रेम में बावली सी होकर विवेकहीन की सी दशा में पहुँच जाती है। अतिशय प्रेमशीला होने के कारण वह पुत्र का हित-अहित विचार का भी नहीं करती। वह किसी भी दशा में अपने पुत्र या पुत्रियों को अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देती। ऐसा एक उदाहरण जोशीजी के 'प्रेत और छाया' की मंजरी की माँ है। वह अन्वी

है, किन्तु मंजरी को अपने पास ही बिठाये रखना चाहती है। वह उस लड़की की कालिज की मित्रों से ईर्ष्या करती है।

आर्थिक कठिनाइयों और कभी-कभी सामाजिक संकटों के आ जाने पर कुछ माताएँ अपनी सन्तान को प्यार न देने के लिए मजबूर हो जाती हैं। कुमारी या विधवा की सन्तानें—जो मौत के मुँह में या बाहर खुले में फेंकी जाती हैं—इसी कोटि में आती हैं। बंगाल के अकाल में अनेक माताओं ने अपने बच्चे बेच दिये थे और कहीं-कहीं उनके मारकर खा जाने तक का वर्णन मिलता है। निर्धनता के कारण बच्चों का कष्ट न देख सकने वाली अनेक माताओं के उदाहरण रोज ही अखबारों में पढ़ने को मिलते हैं, जिनमें माता अपने पुत्र और पुत्रियों की हत्या के पश्चात् आत्महत्या करके इस दुःख से छूटने को बाध्य होती हुई बताई जाती हैं। निष्ठुर माताओं के उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

'चलते-चलते' की विधवा लाली की माँ, 'अमर अभिलाषा' की बाल-विधवा भगवती की माँ आदि इसी प्रकार की माताएँ हैं, जो वैधव्य आदि के कारण पुत्री के कल्याण की अपेक्षा अकल्याण की कामना करती हैं। हिन्दुओं में विधवा को तो सभी पक्ष यह चाहते हैं कि वह मर जाय तभी अच्छा है, और कोई-कोई माँ तो अत्यन्त दुःखी होकर इस बात को कह भी देती है।

कर्त्तव्यशीला माता सन्तान के प्रति अत्यधिक प्रेमभाव रखती हुई भी जागरूक रहती है और अपने कर्त्तव्य को भली प्रकार समझती है। कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि कर्त्तव्य और प्रेम के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, तो वह कर्त्तव्य को प्रेम की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण और ग्राह्य समझकर स्वीकार कर लेती है और प्रेम पर विजय पाती है। अपनी सन्तान के लिए उसने जो उद्देश्य निश्चित किया है, येनकेन प्रकारेण उसी को पूर्ण करना और कराना अपना परम धर्म और कर्त्तव्य मान लेती है।

'रंगभूमि' की जाह्नवीदेवी ऐसी माँ हैं जो पुत्र को देश-सेवक बनाने के लिए राजस्थान भेज देती हैं। इस बीच वह तड़पती हैं, किन्तु वियोगजन्य तड़प को दबा जाती हैं और कठिन से कठिन परिस्थिति को झेलने की शक्ति होने की प्रेरणा से भरे लम्बे-लम्बे पत्र भेजकर उसे प्रोत्साहित करती रहती हैं। जब विनय वीरगति को प्राप्त होता है तो वीर माता के समान पुत्र के बलिदान पर वह अपने को गौरवान्वित अनुभव करती हैं। वे सोफी से कहती हैं—

'बेटी ! वीरों की मृत्यु पर आँसू नहीं बहाये जाते, उत्सव के राग

गाये जाते हैं—मुझे उसके मरने का दुःख नहीं है, दुःख तो होता अगर वह प्राण बचाकर भागता।"

'कर्मभूमि' की पठानिन, 'तितली' की श्यामदुलारी और 'विजय' में रानी किशोरकेशरी आदि ऐसी ही माताएँ हैं, जो अपनी कर्त्तव्यपरायणता के लिए सब कुछ करती हैं।

विमाता

सपत्नी के बच्चे भी सपत्नी के समान नारियों की ईर्ष्या और दुःख के कारण माने गये हैं। इस सम्बन्ध में भी सपत्नी के समान दोनों रूप मिलते हैं। कुछ विमाताओं के ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जो सपत्नी के लिए अपना सर्वस्व अर्पित करती हैं और उन्हें अपने प्राणों से भी अधिक स्नेह करती हैं।

जब माँ के मर जाने पर पिता दूसरी शादी कर लेता है तो प्रथम पत्नी की सन्तान को अधिकांशतः कष्ट भोगना पड़ता है। समाज की परम्परा और पूर्व अनुभव के आधार पर मान्यताएँ इतनी रूढ़ हो चुकी हैं कि समाज में स्वभावतः विमाता को कष्टदायक माना जाता है और प्रथम पत्नी के बच्चों के दिमाग में सभी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से यही भरते हैं कि विमाता कभी भी प्यार नहीं कर सकती। विमाता नाम से ही बच्चों को चिढ़ पैदा हो जाती है और वे बच्चे जान-बूझ कर उन परिस्थितियों के शिकार होते हैं जिनसे विमाता और पुत्र दोनों बचना चाहते हैं। दोनों नहीं चाहते, फिर भी परिस्थितियाँ ऐसी आ बनती हैं कि दोनों उसी ओर बहने लगते हैं और स्वर्ग सा घर नर्क बन जाता है और अनेक सद्गृहस्थ नष्ट हो जाते हैं।

प्रेमचन्द ने 'निर्मला' को स्नेहशीला माता के रूप में दिखाया है, किन्तु समाज ने उसे स्नेहशीला नहीं रहने दिया। दिल में वह सौत के पुत्र को स्नेह करती है, किन्तु प्रकट में व्यक्त नहीं कर सकती। बीमार होने पर उसे देखने जाना चाहती है, किन्तु मुंशी तोताराम के डर के मारे नहीं जा पाती। रुग्ण मनसाराम का एक कथन इसका एक प्रबल प्रमाण है—

"अम्माजी ! इस अभागे के लिए आपको इतना कष्ट व्यर्थ हुआ। मैं आपका स्नेह कभी न भूलूँगा। ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि मेरा पुनर्जन्म आपके गर्भ से हो जिससे मैं आपके ऋण से उऋण हो सकूँ।"

'विजय' की स्नेहशीला विमाता राजराजेश्वरी अपनी सौतेली पुत्री मनोरमा को अपनी पुत्री के समान प्रेम करती है।

विमाताओं में स्नेहहीना और कठोर हृदय भी होती हैं। ये विमाताएँ सभी प्रकार के कष्ट दे सकती हैं और देती हैं। इस प्रकार की माँ का एक

सुन्दर उदाहरण 'विमाता' नाम का उपन्यास है। उसमें सौतेला पुत्र इतना सताया जाता है और कष्ट में रखा जाता है कि पढ़ते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उसमें इतनी करुणापूर्ण कहानी दी गई है कि पाठकों की भी हिचकियाँ बँध जाती हैं। वाजपेयीजी के 'दो बहनें' उपन्यास में ज्ञानप्रकाश की सौतेली माँ ऐसी पात्र है जो उसे सदैव ठण्डा भोजन देती है, दूध बिना रखती है, फल आदि नहीं मिलने देती और वेतन के रुपयों को भी घर से लाये बताकर सदैव दुःखी करती रहती है।

पुत्री

आज के समाज में ही नहीं, प्राचीन काल में भी पुत्र को पुत्री की अपेक्षा समाज में प्रथम स्थान प्राप्त था। वैदिक काल से लेकर आजतक प्रत्येक माता-पिता पुत्र की कामना करते हैं। प्रारम्भिक काल में यह भेद इतना तीव्र न था; जैसे-जैसे काल व्यतीत होता गया, यह अन्तर अधिक होता गया और आज तो स्थिति यह है कि अनेक व्यक्ति तो पुत्री के जन्म लेते ही रोने लगते हैं और आजीवन पुत्री के कारण विपन्न और दुःखी रहते हैं। प्रारम्भिक काल में स्त्री को समाज में वे सभी मौलिक अधिकार प्राप्त थे जो पुरुषों को प्राप्त थे। धीरे-धीरे उनकी शिक्षा, दीक्षा, स्वतन्त्रता, सम्मान आदि का ह्रास होता चला गया और वे सम्पत्ति मात्र समझी जाने लगीं। उनको कभी और किसी काल में भी स्वच्छन्दता न मिले, इसके लिए प्रयत्न किये गये तथा ऐसे ही धर्मशास्त्र का निर्माण हुआ जो इसे स्वीकार करके आगे बढ़ता था।

आधुनिक युग में नारी-स्वातन्त्र्य का दौर आया है, जिसने अशिक्षा, पर्दा, बालविवाह आदि कुप्रथाओं का विरोध करना प्रारम्भ किया है। उसे शिक्षा स्वतन्त्रता और अपनी इच्छानुसार पति चुनने का अधिकार जोरों से माँगा जा रहा है। युग की माँग है कि या तो पुरुष समाज इसे स्वेच्छा से स्वीकार कर लेगा, अन्यथा उसे झुका दिया जायगा। आज की माताएँ (बड़ी से बड़ी बुद्धिमान और सुसंस्कृत भी) पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्व प्रदान करती हैं। कोई-कोई तो पुत्री को मरा भी देखना चाहती हैं। एक उदाहरण 'बुधुआ की बेटी' से देखिए। रधिया अपनी बेटी के रोने पर न उसे चुप कराती है और न दूध पिलाती है, वरन् कहती है—

"मैंने इस मुँहझौंसी को किससे माँगा था? मैं तो पूत चाहती थी। यह मर जाय, इसके मुँह में आग लगे। मैं लड़की नहीं चाहती, फिर चाहे वह सीता, सती, गौरा, पार्वती ही क्यों न हो!"

यह विचार आज की अधिकांश भारतीय नारियों के हैं—भले ही

इन शब्दों को वह खुले आम अपने मुँह से न कह सकें। सभी सामाजिक उपन्यासकारों ने इन प्रश्नों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लिया है। ये प्रश्न समाज के ज्वलन्त प्रश्न हैं, उन्हें किस प्रकार भुलाया जा सकता है? इन्हें छोड़कर कोई उपन्यास कैसे सफल चित्र माना जा सकता है? यद्यपि इस चित्र का दूसरा पहलू भी है, किन्तु ऐसे माता-पिताओं की संख्या कम है जो अपनी पुत्रियों को भी पुत्रों के समान ही प्रेम करें और उनकी आवश्यकताओं तथा पालन-पोषण पर वैसा ही ध्यान दें जैसा कि पुत्रों पर। माता-पिता के व्यवहार पर ही पुत्रियों का चरित्र बनता है और इसी आधार पर पुत्रियों के वर्ग किये जा सकते हैं—

(१) रूढ़िवादिनी,
(२) विद्रोहिणी,
(३) समाज द्वारा निरादृता,
(४) वर्णशंकर, आदि-आदि।

वेश्या पुत्रियों की समस्या समाज में भंयकर स्थिति पर पहुँच गई है। उनसे कोई शिक्षित और संस्कारी युवक तो शादी भी नहीं करना चाहता; गुण्डों के साथ वे रहना नहीं चाहतीं और उनके साथ जीवन कट जाने की सम्भावना भी कम होती है। निराला के 'अप्सरा' की 'कनक' वेश्या-पुत्री होने के कारण जब तिरस्कृत होती है तो उसका अहं विद्रोह करने लगता है और वह समाज के प्रति घृणा से भर कर कहती है—

"क्या हम मनुष्य नहीं हैं? अब तक मनुष्य कहलाने वाले समाज के बड़े-बड़े अनेक लोगों के जैसे आचरण मैंने देखें हैं, क्या मैं उनसे भी किसी प्रकार पतित हूँ?"

'परदे की रानी', 'हृदय की परख' आदि उपन्यासों में इन प्रश्नों को खुल कर उठाया गया है; किन्तु जब तक आर्थिक समस्याओं का निराकरण नहीं होगा और लोभवश शरीर बेचना बन्द न होगा, तब तक इन समस्याओं का कोई स्थायी हल निकलता दिखाई नहीं देता। सरकार के कानून बनाने से कुछ नहीं होता, जन-मानस को बदलने की आवश्यकता है।

भगिनी

स्नेहमय सम्बन्धों में भाई और बहन का सम्बन्ध सबसे घनिष्ठ और पवित्र माना गया है। एक ही माता के उदर से उत्पन्न होने और जीवन के प्रारम्भ-काल में एक साथ रहने-सहने के कारण उनमें जो घनिष्टता उत्पन्न हो जाती है, अन्य सम्बन्धों में नहीं हो पाती। अधिकांशतः भाई-बहन एक

दूसरे को प्यार करते और उनके लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिए तैयार रहते हैं। हिन्दुओं में धर्म-भाई और धर्म-बहन के रिश्ते भी प्रचलित हैं और इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दू ललनाओं ने मुस्लिम बादशाहों तक से इस सम्बन्ध को निभाया है, और आदर्श की स्थापना करके उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि समाज के नियमों या आर्थिक संघर्षों आदि के बीच में आ जाने से भाई-बहन का पवित्र और आदर्श सम्बन्ध भी घृणा और द्वेष के रूप में बदल जाता है। इस परिवर्तन का कारण चाहे जो हो, किन्तु यह भी प्रेम का एक परिवर्तित रूप ही है। प्रेम के इन दोनों रूपों का वर्णन हिन्दी उपन्यासों में हुआ है।

स्नेहशीला बहन का प्रेम किसी स्वार्थ को लेकर नहीं होता, उसे निस्वार्थ कहना ही उचित है। बहनें अपने भाई के लिए कभी-कभी तो अपने प्राण तक दे डालती हैं। ऐसी स्नेहशीला बहन का वर्णन करते हुए 'नारी क्या एक पहेली' में कहा गया है—

"माँ के दुलार में मधु की मिठास है, बाप के प्यार में कुनैन की कड़वाहट, पत्नी के प्रेम में बोतल के नशे का सरूर है—भाई के स्नेह में शासन का गरूर, मगर बहन का स्नेह, वह तो अमृत का मेंह है जो बरस कर युग-युग से मुरझाए मन की लता को लहालोट कर देता है बराबर। वह तो दीप-मालिका है जिसकी लौ से दिल का कोना-कोना जगमगा उठता है—लकदक। माँ बेटे के सिर पर नौ महीने का त्याग और सुश्रूषा का ऋण लादती है, बाप की नजर अपनी बुढ़ौती की लकड़ी पर रहती है, भाई उसे पीठ का प्रहरी समझता है, पत्नी अपने यौवन का सन्तरी, मगर दीदी तो देती है निछक्का नेह का वरदान। उसे भाई से क्या लेना है? भाव की भूखी, प्रेम में पगी, निर्द्वन्द्व रंग में रंगी वह कंगालिन तो केवल लुटाती है करुणा का कंचन। भाई के नेत्रों में लगाती है आशा का अंजन और भरती रहती है भाई की रीती झोली को सहारे के संबल से, विश्वास के बल से। दूसरे के पास अपनी हँसी-खुशी गिरवी रखकर भी सदा भाई के लिए कल्याण का कलेवा लुटाती रहती है निरन्तर।"

'निरूपमा', 'दो बहनें' आदि उपन्यासों में आदर्श भगिनियों के चरित्र अंकित हैं। विद्वेषिणी बहनों के चरित्र 'प्रेमाश्रम', 'सेवासदन', 'तितली', 'सोना', 'लज्जा', 'दो बहनें' आदि उपन्यासों में देखे जा सकते हैं। मुँहबोली बहनों के अनेक चरित्र समाज के यथार्थ रूप हैं। इनके चित्र हमें 'चलते-चलते', 'मरुप्रदीप' आदि उपन्यासों में मिलते हैं। राखीबंध बहन का सुन्दर उदाहरण 'विजय' उपन्यास में मिलता है।

सास

'सास' को पुत्रवधू के लिए साक्षात् संकटावतार माना जाता है। यदि सास और ननद दोनों हों तब तो साक्षात् नरक की उपस्थिति ही मानी जाती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक सास अपनी बहू पर क्रूरतापूर्ण शासन करती है। जब वह स्वयं सास बनती है तो उसी प्रकार का व्यवहार वह भी करना चाहती है, अपनी बहू को वैसे ही कड़े अनुशासन में रखना चाहती है और उसका परिणाम यह होता है कि सास और बहू में सदैव ठनी रहती है। जब तक बहू नई-नई रहती है और उसका पति घर में प्रमुख स्थान नहीं प्राप्त कर पाता, तब तक तो वह दबती रहती है, और जैसे ही यह स्थिति समाप्त होती है कि बहू के मन में भी प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और वह सास के अत्याचारों का बदला लेने के लिए या उनका विरोध करने के लिए कमर कसकर मैदान में आ उतरती है। फिर जो सास-बहू का संग्राम मचता है, उसे देखकर पुरुषों के तो क्या, देवताओं के भी छक्के छूटते हैं। दूसरी ओर ऐसी सासें भी होती हैं जो पुत्रवधू को अपनी पुत्री के समान रखती हैं, पूर्ण स्नेह देती हैं और संरक्षण करती हैं। हिन्दी उपन्यासों में इन दोनों के उदाहरण मिलते हैं।

'गोदान' की धनिया कोमल हृदया सास है जो गोबर द्वारा झुनिया को छोड़ जाने पर पूर्ण आत्मीयता के साथ उसे संरक्षण देती है, दण्ड भरती है और पुत्रोत्सव पर दिल खोलकर गीत गाती है। कष्ट उठाकर भी वह बहू से दुखियाती नहीं---मगन रहती है। 'विदा' की शान्ता भी स्नेहशीला सास है। वह बहू के दुर्गुणों को बचपना कहकर पुत्र का क्रोध शान्त करने का प्रयत्न करती रहती है। पत्नी के दुर्व्यवहार से तंग आकर जब उसका पुत्र दूसरी शादी करना चाहता है तो वह बहू को पत्र लिखकर बुलाती है और इस प्रकार नष्ट होते हुए परिवार को उबार लेती है।

कठोर हृदया सासें हमें 'रंगभूमि' (भैरों की माँ), 'संगम' (रावरानी), 'अचल मेरा कोई' (कुन्नी की बूआ-सास), 'जीवन की मुस्कान' (सत्यभामा), 'आखिरी दाँव' (चमेली की सास) आदि उपन्यासों में देखने को मिलती हैं।

पुत्रवधू

सास के व्यवहार में ही पुत्रवधू का भी वर्णन हो चुका है। ये भी दोनों प्रकार की होती हैं—अच्छी और बुरी। कुछ चुपचाप रहकर यातना सहती हैं और कुछ लड़-झगड़ कर। गोदान की झुनिया सुशीला पुत्रवधू है,

जो सास के अहसानों से दबी हुई अपने को अनुभव करती है। अपने पिता द्वारा अपमानित होने पर सास से कहती है--

"जब अपना बाप मुझे धिक्कार रहा है तो डूब मरना ही उचित है। मुझ अभागिनि के कारण तुम्हें दुःख मिला। इतने दिनों तुमने मुझे जिस प्रेम से रक्खा, माँ भी न रखती। भगवान मुझे फिर जन्म दे तो तुम्हारी कोख से दे, यही मेरी अभिलाषा है।"

'संगम' की जानकी एक कर्कशा पुत्रवधू है। 'आत्मदाह' की भगवती भी सास को नाक चने चिनवा देती है और घर की शान्ति को अशान्ति में परिवर्तित करने का बहुत कुछ श्रेय पाती है।

पुत्रवधू सासों के लिए तभी समस्या बनती हैं, जबकि सासें उनके कुल, संस्कार और शिक्षा आदि का ध्यान किये बिना ही शादी करने को तैयार हो जाती हैं और शादी के पश्चात् सहनशीलता आदि को छोड़कर कर्कशा बन जाती हैं।

ननद, भौजाई, भाभी, देवरानी, जिठानी आदि ऐसे सम्बन्ध हैं जिनका समाज में अनिवार्य स्थान है। इन्हें किसी भी स्थिति में अस्वीकार करना असंगत है। सामाजिक उपन्यासों में इन सम्बन्धियों का चित्रण भी मिलता है। प्रेमचन्द, प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र, अश्क, सियारामशरण, वाजपेयी, चतुरसेन आदि उपन्यासकारों ने इन नारियों के अच्छे और बुरे दोनों पक्षों का सुन्दर चित्रण किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नारी के दाम्पत्य सम्बन्धों की पूर्ण और वैविध्ययुक्त विवेचना हिन्दी उपन्यासों में हुई है। अन्य सम्बन्धों और रूपों का वर्णन इतनी विविधता के साथ नहीं हो सका है। परिवार में नारी का जो महत्वपूर्ण स्थान है, हिन्दी उपन्यासों में उसी के अनुरूप स्थान उसे दिया गया है। मनोविज्ञान की पूर्ण जानकारी न होने के कारण ये वर्णन उतने सश्लिष्ट, मनोवैज्ञानिक गुत्थियों से युक्त, स्वाभाविक और गुंफित व्यक्तित्वों को अंकित करने वाले सिद्ध नहीं हो सके हैं, जैसी कि आशा की जाती है। हमें विश्वास है कि भविष्य का हिन्दी उपन्यास इन उपलब्धियों को प्राप्त करने में समर्थ सिद्ध होगा।

११. हिन्दी उपन्यास और सामाजिक यथार्थ

सामाजिक यथार्थ में समाज और यथार्थ इन दो शब्दों का संयोग रहता है। समाज के वास्तविक स्वरूप के चित्रण को सामाजिक यथार्थ कहते हैं। साहित्यकार के लिए यह कभी भी न सम्भव हुआ है और न सम्भव होगा कि वह यन्त्र के समान निरपेक्ष भाव से समाज के चित्र दे सके। वह सदैव ही समाज का चित्रण करते समय अपनी मान्यताओं, अनुभवों, कल्पनाओं तथा पसन्दों आदि से अप्रभावित नहीं रह सकता। अतः समाज का ठीक यथार्थवादी चित्र नहीं दिया जाता। समाज का चित्र देते समय उपन्यासकार की अपनी दृष्टि प्रमुख रहती है। समाज तो बहुत लम्बा-चौड़ा और विस्तृत है उसमें से अपने उपन्यास के लिए उपन्यासकार कुछ पात्र और घटनाएँ चुन लेता है और उन्हीं के आधार पर अपने उपन्यास का ताना-बाना बुनता है।

सामाजिक यथार्थ को स्वीकार करने वाले उपन्यासकार एक विशेष विचारधारा को स्वीकार करके चलते हैं। मूलतः वे मानते हैं कि मानव जीवन गतिशील है, उसमें कभी भी गतिरोध नहीं आता। प्रकृति के नियमानुसार वह आगे बढ़ता रहता है। सामाजिक यथार्थवादी समाज के इन विकास सूत्रों को पहचानने का प्रयत्न करता है और उन्हें पहचानकर व्यक्तियों के साथ जोड़ देता है। इन उपन्यासों में समाज और व्यक्तियों के संयोग से ऐसी चित्रपटी निर्मित होती है जिसमें समाज के प्रगतिशील और ह्रासशील दोनों प्रकार के तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं। कलाकार अपनी कला-योजना द्वारा प्रगतिशील तत्त्वों को आगे बढ़ाता है और ह्रासशील तत्त्वों को पीछे धकेलता है—नष्ट होने की ओर अग्रसर करता है। समाजवादी यथार्थवाद समाज की विषमताओं पर दृष्टिपात ही नहीं करता, वरन् उन विषमताओं का मूल कारण ढूँढ़ कर उनका हल खोज कर समाज के सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। जो उपन्यासकार इस प्रकार के हल नहीं देता और केवल समाज की बुराइयों को खोलकर रख देता है, उसे भी मार्क्स और ऐंगिल्स ने यथार्थवादी बताया है। वे उसे आलोचनावादी यथार्थ (Critical Realism) कहते हैं।

इसीलिए मोपासाँ और जोला आदि को इतना बड़ा स्थान दिया गया और उन्हें महान कलाकार माना गया।

समाजवादी यथार्थवाद (Socialistic Realism) नाम उस वाद विशेष के लिए प्रयुक्त होता है जो मार्क्सवादी संकेतों पर चलता है। हावर्ड फास्ट ने पूँजीवादी यथार्थ में भेद करते हुए लिखा है—

"पूँजीवादी यथार्थवाद और समाजवादियों के यथार्थवाद में अन्तर है। प्रथम स्पष्ट रूप से सीमित और रूढ़िवादी है तथा दूसरा असीमित विकासशील। इस सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट किया गया है कि यह पार्टी साहित्य नहीं है और न किसी राजनीतिक उद्देश्य से ही इसका गठबन्धन है। इसका दृष्टिकोण और ग्राहकता सीमित न होकर व्यापक है।"[1]

लेनिन, स्टालिन, कॉडवेल आदि ने साहित्य को आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित माना है। उसे जनता का अस्त्र कहा है और पार्टी के लिए उसकी उपयोगिता अनिवार्य रूप से स्वीकार की है। उनके अनुसार समाजवादी यथार्थवाद मार्क्सवादी दृष्टिकोण का साहित्यिक रूप है। इस मत से सभी लोग सहमत नहीं हैं और यह तो मार्क्सवाद ने भी माना है कि यथार्थवादी साहित्य की रचना के लिए लेखक या कवि का स्वयं मार्क्सवादी होना आवश्यक नहीं है। डा० त्रिभुवनसिंह का मत इस सम्बन्ध में अधिक सन्तुलति है—

"कोई भी साहित्य समाज के निम्नवर्ग की भयंकर यातनाओं से भरी स्थिति का चित्रण मात्र कर देने तथा उनकी दयनीय बस्तियों, उनकी क्षुधातुरता और उनकी कष्टगाथाओं को चित्रित मात्र कर देने से समाजवादी यथार्थवाद का प्रतिनिधि साहित्य नहीं कहा जा सकता और न तो अल्पसंख्यक पूँजीपतियों की विलासिता और अकर्मण्यता आदि को दिखला देने से यथार्थवादी साहित्य बन सकता है, क्योंकि इस प्रकार वह जीवन के एक पक्ष का ही उद्घाटन करेगा जो निष्क्रिय तथा निराशापूर्ण होगा। यथार्थवादी साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह समाज के मूल में सक्रिय क्रान्तिकारी शक्तियों को पहचानकर और उनके द्वारा बढ़ते हुए आन्दोलन का उल्लेख करके पूँजीवाद के नाश और निम्न वर्ग की विजय में पूरी आस्था व्यक्त करे, जिससे

---

1. "There is difference between bourgeoioust and socialist realism, the one is fairly rigidly limited, the other is potentially unlimited, and again it must be repeated that his is not a matter of party or political affiliation, but outlook and perception in the broadest sense." ('Literature and Reality', pp. 46-47.)

निराशा तथा जीवन के दाँव हारे हुए निम्न स्तर के लोगों में आशा का संचार हो और वे अपने को इस योग्य बना सकें कि समाज की विषम परिस्थितियों से वीरता के साथ संघर्ष कर सकें।"

हिन्दी उपन्यास में समाज के यथार्थ रूप का चित्रण प्रेमचन्द युग से प्रारम्भ हुआ है—वैसे तो 'परीक्षा गुरु' में भी समाज की स्थिति का ही चित्रण है और प्रेम के जिस आदर्श को उसमें स्वीकार किया गया है, वह 'समाज के लिए तथा समाज में से ही' है, किन्तु ये प्रश्न खुलकर प्रेमचन्द युग में ही सामने आये। इस अन्तर को इस प्रकार समझा जा सकता है कि प्रेमचन्द से पूर्व उपन्यासों में नयिकाएँ मखमली फर्श पर ही चलती थीं और दो-चार फल तथा सूखे मेवे खाकर रहती थीं। रेशम पहनती थीं और सवारियों के बिना नहीं निकल सकती थीं। महलों को छोड़कर झोंपड़ियों की ओर देखने वालों में सबसे पहली दृष्टि प्रेमचन्द की थी। उन्होंने फूँसविहीन कुटियाओं में पड़ी हुई भारतीय आत्माओं के गुण-दोष उनके वास्तविक रूप में हिन्दी जगत के सम्मुख रखे। प्रेम की जो पीर महलों और इत्रों में रहने वाली राजकुमारियों में नहीं थी, वह झोंपड़ियों में रहने वाली 'सिलियाओं' में दिखाई गई। उनमें तन्मयता, एकांगिता, पवित्रता, निष्ठा, सेवा आदि सभी गुण दिखाई पड़े। इन चिथड़ों में लिपटे मानवों में भी महान आत्माएँ दिखाई देने लगीं। अनेक होरी और सूरे चित्रित किये गये जिससे मानवता को भारी आश्रय मिला। वे केवल व्यक्तियों तक ही सीमित न रहे, उन्होंने तत्कालीन देश और समाज के सभी ज्वलन्त प्रश्नों पर भी प्रकाश डाला। महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन का अपनी शक्ति और कमियों के साथ जैसा सुन्दर चित्रण प्रेमचन्द के उपन्यासों में हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं दिखाई देता।

प्रेमचन्द केवल समाज की विकृतियों और बुराइयों का तटस्थ होकर वर्णन करना ही कलाकार का उद्देश्य नहीं मानते थे। वे चाहते थे कि समाज की वर्तमान दशा में जो कुछ अच्छा है, उसका विकास हो और जो कुछ गन्दा, कुत्सित और त्याज्य है, उसका निराकरण किया जाय। इस सबके लिए यह आवश्यक था कि वह आदर्शमय यथार्थ को सामने लाते, और उन्होंने यही किया। उनका आदर्शोन्मुख यथार्थ और कुछ नहीं गोर्की का सामाजिक यथार्थ ही है। मानवता में गहरा विश्वास रखने वाले प्रेमचन्द ने समाज के प्रत्येक पक्ष को स्वीकार किया है, वह किसी शिव या अशिव पक्ष को अस्वीकार कैसे कर सकते थे; उन्होंने तो मानव को—वह जैसा भी है—स्वीकार कर लिया था। उनके [illegible] में आकर विष भी अमृत हो गया और उससे भी उनका [illegible] का कल्याणकारी रूप प्रस्फुटित हुआ। मानव की स्वाभाविक

दुबलताओं को छिपाने का प्रयत्न उन्होंने कभी नहीं किया। व्यक्तियों में सभी वर्ग के पात्र लेकर उनकी वैयक्तिक और समाजगत कमियों को उनके परिपार्श्व में प्रस्तुत करने की कला में प्रेमचन्द सिद्धहस्त हैं। अन्त में बुराइयाँ विजयी न होकर मानवता—मानव के कल्याणकारी भविष्य में आस्था—विजयी होती है। 'गोदान' में भी चाहे होरी हार गया हो, किन्तु उसकी आशा और उज्ज्वल भविष्य का प्रतीक गोबर है, जो समाज को बदलने और अपनी पसन्द की दुनिया बसाने का स्वप्न देखने वाला है। 'होरी' टूट रहा है और 'गोबर' बन रहा है—यही गोदान का सन्देश है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में समाज की अनेक समस्याएँ उठाई गई हैं—अनमेल विवाह, दहेज, वेश्या, गहनों का प्रदर्शन और उसके आधार पर प्रतिष्ठा का निर्धारण; धर्म को आधार बनाकर गरीबों का शोषण, बढ़ती हुई पूँजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणाम; किसान की बेदखली, कर्ज, जमींदार, साहूकार, पुलिस, छुआछूत, जातिपाँति, फूट, अलाभकार जोत, अज्ञान, परम्पराओं व अन्धविश्वासों में आस्था आदि समस्याएँ; भिखारियों, सयाने, पंडे, सिद्ध, कथा-वाचकों और भविष्यवक्ताओं के प्रपंच; अछूतों में मृतक पशु के माँस का भक्षण, शराबखोरी, जहालत, विद्वेष और मोहान्धकार आदि; हिन्दू-मुसलमान प्रश्न, धर्म के वाह्य और जघन्य रूप, मुल्ला और पंडितों की वास्तविकता; राष्ट्र प्रेम, असहयोग आन्दोलन के दोनों पहलू, अहिंसा के नाम परआडम्बर, आन्दोलन का वह रूप जिसमें सामान्य जनता (किसान, मजदूर आदि) बहती है, ढोंगी नेताओं की वास्तविकता; जमींदारों के चक्र, किसानों के शोषण, दूसरे जमीदारों से द्वेष, जमींदारी बढ़ाने के छलपूर्ण उपाय, चुनाव के दृश्य, चुनाव के एजेन्ट, चुनाव के परिणाम आदि अपनी बहुरंगी पृष्ठभूमियों के साथ प्रेम-चन्द के उपन्यासों में पूर्ण सफलता के साथ मुखर हुए हैं।

प्रेमचन्द काल में किसानों और मध्यवर्गीय लोगों का ढाँचा टूट रहा था—एक ओर जहाँ वे आर्थिक शोषण के शिकार हो रहे थे, वहाँ दूसरी ओर धर्म, शासन, नैतिकता और सामाजिक नियमों के नाम पर उनकी कमर तोड़ी जा रही थी। किसान टूटकर भूमिहीन मजदूर बनकर या तो बड़े किसानों और जमींदारों का गुलाम बनता जा रहा था या गाँव छोड़कर शहर में जाकर यंत्रों की सेवा में उपस्थित हो रहा था। यह क्रम प्रेमचन्द काल से प्रारम्भ हुआ और आज तक चला जा रहा है। जमीन पर बोझ बढ़ता जा रहा है और साधनों के अभाव में कृषि-उत्पादन गिरता जा रहा है, जिससे किसान की बेचैनी बढ़ रही है।

मध्यवित्तवर्गीय समाज का बहुत ही सफल अंकन 'गबन' आदि उपन्यासों में हुआ है। यह वह बुद्धिवादी समाज है जो एक ओर तो साधनविहीन होने के कारण उत्पादन का यन्त्र मात्र है और दूसरी ओर बुद्धिजी होने के कारण परम संवेदनशील, जागरूक और उच्चाभिलाषी है। परिणामस्वरूप वह सदैव उच्च वर्ग में मिलने और वैसी जीवन-सुविधाएँ पाने का इच्छुक होता है और न पाने पर असन्तुष्ट रहता है। निम्न वर्ग में, बौद्धिकता की कमी के कारण, अपने को मिला नहीं पाता, और त्रिशंकुवत् अधर में लटकता रहता है। इस वर्ग की इस विचित्र दशा, बेबसी और मिथ्या महत्वाकांक्षा का 'गबन' में सुन्दर चित्र दिया गया है। इस वर्ग का तभी कल्याण हो सकता है जबकि वह वास्तविकता को उसके सही रूप में स्वीकार कर ले और जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदल ले; ऐसा किये बिना उसका कल्याण नहीं।

समाज को स्थायित्व देने वाले तथा प्रगतिशील बनाने वाले तत्त्वों की स्थापना और समाज में उसके अनुरूप मानदण्डों की प्रतिष्ठा करना युग दृष्टाओं और महान साहित्यकारों का कार्य है। प्रेमचन्द ने यथार्थवादी होने के नाते अपने इस रूप को भी समझ लिया है और समाज में सत्य, अहिंसा, श्रमनिष्ठा, दूसरों को धोखा न देना, जीना और जीने देना आदि के आदर्शों की स्थापना पर जोर दिया है। उन्होंने कुछ पात्रों (जैसे सूरे, होरी आदि) तथा घटनाओं द्वारा इसकी ओर स्पष्ट संकेत किये हैं। मनुष्य के वाह्य परिवर्तन के साथ ही उसके मन का बदलना भी अत्यन्त आवश्यक है। मन के परिवर्तन बिना वाहर का परिवर्तन व्यर्थ सिद्ध होता है। लोकतंत्र और समाजवाद पर आधारित देश भी जब भीतर से नहीं बदल पाते तो अवसर पाते ही सम्राज्यवादी बन जाते हैं। सीधा सादा किसान भी यदि मन से व्याज लेने को बुरा नहीं समझता तो कुछ पैसा होने पर व्याज लेने लगता है (होरी जैसा सीधा किसान भी पहले रुपया व्याज पर देता था)। मनुष्य की क्रियाएँ उसकी भावनाओं के अनुसार होती हैं, अतः क्रियाओं को नियमित करने के लिए भावनाओं को अंकुश देना आवश्यक है। इन सत्यों को भी प्रेमचन्द समझते थे और उनका अपने साहित्य में प्रयोग किया है।

प्रेमचन्द से भी दो कदम आगे बढ़कर सामाजिक यथार्थ को अपनाने वाले प्रसाद हैं। प्रसाद ने 'कंकाल' में मनुष्य को अनावृत्त करके दिखाया है, उसमें यह स्पष्ट किया गया है कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, धर्म, रक्तशुद्धता आदि के प्रश्न बेमानी हैं। धर्म के आडम्बर और उच्च कुल में उत्पन्न होने के अहंकार मिथ्या या मनुष्य को मनुष्य से घृणा सिखाने वाले हैं। ऊपर से सज्जन और विनम्र दीखने वाले भी बड़े कसाई और स्वार्थी होते हैं।

पुण्य करने वाले और साधुता के चोगे में पूजे जाने वाले भी रात के अन्धकार में या दिन में अन्धकार का परदा डालकर सभी प्रकार के कुकर्म करते हैं और इस कुकर्म के परिणामस्वरूप जिन जीवों को जीवन प्राप्त होता है, उन्हें समाज घृणित, दूषित और अस्पर्श्य मानकर उनकी उन्नति, समाज में सम्मान और समान अवसरवादिता के अधिकार तक नहीं देता। पतित कहलाने वाले और कोई नहीं होते वरन् समाज के ठेकेदारों की ही सन्तान होते हैं।

समाज में हम जो कुछ स्वयं करते हैं, वही करते हुए जब दूसरों को देखते हैं तो घृणा से नाक सिकोड़ लेते हैं। हमारे अपने लिए नियम दूसरे हैं और दूसरों के लिए दूसरे। श्रीचन्द, किशोरी को इस कारण छोड़ देता है कि उसके पेट में किसी दूसरे का गर्भ है। किन्तु श्रीचन्द जब किशोरी के इस कृत्य को बुरा कहता है, तभी एक अन्य विधवा के साथ प्रेम करता है और वह सब करता है जिसके लिए उसने किशोरी को छोड़ दिया था। वह यहाँ तक जघन्यता पर उतर आता है कि उस विधवा की बेटी से अपने पुत्र विजय का ब्याह करने में भी उसे कोई अनौचित्य नहीं दिखाई देता। उसकी इस कृपा का रहस्य इस बात में है कि उसका सम्बन्ध उस विधवा के साथ अबाध रूप से चलता रहेगा। मंगलदेव के कुल का कोई पता नहीं है, फिर भी वह यमुना से ब्याह नहीं करता और ब्याह न करने की कठिनाई उसकी समझ में तब आती है जबकि जमुना गर्भवती हो जाती है। उसकी (मंगलदेव की) यह आदर्शवादिता तब कहाँ चली जाती है, जबकि वह अधार्मिक सन्तति गाला से ब्याह रचा लेता है और धर्म की ठेकेदारी में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आने पाती !

इस उपन्यास में एक ही पात्र ऐसा है जो समाज से संघर्ष करता है और उस संघर्ष में जूझ जाता है, किन्तु समाज उसकी कोई चिन्ता नहीं करता, उसे पदमर्दित करता चलता है, रौंदता है और अन्त में मृत्यु के मुँह में धकेल कर ही शान्त होता है। संघर्षप्रिय विजय दाने-दाने को मोहताज होकर मरता है और उसकी अन्त्येष्टि के लिए भी कठिनाई उपस्थित होती है। आज का समाज कितना पाखण्डप्रिय और पर्दे के भीतर सभी जघन्यताओं को क्षम्य मानने वाला, किन्तु बाहर से और आदर्शवादी दीखने वाला है। प्रसाद के चित्र यथार्थवादी और पाठकों को तिलमिला देने वाले हैं। सामाजिक-यथार्थवादियों के गुरु, प्रसाद का 'कंकाल' एक दिशा-चिह्न है।

समाजवादी-यथार्थवाद के मार्क्सवादी दृष्टिकोण को प्रधान मानकर उपन्यास लिखने वालों में यशपाल का स्थान सर्वप्रमुख है। वे समाज-व्यवस्था, आर्थिक तथा वर्गवादी संघर्षों का चित्रण करने की अपेक्षा यौन-प्रश्नों में अधिक

रुचि लेते और उपन्यासों में उन्हीं का खुलकर वर्णन करते हैं। विवाह को 'बुर्जुआ फैशन' मानना न जाने मार्क्सवाद की किस मान्यता का यशपालीय अनुवाद है—यह खोजने पर भी अब तक नहीं जाना जा सका। उनका कोई भी क्रान्तिकारी पात्र ऐसा नहीं है, जिसे किसी नारी की आवश्यकता न हो; और नारी की यह आवश्यकता शुद्ध शारीरिक है।

'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' दोनों उपन्यासों में कांग्रेस के आन्दोलन के साथ-साथ चलने वाले क्रान्तिकारी-हिंसात्मक आन्दोलनों का वर्णन है। इन उपन्यासों का उद्देश्य निर्माणात्मक की अपेक्षा विध्वंसात्मक अधिक है। लेखक समाज को बनाने में विश्वास रखने की अपेक्षा, उसे मिटाने के लिए अधिक व्यग्र है। उसकी आस्था का आधार है अन्य दलों और जीवन-दर्शनों की निन्दा तथा नारी का विद्रोहिणी रूप।

इन उपन्यासों में चरित्रों की विशेषताएँ, घटनाओं की स्वाभाविकता आदि पर लेखक की दृष्टि नहीं रही है, वह तो प्रारम्भ से अन्त तक अवसर और बिना अवसर मार्क्सवादी सिद्धान्तों का विश्लेषण करता रहा है। मार्क्सवादी दर्शन के सौन्दर्य शास्त्रीय विवेचन में यह स्पष्ट रूप से बता दिया गया है कि कला में कलाकार का उद्देश्य जितना ही भीतरी और छिपा हुआ होगा, कला उतनी ही अधिक शक्तिशाली और सफल होगी। इस नियम का पालन तो दूर लेखक ठीक इसके विपरीत गया है। यशपाल ने कम्यूनिस्टों और उनके आन्दोलनों को भी उस रूप में नहीं रहने दिया है जैसे कि वास्तव में वे थे। उनका कोई भी पात्र चन्द्रशेखर 'आजाद' और भगतसिंह न निकल सका। न वे भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी या क्रान्तिकारी दलों के क्रिया-कलाप के साथ ही न्याय कर सके हैं। इस सबका कारण उनकी प्रचारात्मकता और उच्छृङ्खल यौन-आकर्षण माने जा सकते हैं। इन उपन्यासों को पढ़कर तो ऐसा लगता है जैसे क्रान्तिकारी बनने के लिए किसी लड़की से सम्बन्धित होना आवश्यक हो और लड़कियाँ केवल इतना सुनकर या जानकर कि कोई व्यक्ति क्रान्तिकारी है, उसकी ओर आवश्यक रूप से आकर्षित हो उठेंगी—यह भी अनिवार्य सा प्रतीत होता है। यशपाल यदि मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखते तो सम्भव है अधिक सफल होते।

नागार्जुन ने प्रेमचन्द की सामाजिक-यथार्थवादी परम्परा को इस माने में आगे बढ़ाया है कि वे ही समस्याएँ—उसी क्षेत्र में—वैसे ही पात्रों द्वारा दर्शाई गई हैं। उनमें यशपाल जैसी पार्टी के प्रति निष्ठा नहीं है, इसीलिए उनके उपन्यासों में वे कमजोरियाँ नहीं आ पाई हैं, जो यशपाल में हैं।

'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची' तथा 'बाबा बटेसरनाथ' में ग्रामीण समाज की समस्याओं को उठाया गया है। इन उपन्यासों में जमींदारों के शोषण और काँग्रेसी सरकार की सारी कमजोरियाँ दिखाई गई हैं। गाँवों में चलने वाली पार्टीबन्दी और दहेज तथा अनमेल विवाह आदि के प्रश्न भी उठाये गये हैं, किन्तु इन सबका मूल आधार आर्थिक विषमता को ही ठहराया गया है। इन उपन्यासों की सबसे बड़ी शक्ति वही है जो यशपाल के उपन्यासों की कमजोरी है—वह समस्या है यौन-प्रश्नों की। नारी पुरुष की प्रारम्भिक काल से प्रेरणा और शक्ति रही है—इसे कोई अस्वीकार नहीं करता। नागार्जुन ने भी नारी का त्याग नहीं किया है और न करना चाहिए, किन्तु अश्लील प्रसंगों को छाँट-छाँट कर अपने उपन्यासों में स्थान देने की कृपा उन्होंने नहीं की है और न यही दिखाने का प्रयत्न कया है कि प्रत्येक 'बलनचनमा' के लिए समाज की पुरातन परम्पराओं से लड़ने के लिए किसी प्रेयसी की आवश्यकता है।

'नई पौध' और 'बाबा बटेसरनाथ' में सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्न उभरते हैं, जहाँ कांग्रेसी एम० एल० ए० से लेकर किसान और मजदूर का रोल है। अन्त में प्रेमचन्द के समान समाज को टूटता दिखाकर (गोदान में) अन्तिम आहुति नहीं दे दी गई है, वरन् किसानों का एक मोर्चा बनता है जिसके द्वारा प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध व्यापक संघर्ष किया जाता है; और यह संगठन और कुछ नहीं मार्क्सवादी संगठन है। इस प्रकार सोद्देश्य होते हुए भी इन उपन्यासों में प्रभविष्णुता है और वे पाठकों पर टिकाऊ प्रभाव छोड़ते हैं।

भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतलाल नागर, रेणु, रांगेय राघव, बलभद्र ठाकुर, रुद्र, भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, उदयशंकर भट्ट, राजेन्द्र यादव, अश्क आदि ऐसे उपन्यासकार हैं जो इसी कोटि में आते हैं। इनमें से अधिकांश का विवेचन अन्य स्थानों पर हो चुका है, अतः यहाँ पुनरावृत्ति को बचाने के लिए इतना समझ लेना ही पर्याप्त होगा कि धीरे-धीरे हिन्दी उपन्याकारों की दृष्टि परिमार्जित और यथार्थवादी होती जा रही है और आशा है कि वर्तमान भारतीय समाज को प्रबल और सर्वांगपूर्ण अभिव्यक्ति देने वाले हिन्दी उपन्यास सामने आयेंगे, जिनसे हिन्दी का गौरव बढ़ेगा।

१२. आंचलिक उपन्यासों में सांस्कृतिक तत्त्व

आंचलिक उपन्यासों की आंचलिकता कोई नई वस्तु न होकर बहुत पुरानी है—यह बात दूसरी है कि उपन्यासों को यह विशेषण इसी युग की देन है। अंग्रेजी में सर वाल्टर स्कॉट और हिन्दी में प्रेमचन्द से यह परम्परा—पूर्ण विकसित परम्परा—देखी जा सकती है। प्रेमचन्द, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ रेणु, उदयशंकर भट्ट, शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' में हम आंचलिक उपन्यासों की विकसित होती हुई परम्परा देख सकते हैं। डा० रांगेय राघव, देवेन्द्र सत्यार्थी तथा बलभद्र ठाकुर ने भी इस ओर ध्यान दिया है।

इन उपन्यासों में किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का समग्र और परम्परायुक्त जीवन चित्र होता है। वर्तमान जीवन की परम्पराएँ किस प्रकार पिछली परम्पराओं और मान्यताओं से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जुड़ी हुई हैं, इसका विवेचन तथा उस जन-जीवन की भाषा, वेशभूषा, उत्पादन के साधन-प्रकार—विनिमय, वर्ग और जातियाँ तथा उनका परस्पर सम्बन्ध, धार्मिक विश्वास, जन्म से लेकर मृत्यु तक के आचार, शिष्टाचार, चरित्रगत आदत, मनोरंजन के साधन, व्यसन, कलाएँ, भोजन-पान, जादू-टौना, विश्वास तथा अन्य मान्यताएँ, शिक्षा-दीक्षा, जीवन-दर्शन, सामाजिक उत्सव और समारोह आदि के अतिरिक्त इन उपन्यासों में उस अंचल विशेष की भौगोलिक स्थिति, राजनीतिक महत्व, नादियों, जंगलों, पेड़-पौधों, भूमि की बनावट और परिवर्तन, फसलें और उनसे वहाँ के जन-जीवन का सम्बन्ध, बदलते हुए सामाजिक मूल्यों आदि का विश्लेषण रहता है। यदि एक वाक्य में कहें तो कह सकते हैं कि इन उपन्यासों में वहाँ के व्यक्तियों के माध्यम से जन-जीवन के बहिरन्तर को उसके अधिकाधिक अंश में प्रस्तुत करने का प्रयत्न रहता है।

हिन्दी में इधर कुछ अंचलों को लेकर कुछ उपन्यास लिखे गये हैं—

(१) अवध के किसानों के जीवन पर आधारित प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' आदि।

(२) जिला दरभंगा (बिहार) के जन-जीवन पर—नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' आदि।

(३) जिला पूर्णियाँ (बिहार) के जन-जीवन पर—रेणु के उपन्यास 'मैला आंचल' तथा 'परती परिकथा'।

(४) बम्बई के मछुहारों के जीवन पर—भट्ट का उपन्यास 'सागर लहरें और समुद्र'।

(५) ब्रह्मपुत्र नदी के आस-पास के जीवन पर—देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र'।

(६) 'मणिपुर' के जन-जीवन पर—बलभद्र ठाकुर का मुक्तावती'।

(७) नैपाल के जन-जीवन पर—बलभद्र ठाकुर का 'नैपाल की वो बेटी'।

(८) कुल्लू घाटी (काश्मीर) के जन-जीवन पर—बलभद्र ठाकुर का 'आदित्यनाथ'।

(९) पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जन-जीवन पर—उदयशंकर भट्ट का 'लोक परलोक'।

(१०) काशी के जन-जीवन पर—रुद्र का 'बहती गंगा'।

(११) 'चौक' लखनऊ के जन-जीवन पर—अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र'।

(१२) करनटों के जीवन पर—रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ'।

आंचलिक उपन्यासों का सबसे बड़ा उद्देश्य हमारे देश के विभिन्न अंचलों की विलुप्त होती हुई सांस्कृतिक चेतना की सुरक्षा है। आज के युग में आर्थिक सम्बन्धों, उत्पादन साधनों, आवगमन की सुविधाओं आदि के तेजी से विकसित होने के परिणाम स्वरूप समाज में परिवर्तन आ रहा है। नदियों, पहाड़ों, भाषाओं आदि की सीमाएँ टूट रही हैं। प्रान्त देशों में और देश अन्तर्देशीय संगठनों में विलीन होते जा रहे हैं। ऐसे समय में प्राचीन परम्पराओं और सांस्कृतिक मान्यताओं की रक्षा का प्रश्न और भी गम्भीरता के साथ युग के सामने उपस्थित हो गया है। आंचलिक उपन्यास इसी माँग की पूर्ति के प्रयत्न हैं, अतः आंचलिक उपन्यासों को युग की आवश्यकता समझना चाहिए। आंचलिक उपन्यास जन-जीवन के भीतर चलने वाली धाराओं को देखता और उन्हें सहृदयता के साथ अंकित करता है। इन उपन्यासों में जन-मानस के द्वन्द्व को चित्रित करना चाहिए। इस जीवन में कौन से तत्त्व कार्य कर रहे हैं, इसे उपन्यासकार जागरूकता के साथ देखता है और अपनी कला द्वारा यह इंगित करता चलता है कि इनमें कौन से तत्त्व परम्परागत हैं तथा कौन से

इस नयी समाज-व्यवस्था की देन हैं। नवीन तत्त्वों में कौन प्राचीन तत्त्वों के स्थान पर आये हैं और कौन समाज की आवश्यकतानुसार अधिक आ गये हैं? इन तत्त्वों में कौन प्रगतिशील हैं और कौन ह्रासशील? इसी प्रकार वह यह भी बताता है कि प्राचीन परम्पराएँ किस सीमा तक आज के परिवर्तित समाज में लाभकारी रह गई हैं और उनमें से किसमें कितने परिवर्तन की आवश्यकता है? ये सारे प्रश्न स्पष्ट रूप से आंचलिक उपन्यासकार के सामने रहते हैं। और इन्हीं प्रश्नों को मुख्यतः लेकर चलने वाला आंचलिक उपन्यास सफल कहा जा सकता है। केवल भाषा के आंचलिक प्रयोगों को उद्देश्य मानकर चलने वाले उपन्यासकार कुछ भाषा सम्बन्धी नवीन प्रयोग अवश्य करलें, किन्तु इनसे हमारी संस्कृति और उपन्यास कला का कोई भला होने वाला नहीं है।

'संस्कृति' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' का आगम करके 'क्तिन' प्रत्यय करने से बनता है। यदि इस व्युत्पत्ति के आधार पर इस शब्द का अर्थ किया जाय तो 'भूषणयुक्त सम्यक् कृति या चेष्टा' होता है। कुछ अन्य विद्वानों ने इसका अर्थ 'परम्परागत अनुस्यूत संस्कार' बताया है। इन अर्थों में प्रथम में यदि कार्य की प्रधानता है तो द्वितीय में संस्कार की। अंग्रेजी 'कल्चर' (Culture) शब्द के वजन का यह शब्द माना जा सकता है और सामान्यतः उसी अर्थ में प्रयुक्त भी होता है। मोटे रूप में जिन क्रियाओं, व्यापारों अथवा मान्यताओं द्वारा हमारा आचार-विचार परिष्कृत हुआ माना जाय तथा हमारी रुचि उन्नत हो, उन सबको संस्कृति की सीमा-रेखा में स्वीकार किया जायगा।

'संस्कृति' के अन्तर्गत किसी अंचल विशेष की निम्न बातें आती हैं—

(१) **प्राकृतिक जीवन**—इसमें प्राकृतिक स्थान, वन, उपवन, पर्वत, नदी, वनस्पतियाँ, पुष्प, फल, झाड़, लता, मेवे, तरकारियाँ, पशु, पक्षी, जलचर, कीट-पतंग आदि आदि।

(२) **सामान्य जीवन**—आवास-निर्माण क्रिया, विचरण स्थान, खान-पान में भोजन के समय के पदार्थ-पेय, मुख-शोधन आदि की वस्तुएँ, पात्रों में बालकों, पुरुषों, बालिकाओं और स्त्रियों के वस्त्र तथा अवसर विशेष पर इन वस्त्रों में होने वाले परिवर्तन, शृङ्गार-प्रसाधन, उबटन, स्नान, केशविन्यास, पुरुष और स्त्रियों के आभूषण, दैनिक प्रयोग में आने वाले बर्तन, बैठने और सोने के उपकरण तथा अन्य वस्तुएँ, धातु तथा खनिज पदार्थ, सवारियाँ आदि आदि।

(३) **पारिवारिक जीवन**—परिवार का गठन और सम्बन्धी, परिवार के सम्बन्धों को सूचित करने वाले शब्दों का प्रयोग, परिवारों में दास-दासियों

और अतिथियों का स्थान, प्राचीन नातों का धीरे-धीरे विलयन और नवीन नातों का विकास, परिवारों का घटना और बढ़ना (परिवार के लोग सम्बन्धों की अधिकता अनुभव करते हैं या धीरे धीरे टूट रहे है), पारिवारिक जीवन-चर्या, पुरुषों की चर्या, स्त्रियों की चर्या, पारिवारिक शिष्टाचार, अभिवादन के प्रकार, आशीर्वाद के रूप, पत्र-लेखन-विधि, संस्कार, जन्मोत्सव से लेकर अन्त्येष्ठि तक आदि ।

(४) **सामाजिक जीवन**—सामाजिक व्यवस्था, वर्णव्यवस्था (सभी वर्णों की अलग-अलग मान्यताएँ और विचारधाराएँ), आश्रम (सभी आश्रमों का विवेचन), मनोविनोद के साधन, खेल-कूद, नाच-तमाशे, पतंगबाजी, बालिकाओं के खेल, युवकों के खेल, मल्ल युद्ध, जुआ खेलना, जल विहार, नट विद्या, राम लीला, कृष्ण लीला, नाटक, आंचलिक कहानियाँ, गीत, पर्व, उत्सव, हिंडोरा, व्रत, त्यौहारों का महात्म्य और उनके मनाने की प्रक्रिया, स्वागत-सत्कार, उपहार भेजना, लोक-व्यवहार की अन्य बातें, विश्वास और मान्यताएँ, पौराणिक कथाएँ, पौराणिक पशु-पक्षी, वृक्ष, वाहन, सर्प आदि, भाग्यवाद, कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद, ज्योतिष के प्रति आस्था, भूत-प्रेत में विश्वास, झाड़-फूँक, जादू-टोना, जंत्र-मंत्र, शकुन देखना, स्वप्न सम्बन्धी विश्वास, शपथ, कोसना, कवि प्रसिद्धियाँ तथा अन्य प्रकार की मान्यताएँ आदि ।

(५) **वाणिज्य, व्यवसाय तथा जीविका के साधन**—व्यापार की स्थानीय वस्तुएँ, भाव-ताव करने की विधि, विनिमय का प्रकार, मुद्रा, मुद्रा का मूल्य, व्यवसाय और उसके व्यवसायी, जीविका के साधन, बुद्धिजीवी वर्ग, कर्मकार वर्ग, कलाकार वर्ग, किसान वर्ग, मनोरंजनकारी वर्ग, याचक वर्ग, छुआछूत तथा जातिवाद आदि के रूप, गाँव और शहर की अर्थ-व्यवस्था का सम्बन्ध आदि ।

(६) **राजनीतिक जीवन**—राजनीतिक जागृति, पार्टियाँ, पार्टियों की नीति और उनका व्यावहारिक रूप, नेताओं के दाँव-पेच, देश की राजनीति का प्रभाव, ग्रामीण राजनीति, राजनीतिक संघर्ष और संगठन आदि ।

(७) **धर्म और दर्शन**--साम्प्रदायिक विचारधाराएँ, भक्ति के प्रकार, पूजा पद्धतियाँ, तीर्थ, दान, यज्ञ, श्राद्ध, कथा, ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मुक्ति आदि के सम्बन्ध में विचार आदि ।

(८) **साहित्य, कला और विज्ञान सम्बन्धी विचार**—साहित्य सम्बन्धी विचार, गीता, पुराण, भागवत आदि के विचार और उनपर विश्वास, वास्तु-कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत तथा गायन, वादन, नृत्यकला, भित्तिचित्र, गीत आदि ।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में वैसी गहनता और रोचकता नहीं आई है जो सारे हिन्दी पाठकों को इस ओर उन्मुख कर दे। इसका कारण यह है कि आज के आंचलिक उपन्यासकार छोटे-छोटे चित्रों और वातावरणों के विविध रंगों से युक्त खण्ड-चित्र-समूह देने का प्रयत्न कर रहे हैं। उन्होंने कथात्मकता और मनोरंजन के तत्त्वों को भुला सा दिया है। रेणु के उपन्यासों में मुख्यतः यही कमी अनुभव की गई है। 'परती परिकथा' में कथानायक कोई व्यक्ति नहीं है, जैसा कि उसके नाम से प्रकट है—वह तो 'परती' की कथा है। परती का चित्र देखिए—

"धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर।
पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती।......"

और उपन्यास का अन्त होता है, इसी परती के भाग्य-परिवर्तन के साथ-साथ—

"सेमलबनी के आकाश में अबीर-गुलाल उड़ रहा है!
आसन्न प्रसवा परती हँसकर करवट लेती है!"

आंचलिक उपन्यासों में कोई व्यक्ति नायक न होकर अंचल विशेष ही नायक होना चाहिए, ऐसी कुछ मान्यता इन उपन्यासकारों की है और इससे सबसे बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि वे व्यक्तियों में कोई दिलचस्पी नहीं रख पाते। (मेरे कई मित्रों ने मुझसे कहा है कि '६०० पृष्ठों के इस नीरस पोथे को कौन पढ़ सकता है?') यदि रेणु इसका ध्यान रखते और पात्रों का समुचित विकास दिखाकर तथा इस परती, दुलारी दाय, पंच चक्रों आदि की कथा को किसी अन्य तरकीब से प्रस्तुत कर देते, तो पाठकों को अधिक आनन्द दे सकते। इसके अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से रेणु के उपन्यास अपनी समता नहीं रखते। 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' दोनों में हमें कुछ ऐसे अमर पात्र मिलते हैं जो स्वाभाविक तथा सबसे अलग पहचाने जाने वाले हैं। उस परानपुर को कौन नहीं जानेगा—

"इस इलाके में सबसे उन्नत गाँव है परानपुर। किन्तु, जिस तरह बाँस बढ़ते-बढ़ते झुक जाता है उसी तरह यह गाँव झुका है............अब इस सब-डिवीजन भर के लोग—यहाँ के दस वर्ष के लड़के से भी बात करते समय अपना पाकेट एक बार टटोलकर देख लेते हैं। फारबिसगंज बाजार की किसी दुकान में चले जाइए, ज्यों ही मालूम हुआ कि परानपुर का ग्राहक आया है, दुकानदार अपनी बिखरी हुई चीजों को समेटना शुरू कर देता है............ट्रेन के चेकर जानते हैं, परानपुर के लोग टिकट लेकर गाड़ी में नहीं चलते। चार्ज करने वाले चेकर को रोड़े और पत्थरों से भाड़ा चुकाते हैं ये।"

जितना विचित्र परानपुर गाँव है, उतनी ही विचित्र है इस गाँव की कहानी। सारा कथानक दुलारीदाय, पंच कुण्ड आदि की पुरातन कथाओं और उनके रहस्योद्घाटन के पीछे घूमता है। जमींदारी युग से लेकर १९५७ तक के भूमि-सुधारों तथा परिवर्तनों को, जो बिहार में हुए हैं, किसी न किसी प्रकार रेणु ने बता दिया है। उपन्यास चूँकि चित्र-शैली में लिखा गया है, अतः कोई चित्र जब जहाँ पड़ गया वहीं दिखाई दे जाता है—उसके लिए लेखक को सम्बद्धता आदि की कोई चिन्ता नहीं रहती। चित्र अपने में इतने सजीव औद मार्मिक हैं कि पाठकों को उनके रंग अपनी ओर आकर्षित करके असम्बद्धता की ओर ध्यान ही नहीं देने देते। पात्रों की संख्या यद्यपि काफी है फिर भी डिकिन्स के पात्रों के समान वे सभी अपनी-अपनी कुछ विशेषताएँ रखते हैं और अलग-अलग आसानी से पहचाने जा सकते हैं। कुछ नमूने पर्याप्त होंगे—

"मुन्शी की चमड़ी निश्चय ही गैंडे की चमड़ी जैसी है। उसकी खिचड़ी मूँछों के अन्दर की मुस्कुराहट को कभी मन्द नहीं कर सके हाकिम साहब।"

"जित्तन का चेहरा सिंदुरिया आम की तरह लाल हो गया है। आरक्त मुखमंडल। ललाट पर कई नई रेखाएँ खिच आई हैं। वक्र ओठों से घृणा मानो टप टप चू रही है।"

"छि—ऊँ—ऊँ—ऊँ! दिलबहादुर पागलों की तरह चिल्ला रहा था, हाथ की नंगी भुजाली चमचमाती थी, उसके सुनहले दाँत की पंक्तियों से मानो आग की चिनगारी छिटक कर निकल रही थी।"

नई मान्यताएँ प्राचीन पर्वों, त्योहारों, कथाओं के महत्वों आदि पर अविश्वास करना सिखाती हैं। रेणु इसका उत्तर देते हैं—

"कौन कहता है गँवई पर्व है?..........मैंने दैनिक आर्यभूमि और इण्डियन नेशनल टाइम्स में लेख पढ़ा है इस पर्व पर।"

इन पर्वों के माध्यम से ग्रामीण चित्रकला आज जीवित है। एक पूर्णियाँ के 'शाम-चकेवा' का चित्र देखिए—

"मिट्टी की शामा, मिट्टी का चकेवा। छोटे-छोटे दर्जनों किस्म के पंछियों के पुतले, अन्दी धान के चावल का पिठार घोलती है। पोतती है प्रत्येक पुतले को। इसके बाद लिपे-पुते सफेद पुतलों पर, पुतलों के पाँखों पर, आँखों पर तरह-तरह के रंगटीप, फूलपत्ती......."

चौक लखनऊ का एक दृश्य कितना यथार्थवादी और आज के समाज की दशा पर तीव्र व्यंग्य करने वाला है—

"कटी-फटी पतंगों, मकड़ी के जालों, घोंसलों, चिड़ियों, गिलहरियों और पीपली के दानों से लदा, अनगिनत इंसानों के चंचल मन समूह सा

हरहराता हुआ घना पीपल कई सदियों से मुहल्ले का साथी है। आज के बड़े-बूढ़ों के बचपन तक यह पेड़ गंगे भूरिये के भाड़ का पीपल कहलाता था।..........इस पेड़ के तीन तरफ राजा साहब के किसी पुरखे ने पक्का चबूतरा बनवाकर पत्थर के मण्डप में महावीरजी की मूर्ति स्थापित करवाई है। उत्साही भक्तों ने सिन्दूरी चोले पर सोने-चाँदी के वर्कों से ऐसी सजावट कर रखी है..........मुहल्ले के दो-एक हुक्के, नीम की दातूनें, एकाध दो अखबार, तरकारी फलवालों के डले, कुल्फी मिमिष, कुल्फी मलाई, जलेबी, सुहाल, अँदरसे, गजक-लौज-पट्टी-रेवड़ी-तिल के लड्डू, मूँगफली वालों के खोंचे ऋतु और समय के साथ उस चबूतरे पर दिखाई पड़ते हैं।..........पीपल के नीचे मंडप में विराजमान गदा-पर्वतधारी डेढ़ फुटिया बजरंगबली का चमत्कार ऐसा बॉक्स आफिस है जो बस 'हिट' होते-होते ही रह गया है।"

नागरजी ने कम से कम शब्दों में कितने सुन्दर चित्र दिये हैं। 'बूँद और समुद्र' में हमें पात्रों और घटनाओं का वैविध्य 'परती परिकथा' की अपेक्षा अधिक मिलता है और इसीलिए इसमें रोचकता की शिकायत पाठकों को कम होती है। स्वभाव, पसन्द, नापसन्द आदि की व्यंजनात्मक विशेषताओं के साथ-साथ भाषा का वैविध्य और पात्र तथा देश-काल-परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन नागरजी के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं। लाले की घरवाली दूसरे के यहाँ जाकर लड़ने वाली और बीच बाजार हजार सुनाने वाली है—

"सहसा लाले की घरवाली ने बीच चौक में फटकर भभूती के घर को हीरोशिमा बना दिया। नल के पास बैठे घरधनी को सुनाकर लाले की घरवाली ने कहा—कहाँ है तुमरी रंडो? तुमरी लाड़िली बिटिया?..........अरे आवै तो चोट्टी-छिनट्टी, नउअर से रिस्तेदारी जोड़ के अपने घर में चोरी कराइन, औ' अब हमारे ऊपर जादू चलउती हैं।"

कला की दृष्टि से कुछ भी अशुभ नहीं होता। समाज में जैसी परिस्थितियाँ और घटनाएँ उपस्थित हैं उनका संस्कृति के साथ सम्बन्ध जोड़कर प्रस्तुत करने वाले आंचलिक उपन्यासकार अमृतलाल कभी भी विस्मृत नहीं हो सकेंगे। ताई जैसा अमर चरित्र प्रस्तुत करके नागरजी ने हिन्दी उपन्यास को सुन्दर देन दी है। ताई की मधुर वाणी सुनिए—

"निगोड़ी सबकी सब मेरी छाती पे ही मूँग दलने आमें हैंगी। सात जलम की दुस्मन मरी, गली-गली घूमकर मेरे घर बच्चे पटकने आई रंडो। अरे तन-तन में कीड़े पड़ेंगे, सरदी की रात में दौड़ा मारा।"

आज के समाज के बदलते हुए रंग-रूप-मान्यताएँ आदि 'बूँद और

ये मध्यवित्त वर्ग को आधार बनाकर साधार हुए हैं। एक ओर प्रेम-विवाह करने वाली तारा अपने को मिसेज वर्मा कहलाने का हठ कर रही है, तो दूसरी ओर बड़ी जो सुनारी है, अपने को वैश्य बताती है। ताई एक ओर अपनी सौत और नंदों के कहने पर पड़ोसियों के दर्वाजों पर पुतले रखती है दूसरी ओर बिल्ली के बच्चों के लिए अनेक कष्ट सहती है तथा मिसेज वर्मा के बच्चा होने पर उसकी प्राणपण से सेवा करती है और उसका नामकरण संस्कार करते समय स्वयं पैसा तक खर्च कर देती है। ताई के रूप में हमें प्राचीन परम्पराओं और मान्यताओं का सजीव रूप दिखाई पड़ता है। ताई द्वारा बनाये गये पुतले परम्परा का सुन्दर उदाहरण हैं।

'बूँद और समुद्र' की सबसे बड़ी शक्ति और सबसे बड़ी कमजोरी उसकी भाषा है। जहाँ भाषा के द्वारा वातावरण में सजीवता और पात्रों की स्वाभाविकता निर्मित की गई है, वहीं यदि भाषा को निकाल दें तो कथ्य बहुत ही कमजोर रह जाता है। आज के आस्थाहीन युग में यद्यपि नागरजी ने आस्था उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है और उनकी आस्था के केन्द्र हैं बाबारामजी, जो 'जियो और जीने दो' का जीवन-दर्शन देकर सबको आदर्शवादी बनाने का प्रयत्न करते हैं, शहर से गाँव की ओर जाना चाहते हैं, सेवा में समाज का कल्याण मानते हैं। परम्पराओं और रूढ़ियों द्वारा भी समाज के हित के लिए धन एकत्रित करते हैं—चाहे इसके लिए उन्हें ताई को पुत्री के विवाह का माध्यम ही क्यों न स्वीकार करना पड़े—और सज्जन जैसे अकर्मण्य तथा धन-लोलुप को भी कर्मठता की ओर अग्रसर करने में समर्थ सिद्ध होते हैं।

गलित समाज की हीन दशा के कारणों पर प्रकाश डालते हुए और सामन्तों के शोषणा को स्पष्ट करते हुए 'बलचनमा' के लेखक नागार्जुन ने ग्राम-समाज की उन गुत्थियों को सामने रखा है—समाज की उस सामन्ती संस्कृति का ह्रासशील चित्र उभारा है, जिसमें से बलचनमा जैसे कर्मठ और कभी निराश न होने वाले नायक उदित हुए हैं, जिन्होंने समाज को आगे बढ़ाया है और बढ़ा रहे हैं। आज सामन्तवाद प्रतिक्रियावादी सिद्ध हो चुका है, पूँजीवाद (भारतवर्ष में) प्रगतिशील है, कुछ क्षेत्रों में इसमें भी संघर्ष खुलकर सामने आ चुका है और अब समाजवाद का लक्ष्य निर्धारित करना और उन तत्त्वों की सहायता करना, जिनसे स्थायी शान्ति और वर्गवादी संघर्ष की समाप्ति नियोजित हो सके, आज के प्रगतिशील तत्त्व माने जायँगे। आज के आंचलिक उपन्यास इन परिवर्तनों को स्पष्टता के साथ दिखाते हैं, अतः इन्हें प्रगतिशील मानी जायगा।

ग्रामीण संस्कृति के प्रतीक ग्राम्यगीतों और कहानियों को हम रेणु, बलभद्र ठाकुर और सत्यार्थी के उपन्यासों में देखते हैं। 'चिरहीचिरमुन' की कहानी का गीत देखिए—

"रेशमी पटारे मैया फाड़िके फेंकाउली—ई-ई,
सोना के गहनवाँ मैया गाँव में बँटाउली-ई-ई,...."

आज के शहरों में मध्यवित्तवर्ग की स्त्रियाँ सिने संगीत से विशेष रूप से प्रभावित हो रही हैं और उनके प्राचीन गीतों का स्थान सिने संगीत या उसकी तर्ज पर चलने वाला संगीत ग्रहण करता जा रहा है। अंग्रेजी के अनेक शब्दों को लेकर व्यंग्य किये जाते हैं, देखिए—

"सदा तू तू न मुझको सुनाया करो,
माई डियर कहके बुलाया करो।"

रहन-सहन, खान-पान, खेल-तमाशे, मनोरंजन-क्रीड़ा, अभिवादन-गालियाँ, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, व्रत-पर्व, नाच-कूद, कविता-कहानी के प्राचीन और नवीन रूप इन उपन्यासों में दिखाये गये हैं। इनका संघर्ष दिखाया गया है और इनका परिवर्तित होता हुआ रूप स्पष्ट किया गया है।

आज के समाज में पिछली सम्मिलित कुटुम्ब व्यवस्था किस प्रकार हानिकर और गृहकलह का कारण बनी हुई है, ये सारी बातें इन उपन्यासों में खोलकर बताई गई हैं।

मनुष्य और नारी के बदलते हुए मन और उस पर पड़े हुए संस्कारों का सुन्दर चित्र 'सागर, लहरें और समुद्र' में दिया गया है। रत्ना जो एक मछुहारे की पुत्री होने के कारण परम्पराग्रस्त है तथा नवीन शिक्षा में दीक्षित होने के कारण जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की इच्छुक है, अशिक्षित प्रेमी को त्यागकर शिक्षित मालिक से सम्बन्ध स्थापित करने वाली है। प्रेम में एकबार असफल होकर फिर डाक्टर से सम्बन्ध जोड़ बैठती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज में आर्थिक और शैक्षिक परिवर्तनों के साथ ही हमारा समग्र जीवन बदल जाता है और साथ ही साथ हम प्राचीन परम्पराओं से भी जुड़े रहते हैं। न पूर्ण रूप से पुरातन रह जाते हैं और न नवीन बन पाते हैं।

जातिविशेष के सामाजिक व्यवहार, परम्परा, नैतिकता आदि को आधार बनाकर लिखे जाने वाले आंचलिक उपन्यासों में रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' आता है। करनट एक जरायमपेशा जाति है, जिनमें नैतिकता के अन्तर्गत यौन प्रश्न नहीं आता है। उपन्यासकार ने स्वयं इस सम्बन्ध में अपनी टिप्पणी दी है—

"कोई नैतिकता नहीं होती। इनके मर्द औरत को वेश्या बनाकर उसके द्वारा धन कमाते हैं। ज्यादातर यह लोग चोरी करते हैं·······करनटों में छूट है, वहाँ कोई बुराई सेक्स के आधार पर नहीं मानी जाती।"

इस उपन्यास में करनटों के रीतिरिवाज, वातावरण, पुलिस के साथ उनके सम्बन्ध आदि का ही व्यापक और सुन्दर चित्र दिया गया है। इन लोगों में भी धीरे-धीरे ठाकुरों और ऊँची जातियों के समान सम्मानपूर्ण ढंग से रहने की कामना उत्पन्न हो रही है, किन्तु उनके शोषणकर्त्ता इन्हें चैन से खाने-कमाने और रहने नहीं देते, उनके हाथ में शक्ति होती है, अतः शक्ति के बल पर उनका शोषण करते हैं।

एक नगर की सभ्यता का ब्यौरेवार इतिहास और संस्कृति के उतार-चढ़ावों का ब्यौरा देने वाली आंचलिक उपन्यासों की जो परम्परा है, उसमें रुद्रजी का 'वहती गंगा' माना जाता है। सन् १७५० से लेकर १९५० तक की काशी की आंचलिक विशेषताओं को लेकर सत्रह कहानियों के एकत्रित रूप में इस उपन्यास की रचना हुई है। इस उपन्यास में नायक का स्थान काशी को प्रदान किया गया है, इसका परिणाम यह हुआ है कि कथा में सम्बद्धता नहीं आ पाई है। भाषा की सहज स्वाभाविता और लहरदार शब्दावली द्वारा जो प्रभाव उत्पन्न होता है, वह आसानी से नहीं भुलाया जा सकता। "इन पात्रों के रोमांचमय जीवन को पढ़कर थोड़ी देर के लिए हम अपने को उनके स्थान में रखकर सुख पाते हैं। काशी राज्य के संस्थापक राजा बलवन्तसिंह का पौरुष; नागर और भंगड़ भिक्षुक, जो गुण्डे कहे जाते थे, किन्तु जिनका हृदय मोम के समान दूसरे के दुःख से पिघल उठता था और दूसरे की प्राण-रक्षा में जो अपने जीवन को नगण्य समझते थे, की अद्‌भुत मस्ती और सजीवता, गाड़ीवान झींगुरसिंह की भावुकता एवं कलाप्रियता, भंगड़ भिक्षुक की रानी पत्नी मंगला गौरी का संयम एवं सतीत्त्व, अपने सरस कण्ठ और कटाक्ष से भावुक हृदयों को विद्ध करने वाली दुलारी मनिहारिन की कमलपत्रवत् निर्लिप्तता एवं कला-साधना; गंगा पान वाली की मादक रहस्यमयता आदि बहुत दिनों तक हमारी स्मृति में सुरक्षित रहते हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यासों की आंचलिक परम्परा हमारे सांस्कृतिक जीवन का चित्र है। हमारी संस्कृति जितने समग्र रूप में आंचलिक उपन्यासों द्वारा हुई है, अन्य विधाओं द्वारा नहीं। आंचलिक उपन्यासों को आज के युग का सांस्कृतिक-चित्र कहा जा सकता है।
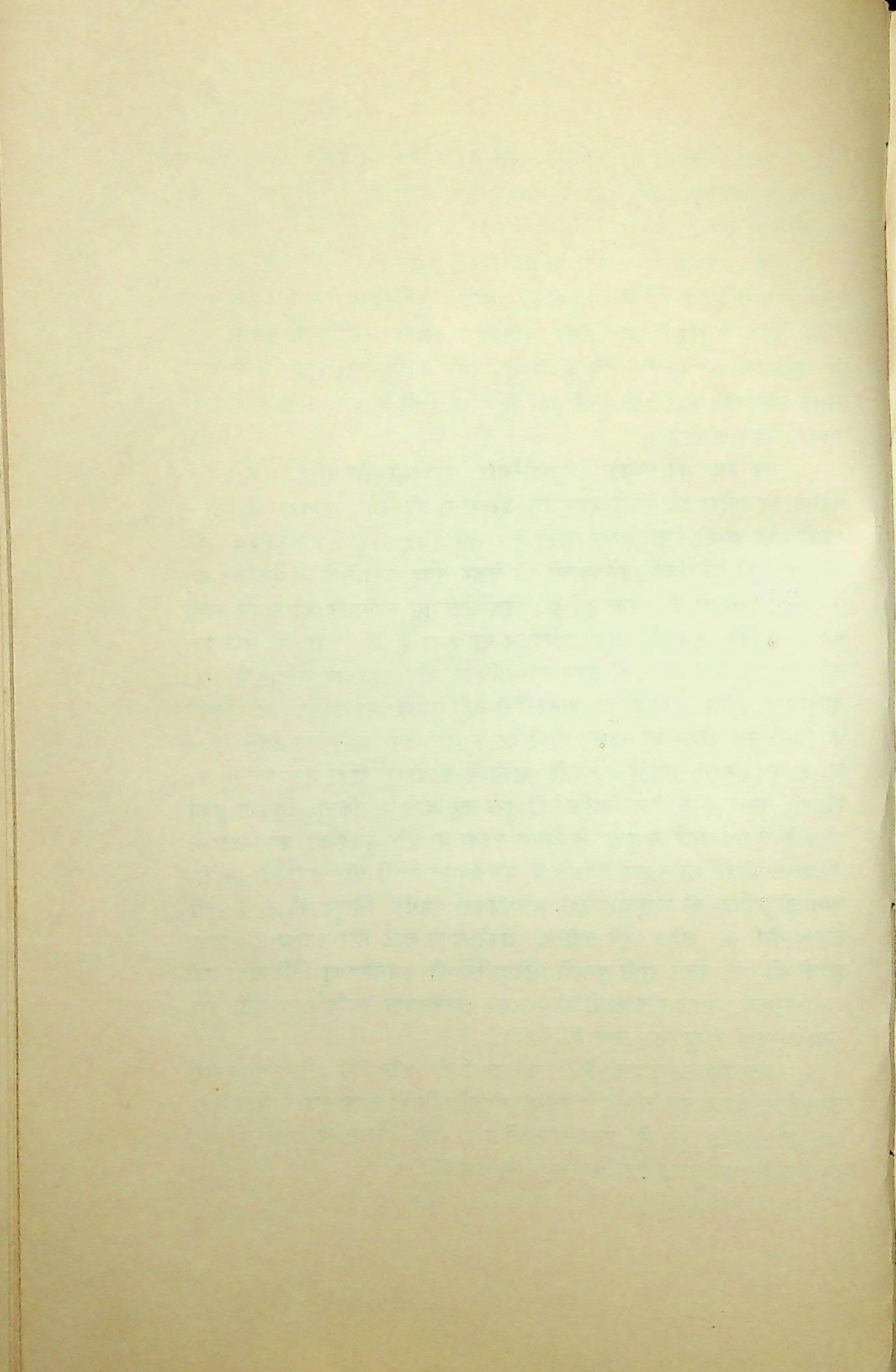
तृतीय खण्ड

१३. हिन्दी उपन्यासों की पूर्व पीठिका

महाकाव्य को जीवन का पद्य-बद्ध उपन्यास कहा जा सकता है; किन्तु उपन्यास और महाकाव्य में उतना ही अन्तर होता है, जितना पद्य और गद्य में। पद्य मनुष्य के भावुक क्षणों की अभिव्यक्ति है तो गद्य में मनुष्य की भावुकता चिन्तन-परक हो उठती है। इसीलिए महाकाव्य की अपेक्षा उपन्यास में जीवन-यथार्थ का अधिक ठोस धरातल होता है और यही कारण है कि उपन्यास रंजन के साथ-साथ मानव के मन में विचारों की अदम्य उत्तेजना उत्पन्न करने वाला होता है। महाकाव्य की अपेक्षा यह जीवन के अधिक निकट होता है। उपन्यासों में मानव-जीवन के यथार्थ और मानव-जीवन की विषमताओं, जटिलताओं और समस्याओं से संघर्ष तथा मनुष्य के हर्ष-विषादों के चित्रण की विशेषता सर्वथा आधुनिक काल की विशेषता है। ऐसे चित्रण की, जिसके माध्यम से मनुष्य अपने जीवन की संघर्ष-संकुल तस्वीर देख सके और जीवन की गहन समस्याओं से संघर्ष की प्रेरणा ग्रहण कर सके तथा साथ ही जीवन-सौन्दर्य की आन्तरिक और वाह्य के लिए मानव-प्रयत्न की लालसा और ललक को अपने जीवन का भी अंग वना सके एवं जीवन-सौन्दर्य के चित्रण से अपना रंजन कर सके। प्राचीन काल में हमारे देश के साहित्य का अधिकांशतः यह कार्य महाकाव्यों द्वारा ही होता था। गद्य में केवल एक ही ऐसी विधा थी जिसमें मानव-जीवन का समवेत चित्रण होता था—और वह थी नाटक। यद्यपि कथा-साहित्य भी था, किन्तु कलात्मक लालित्य के अभाव में उसे साहित्य में वह स्थान न प्राप्त हो सका, जो महाकाव्यों और नाटकों को हुआ। उस प्राचीन कथा साहित्य में उपदेश का स्वर ही अधिक मुखरित था। संस्कृत साहित्य में तो 'कादम्बरी' जैसे प्रयास हुए भी, जिन्हें संस्कृत साहित्य के उपन्यास कहा जा सकता है, किन्तु हिन्दी में आधुनिक काल से पूर्व ऐसे प्रयास नहीं मिलते; जो हैं भी, वह नगण्य हैं। इसके कारणों पर हम आगे विचार करेंगे, जहाँ आधुनिक हिन्दी उपन्यासों के उद्‌भव की परिस्थितियों का विवेचन करेंगे। यहाँ तो हिन्दी उपन्यासों की पूर्व पीठिका पर संक्षेप में विचार कर लें।

तो, महाकाव्य में जहाँ किसी जाति की समृद्धि और सभ्यता की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ उपन्यास में उसकी विषमताएँ, जटिलताएँ और संघर्ष आदि अपने स्वरूप को साकार करने का प्रयत्न करते हैं। कथा-साहित्य में जहाँ जीवन प्रतिबिम्बित होता है वहाँ लोक-रंजन का उद्देश्य भी उसके साथ प्रारम्भ से संलग्न रहा है, जिसका प्रयत्न करने पर भी कथा-साहित्य से अब तक सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो सका है।

संस्कृत साहित्य में कथाओं का उपयोग उपदेश देने के लिए सर्वप्रथम किया गया है, किन्तु इन उपदेशों में कथा-तत्त्व इसीलिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है कि इन्हें लोक-रुचि का अनुमोदन उपलब्ध था। मानव-सभ्यता का विकास जबसे हुआ है कथाओं का प्रचलन भी उसी समय से हुआ है। साहित्य की नाटक आदि अन्य विधाओं की उत्पत्ति के विषय में अनेक विद्वानों का मत है कि जीवन की क्रिया के साथ ही उनका उदय हुआ है; उसमें इतना और जोड़ा जा सकता है कि मानव की जीवन-क्रियाएँ ही कथा का स्वरूप धारण कर बैठीं। हाँ, उनमें कल्पना के लिए भी यथेष्ट स्थान रहा। प्रारम्भ में जीवन, कला और कथा इतने एकरूप रहे होंगे कि उन्हें अलग-अलग स्वरूप में देख पाना सम्भव नहीं रहा होगा। जैसे-जैसे सभ्यता विकसित हुई; धर्म, दर्शन, इतिहास, काव्य और कथा भी अपने मिश्रित स्वरूप में विकसित होने लगे। चीन, मिस्र और भारत सभी प्राचीन देशों की सभ्यताओं का विकास इसी कथन की पुष्टि का इतिहास है। जहाँ धर्मोपदेश के लिए कथाओं का प्रयोग हुआ, वहाँ धीरे-धीरे उनमें लोक-रंजकता भी बढ़ने लगी। ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण और उपनिषद् इस प्रकार की अनेक कथाओं से भरे पड़े हैं। इन कथाओं को उपाख्यान की संज्ञा दी गई थी। सभी—वामदेव, रोहित, जावालि और नचिकेता के उपाख्यान इनके सुप्रसिद्ध उदाहरण हैं। उपनिषदों में जो कथाएँ आई हैं, उनमें यद्यपि आदर्शवाद का भी पुट है फिर भी वह आदर्श यथार्थ जीवन से सटा हुआ और उस पर आधारित है। समस्याएँ तो निर्विवाद रूप से भौतिक और मानवीय हैं, किन्तु उनमें अति मानवीय तत्त्वों का भी यथेष्ट समावेश किया गया है। इन उपाख्यानों में जीवन का सत्य यथार्थ रूप से चित्रित किया गया है। जावालि की कथा में यह स्पष्ट किया गया है कि ब्राह्मण को सत्यवादी होना चाहिए। किन्तु उसने जिस सत्य का उद्घाटन किया है, उससे तत्कालीन सामाजिक-यथार्थ का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। जब सत्यकाम गौतम के पास विद्याध्ययन करने गया तो गौतम ने पूछा कि तुम्हारा गोत्र क्या है? जब उसने अपनी माता के कथन को दुहरा दिया कि यौवन-काल में अनेक व्यक्तियों से सम्बन्ध होने के कारण उसके पिता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी

कहा जाना सम्भव नहीं है। यह कथा तत्कालीन समाज की दशा पर सुन्दर व्यंग्य है।

संस्कृत साहित्य के दूसरे दौर में साहित्य को जब धर्मशास्त्र से अलग करके देखा जाने लगा तो कथा-साहित्य ने अधिक विकसित स्वरूप ग्रहण किया। वाणभट्ट की 'कादम्बरी' इस दिशा में सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। 'कादम्बरी' के अतिरिक्त मनोरंजन के तत्त्व को स्वीकार करके अन्य अनेक कथाएँ लिखी गई। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में अनेक कथाएँ उसका प्रमाण हैं। पंच-तंत्र, हितोपदेश, वृहत्कथा, वैताल-पंचविंशितिका, सिंहासन द्वात्रिंशिका, शुकसप्तमी तथा दशकुमारचरित (दण्डी रचित) आदि कथाएँ भारतीय लोक-कथा परम्परा की आधार-शिला हैं। इनमें यथार्थ और कल्पना दोनों का सुन्दर सामंजस्य है। यद्यपि प्रेम और भोग की प्रधानता का दोष इन कथाओं पर लगाया गया है किन्तु इनके माध्यम से इनमें तत्कालीन समाज की जो झाँकी मिलती है, उसे इतिहास भी देने में असमर्थ सिद्ध हुआ है। 'कादम्बरी' का कथानक मौलिक न होकर 'वृहत्कथा' का आभारी है, किन्तु उसकी चित्रमयी कल्पना तथा भाषा की आलंकारिक शैली अभूतपूर्व है। 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में वे गुण हैं जो संस्कृत काव्य के लिए शोभाकर हैं।[१]

'जातक' कथाएँ भी प्राचीन कथा साहित्य का स्वरूप उपस्थित करती हैं। जातकों में गौतम बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाओं का संग्रह है। यद्यपि ये कथाएँ कहानियों के ही अधिक निकट हैं तथा इनमें बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को रसात्मक स्वरूप देने की ही चेष्टा है, फिर भी चूँकि सारी कहानियों के प्रमुख-पात्र (नायक) बोधिसत्व (गौतम बुद्ध) ही हैं, अतः सारी कहानियों से समष्टि रूप में उपन्यास के ही दर्शन होते हैं। इन जातकों में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक तथा व्यावसायिक आदि सभी समस्याओं का सम्यक् चित्र मिलता है। यद्यपि इस चित्रण में अतिरंजना से कार्य लिया गया प्रतीत होता है तथा बौद्धों के विरोधी ब्राह्मण आदि के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण स्वीकार किया गया है, फिर भी उसमें यथार्थ के प्रति आग्रह अधिक प्रतीत होता है। तत्कालीन समाज के ज्वलन्त प्रश्नों को इन जातकों में उठाया गया है और फैले हुए भ्रम का विनाश करने के लिए (ब्राह्मण-धर्म को सन्तुलित करने के लिए) उपाय भी सुझाये गये हैं। जातकों का उद्देश्य धार्मिक था। तत्कालीन समाज की सारी विषमताएँ सामने लाना उनका मुख्य उद्देश्य नहीं था, इसलिए जातककार सारी सामाजिक मान्यताओं को चुनौती नहीं दे सके।

---

१. 'हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ' में 'हिन्दी उपन्यास' शीर्षक निबन्ध : नलिन विलोचन शर्मा।

वे सुधारक ही बन सके, क्रान्तिकारी नहीं। वैयक्तिक साधना (तंत्र) का आश्रय लेने के कारण आगे चलकर चाहे बौद्ध धर्म असामाजिक हो गया हो, किन्तु जातकों में स्वस्थ सामाजिक दृष्टि सर्वत्र दिखाई देती है। उनमें जीवन को उसकी समग्रता में स्वीकार किया गया है तथा उसके दोनों पहलू स्पष्ट दिखाये गये हैं। जहाँ व्यभिचारिणी ब्राह्मण पत्नी का चित्र है, वहाँ परोपकारी तथा कुशल शूर्पारिक भी है। जहाँ एक ओर 'डायनें' हैं वहाँ दूसरी ओर परोपकारी, 'अश्व' हैं। यद्यपि घोड़े मानवी भाषा बोलते तथा समुद्रों को एक ही छलांग में पार कर जाते हैं और अपने साथ ढाई सौ बनियों को भी उड़ाकर ला सकते हैं, किन्तु बोधिसत्व से सम्बन्धित होने के कारण इसे क्षम्य ही माना जायगा। 'शूर्पारिक जातक' में भारतीयों की विदेश यात्रा (समुद्र द्वारा) का सुन्दर वर्णन मिलता है, जिसमें बताया गया है कि भारतीय व्यापारी कितने कुशल और वीर होते थे, जो बिना चिन्ता किये समुद्र में जहाज लादकर चल देते थे और सालों पश्चात् कहीं किसी देश में पहुँचते थे। कभी-कभी उनके जहाज टूट भी जाते थे और वे लोग डूब जाते थे। उनमें से कुछ जहाजों के तख्तों आदि पर बैठकर किसी टापू में जा फँसते थे और जंगली जातियों के आहार बन जाते थे। कोई-कोई परोपकारी ब्राह्मण परदेश में अपने देश के नाई आदि सेवकों की रक्षा अपने से अधिक करता था और अपने भोजन को भी दूसरे को दे देता था और स्वयं व्रती बनकर भूख के कष्ट को धर्म के नाम पर तपस्या का रूप दे देता था। जीवन की इस विविधता का सुन्दर चित्रण जातकों की विशेषता है।

जब ये कथाएँ कविता के माध्यम को स्वीकार करके चलीं तो हिन्दी के प्रारम्भिक काल में महाकाव्यों तथा सूफी प्रेमाख्यानों का स्वरूप विकसित होने लगा। यह परम्परा भक्ति, रीति और आधुनिक काल तक अक्षुण्ण रही है। अनेक लोक-कथाओं को भी साहित्यिक रूप देकर पुष्ट मनोवृत्ति वाले सहृदयों के समक्ष रखा गया। डा० श्यामसुन्दरदास ने सूफी प्रेमाख्यानों को उपन्यास का प्रारम्भिक रूप माना है।[1] यद्यपि इन्हें उपन्यास का प्रारम्भिक स्वरूप तो नहीं

---

१. "हिन्दी के उपन्यास आधुनिक समय की उत्पत्ति हैं। परन्तु ध्यान देकर देखने से इनकी परम्परा प्रेमाख्यानक कवियों के पद्यों से ही आरम्भ होती दिखाई देती है। वही इनका आदिम रूप समझना चाहिए। ऐसे आख्यान या उपाख्यान प्रचुर संख्या में सूफी कवियों ने लिखे, अतः उनमें आध्यात्मिकता की अन्तर्धारा भी बहती रही। परन्तु इन कथाओं का विन्यास प्रमुख रूप से औपन्यासिक हुआ है।" ('साहित्यालोचन' : अष्टम संस्करण, पृ० १८६।)

माना जा सकता,[1] किन्तु कथा का तत्त्व इनमें सर्वत्र उपस्थित रहा है। इन काव्यों को डा० द्विवेदी ने उपन्यास-जातीय कथा-काव्य कहा है।[2] और यह भी माना है कि इन्हें उपन्यास नहीं कहा जा सकता है।

आधुनिक उपन्यास और प्राचीन कथा साहित्य में कला और विषय की दृष्टि से अपार भेद है। प्राचीन कथा साहित्य में काव्यात्मक वर्णन का आग्रह विशेष है। जीवन की गति का और कथा तत्त्व का अभाव है। 'कादम्बरी' में भी, जिसमें एक क्रमबद्ध कथा है और उपन्यास कला के काफी निकट है, कथा तत्त्व और कथा विकास विशेष नहीं है। काव्यमय वर्णन ही अधिक हैं। चरित्र-चित्रण, कथा-विन्यास आदि की दृष्टि से भी आधुनिक उपन्यासों से उनकी कोई समता नहीं है। यह बात और है कि आज कुछ लेखक उन प्राचीन कथा शिल्पों के आधार पर आधुनिक उपन्यास लिखने की नई टेकनीक का प्रयोग कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, धर्मवीर भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' को ले सकते हैं, जिसकी प्रत्येक कथा पंचतन्त्र, दशकुमार चरित या वैताल पचीसी आदि की कथाओं की तरह एक दूसरे से पृथक् होते हुए भी भाव और चेतना तथा कहने वाले की दृष्टि से एक सूत्र में सम्बद्ध हैं।

आधुनिक काल में आकर जब अंगरेजी राज्य देश में पुष्ट होकर स्थायी स्वरूप धारण करने लगा तथा विज्ञान और समाज-सुधारक के प्रचार-कार्य में अधिक प्रगति आने लगी, तो उसके लिए अधिक व्यापक और सुलभ साधन गद्य का आविर्भाव हुआ। यद्यपि खड़ी बोली गद्य का पूर्व रूप तथा ब्रजभाषा गद्य का स्वरूप परम्परा से चला आ रहा था और साधारण जनता उसका उपयोग अपने दैनिक जीवन में करती थी, फिर भी उसे साहित्यिक स्वरूप इसी काल में प्राप्त हुआ। ईसाई मिशनरी धर्म-प्रचार हेतु जनता के मानस-क्षेत्र तक प्रवेश कर जाना चाहते थे और इसके लिए उन्हें उनकी दैनिक प्रयोग की भाषा का माध्यम ही सबसे उपयुक्त प्रतीत हुआ। राजनीतिक दृष्टि से शासक और शासित के बीच कोई ऐसा भाषा सम्बन्धी माध्यम अपेक्षित था, जो दोनों को एक मानसिक स्तर पर लाने में समर्थ होता। यूरोप में गद्य का प्रचार कई सौ वर्ष पूर्व से हो रहा था और अनेक देशों में गद्य-साहित्य अपनी चरम सीमा तक विकसित हो चुका था, इसका आवश्यक परिणाम हिन्दुस्तान की भाषा-समस्या पर भी पड़ना स्वाभाविक था। ईसाइयों के धर्म-प्रचार-अभियान के परिणामों को देखकर राष्ट्रभक्त आर्यसमाजियों का मन-मानस व्यथित हो उठा और उन्होंने भी आर्यसमाज का प्रचार तथा शुद्धि कार्य शीघ्रता से

---

१. 'साहित्य-विवेचन' : सुमन, मल्लिक, पृ० १७२।
२. 'हिन्दी साहित्य' : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४१३।

प्रारम्भ किया। खड़ी बोली हिन्दी गद्य उनके प्रचार का भी माध्यम बनी। खड़ी बोली गद्य भारत में अंग्रेजी शासन स्थापित होने के पूर्व से ही तत्कालीन राजनीतिक कारणों से एक प्रकार से समस्त भारत की बहु प्रचलित भाषा बन गई थी। मुसलमानी शासन काल में दिल्ली के आस-पास की यह भाषा खड़ी बोली तत्कालीन व्यापारी वर्ग, सैनिक वर्ग तथा शासकों के माध्यम से सारे भारत में फैल चुकी थी; यद्यपि उसमें उर्दूपन अधिक था, लेकिन भाषा का ढाँचा खड़ी बोली का ही था केवल शब्द उर्दू के थे। अत: अंग्रेजों को जब अपनी उपरोक्त राजनीतिक स्वार्थ-पूर्ति तथा अपने धर्म-प्रचार के लिए एक देशी भाषा की आवश्यकता पड़ी, तो हिन्दी खड़ी बोली ही उस गौरव को पा सकी। स्वामी दयानन्द तथा अन्य भारतीय धार्मिक सुधारवादी आन्दोलकों ने भी उसे ही अपने कार्य के लिए उपयुक्त समझा। अंग्रेजों के लिए हिन्दी खड़ी बोली का प्रचार अपने राजनीतिक स्वार्थ की दृष्टि से महत्व रखता था, लेकिन तत्कालीन सुधारवादी आन्दोलकों ने उसे राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय अम्युत्थान और राष्ट्रीय जागरण का वाहक होने का गौरव और महत्व प्रदान किया। इस प्रकार से आरम्भ से ही हिन्दी खड़ी बोली देशभक्ति और राष्ट्रीय जागरण की प्रतीक बन गई और राष्ट्रीय चेतना का तत्त्व उसका मूल आधार बन गया, जिस पर उसका विकास हुआ। इस प्रकार स्वदेशी की भावना के साथ हिन्दी का सम्बन्ध जोड़ा गया, जिसने गद्य के विकास में अभूतपूर्व योगदान किया। प्रेस की सुविधा न होने के कारण प्राचीन और मध्य काल में पद्य की प्रधानता स्वीकार की गई थी। जब प्रेस आ गया और मुद्रण कला के विकास ने पुस्तकें छापकर ज्ञान-क्षेत्र के संरक्षण की सीमाएँ विस्तृत कर दीं तो पद्य के प्रति आग्रह कम हुआ और गद्य की ओर ध्यान गया। गद्य की ओर उस समय ध्यान जाने का एक और भी कारण था और वह यह कि अंग्रेजों के साथ आयी नई सभ्यता, संस्कृति, शासन-व्यवस्था, आर्थिक-व्यवस्था, जो उसे योरोपीय औद्योगिक क्रान्ति से मिली थीं, के सम्पर्क से जीवन के विविध क्षेत्रों में जो जटिलता आई और नई समस्याएँ तथा संघर्ष उत्पन्न हुए और उसके कारण जो परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसका सामना करने के लिए गद्य ही उपयुक्त और समर्थ थी; क्योंकि गद्य बहुसंख्यक जनता के भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। इस नई परिस्थिति से सम्पूर्ण जनता प्रभावित थी और उसे संयुक्त रूप से उसका सामना करना था, अत: इस काल में गद्य का विकास होना राजनीतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त स्वाभाविक था। सन् १८५७ ई० के विद्रोह से पूर्व भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। विद्रोह-काल में उनकी स्वाधीनता समाप्त कर दी गई थी। पत्रों के सम्पादक केवल विरोध कर सकते थे, जो करते रहे। जब १८७८ में

लार्ड लिटन ने 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' बनाया, तब तो रही सही स्वतन्त्रता भी समाप्त हो गई। यथेष्ट विरोध किया गया किन्तु शासक होने के नाते उसने कुछ भी न सुनी। इस एक्ट के कारण हिन्दी गद्य की प्रगति जो रुकी तो काफी समय तक रुकी ही रही। यद्यपि लार्ड रिपन ने इस अन्याय को समझकर 'प्रेस एक्ट' रद्द कर दिया,[1] किन्तु हिन्दी के प्रोत्साहन का कार्य जो पिछड़ा सो पिछड़ता चला गया। लेकिन उर्दू को अदालत की भाषा स्वीकार कर लेने से हिन्दी-प्रेमियों में एक जोश पैदा हुआ और हिन्दी के लिए कार्य होने लगा। इससे हिन्दी-उर्दू के बीच एक साम्प्रदायिकता की अस्वाभाविक खाई उत्पन्न हो गई। वह खाई अस्वाभाविक होते हुए भी तत्कालीन परिस्थितियों की उपज थी। इन्हीं परिस्थितियों में हिन्दी का विकास आरम्भ हुआ। भारतेन्दु के समय तक हिन्दी गद्य की भाषा का अपना एक आधार तैयार हो गया था और उसमें विविध विधाओं के साहित्य की रचना होने की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी। अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के गद्य साहित्य के सम्पर्क से गद्य की विविध विधाओं—उपन्यास, निबन्ध, नाटक आदि का स्वरूप सामने आया और भारतेन्दु ने उन सबसे प्रेरणा ग्रहण कर हिन्दी गद्य साहित्य की विविध विधाओं का सूत्रपात कर दिया। इसमें हमारा प्राचीन संस्कृत साहित्य उतना प्रेरणादायक सिद्ध नहीं हुआ, जितना अंग्रेजी साहित्य और बंगला, मराठी आदि प्रान्तीय साहित्य। नाटक के क्षेत्र में तो संस्कृत की प्रेरणा ने अवश्य योग दिया, किन्तु उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि में उसका कोई हाथ नहीं रहा। कहानी, निबन्ध आदि की भाँति हिन्दी उपन्यास साहित्य आरम्भ से ही अंग्रेजी तथा अन्य प्रान्तीय उपन्यास साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर विकसित होने लगा।

हिन्दी उपन्यास साहित्य की पूर्व पीठिका के उपरोक्त विवेचन में हमने न सिर्फ हिन्दी उपन्यास साहित्य ही बरन् समूचे हिन्दी साहित्य की दो मूलभूत चेतनाओं की ओर संकेत किया है—एक तो राष्ट्रीय उत्थान की चेतना और दूसरी हिन्दी-उर्दू की अस्वाभाविक सम्प्रदायिकता की चेतना। इस दूसरी चेतना ने पहली चेतना को भी काफी सीमा तक प्रभावित किया है। यह चेतना हिन्दी गद्य साहित्य ही नहीं, वरन् समूचे आधुनिक हिन्दी साहित्य—गद्य और पद्य दोनों के मूल में विद्यमान है। आधुनिक हिन्दी साहित्य की इस एकांगिता और साम्प्रदायिक संकीर्णता को समझकर और स्वीकार कर ही हम आज जब हिन्दी को राष्ट्रीय एकता की प्रतीक राष्ट्रीय भाषा का गौरव प्रदान

---

१. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (प्रथम संस्करण) : लक्ष्मी सागर बार्ष्णेय, पृ० २६।

करा सकते हैं। हमें हिन्दी-उर्दू के उस साम्प्रदायिक अस्वाभाविक भेद को मिटाना होगा तभी यह सम्भव हो सकता है। हिन्दी उपन्यास साहित्य भाषा की दृष्टि से काफी उदार रहा है। जन-साधारण की भाषा जिसमें उर्दू और हिन्दी के शब्दों का भेद नहीं रहा है, उपन्यासों की सामान्यतः भाषा होती है। अतः उपन्यास दोनों भाषाओं के भेद को दूर करने में सक्रिय योग देता भी रहा है और आगे भी देता रहेगा।

१४. हिन्दी उपन्यास का क्रमिक विकास (१)

प्रारम्भिक युग

हिन्दी साहित्य में उपन्यास का प्रारम्भ गद्य के विकास से जुड़ा हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ ही उपन्यास का प्रारम्भ माना जा सकता है। शिवनारायण श्रीवास्तव ने हिन्दी उपन्यासों के विकास को 'आदि काल' और 'आधुनिक काल' में विभाजित किया है।[१] आचार्य शुक्ल ने इसे उत्थानों में विभाजित किया है;[२] किन्तु इस प्रकार के वर्गीकरणों को कुछ आलोचक अस्वाभाविक और 'निष्प्रयोजन' कहते हैं[३] तथा उपन्यासकारों के नाम पर पड़ने वाले कालों और युगों को भी अयुक्तिपूर्ण बताते हैं; किन्तु काल-विभाजन को कहीं भी इतना पूर्ण और परस्पर असम्बद्ध नहीं कहा गया है कि एक युग (काल) में दूसरी प्रवृत्ति का एकान्त अभाव स्वीकार किया गया हो। विभाजन का तात्पर्य केवल यह रहा है कि इस युग में एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति या साहित्यिक विशेषताओं का प्राधान्य रहा। हिन्दी उपन्यास ने अपने अल्पकालीन जीवन में ही भारी प्रगति कर ली है, जब तक उसका काल-विभाजन करके विशेषताओं का उल्लेख न होगा, तब तक सब कुछ अस्पष्ट ही रहा आयेगा। यूरोप आदि में, जहाँ इस प्रकार के काल-विभाजन विश्लेषण में सहायक सिद्ध

---

१. 'हिन्दी उपन्यास' (तृतीय संस्करण), पृ० ५९।

२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (संशोधित संस्करण)।

३. "हिन्दी उपन्यास के स्वल्प-परिसर इतिहास के अध्ययन के लिए काल-विभाजनों को, जिन्हें साहित्यिक इतिहासकारों ने 'उत्थान' की संज्ञा दी है, मैं निष्प्रयोजन पाता हूँ। इसी प्रकार उपन्यासकारों के नामानुसार विभिन्न स्कूलों, और साहित्यिक व्यक्तित्व के आधार पर पुकारे जाने वाले युगों को भी अपने उद्देश्य के लिए मैं महत्वरहित विभाजक चिह्न-मात्र मानता हूँ।" ('हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ' में 'हिन्दी उपन्यास' शीर्षक निबन्ध : नलिन विलोचन शर्मा, पृ० १-२)

हो रहे हैं, वहाँ हिन्दी के विद्वान उनका विरोध कर रहे हैं। जो भी हो, हिन्दी उपन्यास की विशेषताओं और उपलब्धियों की दृष्टि से उसे हम तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) प्रारम्भिक युग (इसे नीतिपरक और जासूसी उपन्यास काल कहा जा सकता है)—१८००-१९१८ ई०।

(२) मध्ययुग (इसे प्रेमचन्द युग छायावाद-कालीन उपन्यास युग आदि कह सकते हैं)—१९१८-१९३६ ई०।

(३) वर्तमान युग (इसे कोई निश्चित नाम देना सम्भव नहीं है)—१९३६ से अब तक।

प्रारम्भिक युग में उपन्यास का प्रारम्भ हिन्दी गद्य के प्रारम्भ के साथ जुड़ा हुआ है। यदि कहें कि हिन्दी गद्य के विकास में कथा साहित्य ही नींव की ईंटें हैं तो अत्युक्ति न होगी। हिन्दी गद्य के प्रथम चार महारथी–मुंशी सदासुख लाल, सैयद इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र मूलतः कथाकार थे और उन्होंने कथाओं द्वारा ही हिन्दी गद्य साहित्य का श्रीगणेश करना उचित समझा।[1] यद्यपि इन कथाओं में अधिकांश संस्कृत के अनुवाद मात्र हैं, फिर भी इंशाअल्लाखाँ का प्रयत्न सबसे मौलिक और महत्त्वपूर्ण है। 'रानी केतकी की कहानी' यद्यपि लेखक द्वारा कहानी की सीमारेखा में स्वीकृत हुई है, फिर भी उसमें उपन्यास की प्रारम्भिक अवस्था के सुन्दर स्वरूप का दर्शन होता है। इंशा की कहानी में 'हिन्दवी' के प्रति आग्रह ही नहीं है, वरन् कथावस्तु भी मौलिक है, यद्यपि विषय वही प्रेम का है जिस पर फारसी पद्धति का स्पष्ट प्रभाव है।[2] इसका आगे चलकर यह फल हुआ कि इंशाअल्लखाँ की सी मौलिक अनुभूतियाँ तो साहित्य में न आईं, हाँ फारसी के अनुवादों की बाढ़ सी अवश्य

---

१. (अ) इंशाअल्लाखाँ—रानी केतकी की कहानी (१८००-३ ई०), (ब) लल्लूलाल—सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, माधवानल कामकन्दला, शकुन्तला और प्रेमसागर (१८०३-९ ई०), (स) सदल मिश्र—नासिकेतोपाख्यान (१८०३), (द) मुंशी सदासुखलाल—सुखसागर।

२. "रानी केतकी की कहानी को ही हम किसी हद तक मौलिक कह सकते हैं ···खाँ साहब की कहानी बिलकुल अपनी है। यद्यपि विषय परम्परा से चला आता हुआ वही पुराना है। वही प्रेम की लगन, हृदय की तड़प और पिया को पाने की कोशिशें।······रानी केतकी की कहानी को हम प्रथम उपन्यास कह सकते हैं। इस तरह एक प्रेम-कथा को लेकर ही हिन्दी कथा साहित्य आविर्भूत हुआ।" ('हिन्दी उपन्यास' (तृतीय संस्करण), पृ० ६०-६१।)

आ गई ।[1] हिन्दी पद्य उपाख्यानों और काव्यों की कथाओं को भी गद्य का स्वरूप प्रदान किया गया ।[2] इन ग्रन्थों में उपन्यास-तत्त्वों का वैसा समावेश न हो पाया जो इंशा-परम्परा को अग्रसर करने में सिद्ध होता । पौराणिक और धार्मिक कथाओं में नीति तथा धर्म के तत्त्वों पर ही जोर दिया गया । अंग्रेजी उपन्यास के प्रारम्भिक विकास-काल में भी बनियन[3] (Bunayan) आदि ने प्रतीकात्मक पात्रों के माध्यम से पारलौकिक (आध्यात्मिक) चित्रण प्रस्तुत किये । मिस्टर क्रिश्चियन और मिस्टर बैडमैन क्रमशः गुणों और दुर्गुणों के प्रतीक ही हैं । बनियन में जीवन के गम्भीर प्रश्नों को स्वीकृति मिलने लगी थी, किन्तु हिन्दी के इन उपन्यासकारों में इतनी जागरूकता नहीं दिखाई देती । इसका एक कारण यह भी था कि हिन्दी गद्य मानव की गम्भीर समस्याओं के चित्रण के योग्य परिष्कृत स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाई थी । जैसे-जैसे भाषा विकसित होती गई, उपन्यास भी पुष्ट होने लगा ।

भारतेन्दु के उदय के साथ ही हिन्दी उपन्यास क्षेत्र भी प्रकाशित होने लगा । हिन्दी में प्रथम उपन्यास 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' भारतेन्दु की देन है । सामाजिक कुरीतियों की ओर स्पष्ट संकेत, व्यंग्य पूर्ण शैली में करके गम्भीर विषयों का प्रतिपादन उपन्यास द्वारा इसके पश्चात् होने लगा । इस उपन्यास में पहिली बार प्रगतिशील विचारों को प्रश्रय मिला और प्रतिक्रियवादी तत्त्वों का ह्रास दिखाया गया । इससे हम इस निश्चय पर पहुँच सकते हैं कि हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ पुरातन और नवीन का संधिस्थल है, जहाँ से प्रगति की ओर अग्रसर होने के कारण उपन्यास तीव्रता से विकसित हो चला ।[4] भारतेन्दु ने अपने उपन्यास में एक वृद्ध (ढुण्ढिराज) और युवती (चन्द्र-प्रभा) का विवाह कराके वृद्ध-विवाह की घृणित परिस्थिति को उभार कर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है और बताया है कि युवक और युवतियों को अशिक्षित रखने का दुष्परिणाम समाज का पतनोन्मुखी विकास है । कुरीतियों का विरोध व्यंग्य के माध्यम से किया गया है । व्यंग्य सदैव साभिप्राय होता है और समाजगत बुराइयों (या व्यक्तिगत बुराइयों) के मूल पर कुठाराघात करता है । भारतेन्दु इससे परिचित ही नहीं थे, वरन् उन्होंने इसका पूरा-पूरा लाभ

---

१. किस्सा तोता मैना, किस्सा साढ़े तीन यार, चहारदर्वेश, बागो बहार, किस्सा हातिमताई, दास्तान अमीर हमजा आदि ।

२. जटमल की 'गोराबादल की कथा' (१८२३) ।

३. पिलग्रिम्स प्रोग्रेस, लाइफ एण्ड डेथ ऑफ मिस्टर बैडमैन आदि ।

४. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (प्रथम संस्करण) : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ६४-६५ ।

उठाया है । भारतेन्दु ने उपन्यास के क्षेत्र में स्वयं मौलिक उपन्यास लिखकर अपने समकालीन अन्य उपन्यासकारों को प्रोत्साहित किया तथा उपन्यास-विकास के अनुकूल वातावरण तैयार किया, उन्होंने किशोरीलाल गोस्वामी,[१] देवीप्रसाद शर्मा,[२] राधाचरण गोस्वामी,[३] कार्तिकप्रसाद खत्री,[४] गोपालराम गहमरी,[५] गोकुलनाथ,[६] और राधाकृष्णदास[७] आदि को उत्साहित करके जो पथ-प्रदर्शन किया उससे हिन्दी उपन्यास-भण्डार वैविध्य की ओर तीव्रता से अग्रसर होने लगा ।

इस काल के उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है । बल्लभ सम्प्रदायवादी होने के कारण 'त्रिवेणी' में तत्कालीन प्रगतिशील सामाजिक संस्था आर्यसमाज के विरुद्ध सनातन धर्म का मण्डन किया गया है । उन्होंने हिन्दू और हिन्दी की अंग्रेज और अंग्रेजी तथा मुसलमान और उर्दू से रक्षा का सन्देश भी दिया है । उन्होंने जहाँ कहीं सामाजिक दोष और कुरीतियों का चित्रण करने का प्रयास किया है,[८] वहाँ वह कमजोर ही रह गये हैं, शक्तिशाली रूप प्रस्तुत नहीं कर सके हैं । भारतीय इतिहास की अपेक्षा उनके सामाजिक उपन्यास कल्पना-प्रसूत घटनाओं को लेकर ही चलते हैं । दो वीर बालाओं के चरित्रों द्वारा पतिव्रत धर्म और हिन्दू धर्म की रक्षा का आदर्श रखा गया ।[९] उन्होंने पात्र तो सर्वथा कल्पित ही स्वीकार किये, हाँ, वातावरण में ऐतिहासिकता को प्रश्रय प्रदान किया । इनमें कल्पना और ऐतिहासिक वातावरण के अपूर्व मिश्रण से ऐतिहासिक रोमांस का सा आनन्द आ जाता है । गोपालराम गहमरी के उपन्यास शुद्ध सामाजिक हैं जिनमें अंग्रेजों के शासन से प्रभावित भारतीय समाज की परिवर्तित होती हुई दशा का सुन्दर चित्रण है । जब दो सभ्यताएँ मिलती हैं तो शक्तिशाली (शासक) सभ्यता का

---

१. त्रिवेणी (१८८८), स्वर्गीयकुसुम (१८८९), हृदयहारिणी (१८९०), लवंगलता (१८९०) ।
२. विधवा-विपत्ति (१८८८) ।
३. कल्पलता (?) ।
४. जया (१८९६) ।
५. नये बाबू (१८९४), नेमा (१८९४), चतुर चंचला (१८९३), सासपतोहू (१८९९) आदि ।
६. पुष्पवती (१८९४) ।
७. निस्सहाय हिन्दू (१८९०) ।
८. 'स्वर्गीय कुसुम' में देवदासी प्रथा का विरोध किया गया है ।
९. 'लवगलता' और 'कुसुम कुमारी' में ।

कमजोर (शासित) सभ्यता पर प्रभाव पड़ता है। भारतीय समाज पर अंग्रेजी सभ्यता और जीवन-चर्या का जो व्यापक प्रभाव पड़ रहा था, उसका मनोहारी चित्र गहमरीजी ने पहिली बार हिन्दी उपन्यासों के माध्यम से व्यक्त किया। किशोरीदास गोस्वामी ने तो केवल ऐतिहासिक रोमांस दिये थे, किन्तु बालमुकुन्द वर्मा ने अपने उपन्यासों द्वारा शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास देना प्रारम्भ किया। उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भारतीय महिलाओं की वीरता आदि विशेषताओं का ऐसा सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है कि स्कॉट की याद आ जाती है।[१] इनमें से कुछ में तो ऐतिहासिक पात्रों को आधार बनाकर कथा चलती है और जहाँ कहीं पात्र ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक हैं, वहाँ ऐतिहासिक वातावरण में इन्हें प्रस्तुत करके ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है। इन उपन्यासों में मुगलकालीन भारत के अन्तिम दिनों के दृश्य साकार किये गये हैं। ये चित्र अपने में पूर्ण और सन्देशयुक्त हैं। इतिहास की पीठ पर बैठकर उपन्यासकार सामाजिक समस्याओं की ओर देखता चलता है। यदि देखा जाय तो हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों का वास्तविक स्वरूप यहीं से स्पष्ट होने लगता है, जिसका पूर्ण विकास वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में हुआ है।

इस काल में एक धारा नीतिपरक उपन्यासों की भी चल निकली थी, जिसका सूत्रपात भारतेन्दु ने 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्र प्रभा' लिखकर कर दिया था। इस परम्परा में बालकृष्ण भट्ट,[२] रत्नचन्द प्लीडर,[३] किशोरीलाल गोस्वामी,[४] श्रीनिवासदास,[५] लज्जाराम मेहता,[६] गोपालराम गहमरी,[७] और कार्तिक प्रसाद खत्री[८] आदि का योगदान स्मरणीय है। इन उपन्यासों में न केवल उपदेश देने की प्रवृत्ति रही वरन् सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण भी अक्षुण्ण बना रहा। इस काल के उपन्यासों की तुलना बनियन के उपन्यासों से की जा सकती है। ये उपन्यासकार उस काल की सभी प्रचलित और प्रभावशाली प्रणालियों को अपने उपन्यासों में स्थान देते दिखाई पड़ते हैं। इतिहास, रोमांस, नीति, उपदेश और यहाँ तक कि तिलिस्म, ऐयार और लखलखा तक

---

१. 'कामिनी' आदि उपन्यासों में।
२. नवीन ब्रह्मचारी (१८२६), सौ अजान और एक सुजान (१८९२)।
३. नूतन चरित्र (१८८३)।
४. सुख शर्वरी (१८९१)।
५. परीक्षा गुरु (१८८२)।
६. स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी (१८९९), धूर्त रसिकलाल (१८९९)।
७. बड़ा भाई (१८९८)।
८. दीनानाथ (?)।

का समावेश है ।[1] यही कारण था कि अपने समय में ये उपन्यास खूब प्रचलित हुए । भाषा की दृष्टि से ये प्रयत्न स्तुत्य हैं । संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की ओर रुचि विशेष दिखाई देती है तथा जहाँ कहीं अवसर मिला है, लेखकों ने अपनी टिप्पणियाँ तथा उपदेशों की भरमार करने में कसर नहीं रखी है । कहीं-कहीं तो पढ़ते-पढ़ते चित्त ऊबने लगता है । संस्कृत के नीति ग्रन्थों का अविकल अनुवाद जहाँ कहीं है, वहाँ औपन्यासिकता का पूर्ण ह्रास हो गया है । रोमांस के साथ-साथ प्रतिमानवीय घटनाएँ[2] तथा जादूगरी[3] आदि का भी सस्ता प्रयोग इस काल में अस्वाभाविक नहीं माना जाता था । उसका खूब खुलकर प्रयोग किया गया है । किन्तु इन उपन्यासों में नैतिकता और शिक्षा का प्राधान्य रहा और अन्य तत्त्व गौण ही बने रहे । आगे चलकर तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों में नीति और शिक्षा के स्थान पर ऐयारी का प्राधान्य हो गया, यद्यपि नीति पृष्ठभूमि में वहाँ भी बनी रही ।

शुद्ध तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों का प्रारम्भ देवकीनन्दन खत्री ने किया । उन्होंने सुप्रसिद्ध 'चन्द्रकाता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के अतिरिक्त अनेक अन्य उपन्यास भी लिखे[4] । इन उपन्यास में घटना-वैचित्र्य के आधार पर पाठकों का कुतूहल जाग्रत करने की अपूर्व क्षमता है । उर्दू के 'बोस्तान-ए-ख्याल' और 'दास्तान-ए-अमीर हमजा' में जो वासना है वह इन उपन्यासों में कहीं भी नहीं है । इन उपन्यासों का आधार-सूत्र प्रेम ही है, किन्तु घटना-बाहुल्य उसे इतना आच्छादित कर लेता है कि पाठक सदैव जागरूक रहकर उसी पर दृष्टि गड़ाये नहीं रह सकता । घटनाएँ यद्यपि चरित्रों की विशेषताओं पर प्रकाश डालती हैं किन्तु चरित्रों का विकास दिखाना इन्हें अभीष्ट नहीं है । हृदय की ऊहापोह का चित्र नहीं है किन्तु सारा घटना-चक्र घूमता राजकुमार और राजकुमारी के ही चारों ओर है, जिनके वियोग की आहें कभी-कभी (चाहे तिलिस्म के गुप्त द्वारों की दराजों से ही सही) सुनाई पड़ जाती हैं । उनकी उत्कण्ठा और विरहजन्य पीड़ा ऐयारों को और त्वरा तथा कुशलता के साथ कार्य करने को प्रोत्साहित करती है । इस प्रकार सारा

---

१. 'स्वर्गीय कुसुम' और 'लवंगलता' ।

२. काशीनाथ शर्मा : 'चतुरसखी'; विजयानन्द त्रिपाठी : 'सच्चा सपना' ।

३. जैनेन्द्रकिशोर : 'कमलिनी' (१८९१ ई०); देवीसहाय शुक्ल : 'दृष्टान्त प्रदीपिनी' चार भाग (१८८९-१८९९) ।

४. नरेन्द्रमोहिनी (१८९३-९५), वीरेन्द्रवीर (१८९५), कुसुमकुमारी चार भाग (१८९९), नौलखाहार (१८९९), गुप्त गोदना (१९०२-६), काजर की कोठरी (१९०२), अनूठी बेगम (१९०५), भूतनाथ (१९०६) आदि ।

घटनाक्रम मूल में मानवीय अनुभूतियों से सम्पृक्त रहता है।[1] इन उपन्यासों ने हिन्दी भाषा के विकास और प्रसार में अभूतपूर्व योग दिया है। अनेक अन्य भाषा-भाषी लोगों ने केवल खत्रीजी के उपन्यास पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी और भारतवर्ष की सभी भाषाओं में इस प्रकार के उपन्यासों की माँग होने लगी। यद्यपि कुछ विद्वान (जैसे प्रेमचन्द) खत्रीजी को उर्दू के 'तिलिस्म होशरुबा' का आभारी बताते हैं किन्तु उनकी मौलिकता पर कोई आँच नहीं आती है। इनमें शुद्ध भारतीय वातावरण, चरित्र और परम्पराओं का पूर्ण निर्वाह किया गया है। पाठक की दृष्टि नायक और नायिका पर न रहकर ऐयार और उसके लखलखा और डाढ़ी-मूँछों से भरे हुए बटुए पर रहती है। देवकीनन्दन खत्री ने ऐयारों की ऐतिहासिकता और महत्व पर अपने विचार प्रकट करते हुए अपने उपन्यासों के समान विश्वास उत्पन्न कराने का सराहनीय प्रयत्न किया है।[2] जासूसी उपन्यासों की उपादेयता और उनके अध्ययन से

---

१. "देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य प्रधान है। उनमें मानवी चरित्र-चित्रण और भावों की विशद व्याख्या नहीं मिलती। तो भी इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि घटनाओं का इतना विशाल महल दो कोमल हृदयों के पारस्परिक प्रेम-बन्धन की सुदृढ़ नींव पर खड़ा हुआ है। बड़ी से बड़ी ऐयारी उनका बन्धन तोड़ने में समर्थ न हो सकी।" ('आधुनिक हिन्दी साहित्य' : डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ० ९८।)

२. "आज हिन्दी के बहुत से उपन्यास हुए हैं जिनमें कई तरह की बातें वो राजनीति भी लिखी गई है, राजदरबार के तरीके वो सामान भी जाहिर किए गए हैं। मगर राजदरबारों में ऐयार (चालाक) भी नौकर हुआ करते थे जो कि हरफन मौला याने सूरत बदलना, बहुत सी दवाओं का जानना, गाना, बजाना, दौड़ना, शस्त्र चलाना, जासूसों का काम देखना वगैरह बहुत सी बातें जाना करते थे। जब राजाओं में लड़ाई होती थी तो ये लोग अपनी चालाकी से बिना खून गिराए वो पलटनों की जान गँवाए लड़ाई खतम कर देते थे। इन लोगों की बड़ी कदर की जाती थी। इन्हीं एयारी पेशे में आजकल बहुरूपिए दिखलाई देते हैं। वे सब गुण तो इन लोगों में रहे नहीं, सिर्फ शक्ल बदलना रह गया, वह भी किसी काम का नहीं। इन ऐयारों का बयान हिन्दी किताबों में अभी तक मेरी नजरों से नहीं गुजरा। अगर हिन्दी पढ़ने वाले भी इस मजे को देखलें तो कई बातों का फायदा हो, सबसे ज्यादा तो यह है कि ऐसी किताबों का पढ़ने वाला जल्दी किसी के धोखे में न पड़ेगा। इन सब बातों का ख्याल करके मैंने यह 'चन्द्रकान्ता' नामक उपन्यास लिखा है।" ('हिन्दी उपन्यास' तृतीय संस्करण से उद्धृत, :९-७०।)

प्राप्त होने वाली व्यवहार-कुशलता की प्रशंसा भी उन्होंने की है। उनके इस प्रकार के दावों के चक्कर में बड़े-बड़े विद्वान तक आ गये और उनके समय में ही एक विवाद इन उपन्यासों की ऐतिहासिकता और यथार्थ से सम्बन्धित छिड़ गया था। अनेक पत्र लेखक को प्राप्त हुए थे, जिनमें स्थान, घटनाओं और पात्रों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया था। लेखक ने सत्य का रहस्योद्घाटन करते हुए इन्हें कल्पना का चमत्कार स्वीकार किया है।[1] इन उपन्यासों ने पाठकों की कौतूहल वृत्ति की चरम सीमा को विकसित करके अन्त तक (तिलिस्म के टूटने तक) उसे बनाये रखा। उपन्यास के मूल उद्देश्य मनोरंजन की स्वीकृति इन उपन्यासों में सर्वत्र मिलती है। इनके माध्यम से 'अनेकानेक वीर-कायर नायकों, नायिकाओं तथा उनकी सहचरियों की सृष्टि हुई, तथा तिलिस्म के सभी फन ईजाद किये गये, इससे हिन्दी-उपन्यासों का घटना-भण्डार तो बढ़ा ही, साथ ही प्रतीक्षा, आशंका आदि भावों को उत्पन्न करके कथानक के विस्तार में सहायता ली गई।'

तिलिस्मी उपन्यासों की कथा बहुत कुछ पूर्व निश्चित रहती है। "कोई प्रेमी राजकुमार किसी सर्वगुण सम्पन्न अनिन्द्य सुन्दरी राजकुमारी के प्रेम में विकल हो उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है। राजकुमार मध्यकालीन शौर्य, साहस और प्रेम की प्रतिमूर्ति होता है। राजकुमार को उसकी प्रेमिका से मिलाने का प्रयत्न उसके ऐयार या जासूस करते हैं। ऐयारी के बटुए और कमन्द को लिए ये ऐयार दुर्गम से दुर्गम स्थान पर पहुँच सकते और आश्चर्य चकित कर देने वाले करिश्मे दिखला सकते हैं। घोड़ों की तरह तेज दौड़ने और रूप बदलने में ये अपना सानी नहीं रखते। वयस्क ऐयार रंग-रोगन की

---

१. "कुछ दिनों की बात है कि मेरे कई मित्रों ने संवाद-पत्रों में इस विषय का आन्दोलन उठाया था कि इसका (चन्द्रकान्ता) कथानक संभव है या असंभव? मैं नहीं समझता कि यह बात क्यों उठाई और बढ़ाई गई। जिस प्रकार पंचतंत्र, हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिए लिखे गए उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिए, पर यह संभव है कि असंभव इस पर कोई यह समझेगा कि चन्द्रकान्ता और वीरेन्द्रसिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं तो बड़ी भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और उसका यह छोटा सा नमूना है।

× × ×

चन्द्रकान्ता में जो बातें लिखी गई हैं, वे इसलिए नहीं कि लोग उनकी सचाई झुठाई की परीक्षा करें प्रत्युत इसलिए कि पाठ कौतूहलवर्द्धक हो।"

('हिन्दी उपन्यास' के तृतीय संस्करण से उद्धृत, पृ० ७०-७१।)

सहायता से सुन्दरी बाला या किसी युवक का ऐसा स्वांग रच सकता है कि उसके बाप भी न पहचान पाएँ। जिसको चाहा जड़ी सुँघाकर बेहोश किया, कपड़े में बाँध गठरी बनाया, पीठ पर लादा और फिर आवश्यकतानुसार १०-५ कोस ले जाकर कैद कर दिया। बेहोशी दूर करने के लिए इनके पास 'लखलखा' नाम की दिव्यौषधि बराबर रहती है। राजकुमार या राजकुमारी से मिलन कराने के लिए ऐयार प्रयत्न तो करते हैं, पर प्रेमी राजकुमार का प्रतिस्पर्द्धी, सकल दूषण-दूषित एक दुष्ट पात्र नाना युक्तियों से इस कार्य में बाधा डालता रहता है, क्योंकि वह स्वयं उस राजकुमारी को प्राप्त करना चाहता है। प्रायः मध्ययुगों के ढंग पर वह (अपने ऐयारों की सहायता से) राजकुमारी को धोखे से या जड़ी सुँघाकर पकड़ मँगवाता है और तिलिस्म में कैद कर देता है। इन तिलिस्मों में अपार धन-राशि गड़ी रहती है। इनकी बनावट को देखकर आज का बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी विस्मय-विमूढ़ हो जायगा। उसके भीतर रासायनिक द्रव्यों का बना बगुला आदमी को निगल जाता है, पुतले तलवार चलाते हैं, पत्थर का बना आदमी किसी मनुष्य को सामने पाकर दोनों हाथों से बुरी तरह जकड़ लेता है, नकली शेर दहाड़ते हैं। किवाड़ इस तिलिस्म के जादू के बने, ताले ऐन्द्रजालिक और कोठरियाँ रहस्यागार होती हैं। एक परदा हटा कि नीचे नौ सीढ़ियाँ दिखलाई पड़ीं। नीचे उतरिए तो दाँये, बाँये, आगे या पीछे एक दरवाजा मिला, फिर सीढ़ियाँ, कुएँ, दरवाजे, कमरे, आँगन और बगीचे……हाँ, तिलिस्मों में प्रायः मीठे पानी का सोता और मेवे के दरख्त जरूर होंगे, वैसे होने को पहाड़, जंगल—क्या नहीं हो सकते! लेकिन तिलिस्म को तोड़ना जिसके लिए लिखा होगा वही उसे तोड़ सकता है और वहाँ की धनराशि को स्वायत्त कर सकता है। तिलिस्म तोड़ने का ढंग एक किताब में पहिले ही से लिखा, कहीं रखा होगा। फिर वह किताब आखिरकार उसी व्यक्ति के हाथ पड़ेगी जिसके नाम कि तिलिस्म का टूटना लिखा होगा। फिर तिलिस्म टूटता है, प्रतिपक्षी दुष्ट पात्र 'जैसी करनी वैसी भरनी' के अनुसार दण्डित होते हैं और राजकुमार राजकुमारी का विवाह सम्पन्न होता है।"[1]

ऐयारी-तिलिस्मी-उपन्यासों में पात्रों की विशेषताओं को उभारने और उन्हें विभिन्न परिस्थितियों में प्रस्तुत करके उनके चरित्र की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक छानबीन करने की प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते। वहाँ तो सारा चमत्कार घटना-वैचित्र्य और जादूगरी का है। पात्रों के मूल में यद्यपि राजकुमार और राजकुमारी का प्रेम जोश भारता है, किन्तु वह भी घटनाओं और क्रियाओं में त्वरा लाने का प्रयत्न ही प्रतीत होता है। इन पात्रों में मानवीय तत्त्वों की खोज की

---

१. 'अलोचना' : अंक १३, पृ० ७०।

जा सकती है, किन्तु वे सर्वत्र मानव नहीं हैं—वे तो ऐयारी और तिलिस्मी दाँव-पेंचों के ज्ञाता बनकर ही हमारे सामने आते हैं, जो अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक करतब दिखाकर—एक नट के समान हमारी जिज्ञासा वृत्ति को ही दोष दे पाते हैं। उनका क्षेत्र बुद्धि है, हृदय नहीं। जहाँ कहीं हृदय-पक्ष के दर्शन होते भी हैं तो वह घटना-बाहुल्य से दब सा जाता है। घटनाओं की बाढ़ में कभी-कभी भावुकता की मछली धारा के विरोध में उछलती हुई दृष्टिगोचर हो सकती है, किन्तु तुरन्त ही फिर सदैव के लिए लुप्त हो जाती है। यथार्थ जीवन की समस्याएँ इन उपन्यासों का उद्देश्य ही नहीं है और न उनसे इसकी अपेक्षा ही होनी चाहिए। इस युग में जबकि लोग हिन्दी का नाम न जानते थे और अंग्रेजी की अपेक्षा उसे पढ़ना न केवल हानिकारक वरन् सम्मान-विरोधी समझने लग गये थे, उस काल में 'चन्द्रकन्ता', 'चन्द्रकान्ता सन्तति' और 'भूतनाथ' ने हिन्दी की वह सेवा की जो आज सारा हिन्दी कथा-साहित्य भी नहीं कर पा रहा है।

यदि इन उपन्यासों को औपन्यासिक-तत्त्वों की कसौटी पर कसा जाय तो कहा जा सकता है कि इनमें कथानक की शिथिलता प्रायः नहीं है। सारे कथानक कल्पना-प्रसूत और अयथार्थ वातावरण की सृष्टि करते हैं। इन्हें ऐतिहासिक रूप देने की चेष्टा की गई है किन्तु अतिरंजना के कारण 'यथार्थ का या इतिहास का वातावरण' निर्माण करने में वे नितान्त असमर्थ सिद्ध हुए हैं। घटनाएँ तेजी से घटती हैं किन्तु उनसे पात्रों के चरित्र पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। थैंकरे के समान उपन्यासकार चरित्रों की सृष्टि करके उन्हें स्वतन्त्र नहीं छोड़ देना वरन् उन्हें अपने हाथ की कठपुतली बनाकर रखता है। जब जैसी और जहाँ आवश्यकता समझता है उन्हें उपस्थित करने में जरा भी नहीं झिझकता। उसकी दृष्टि घटनाओं द्वारा औत्सुक्य उत्पन्न करने की रहती है, चरित्रों के स्वाभाविक विकास पर नहीं। इन उपन्यासों में कथोपकथनों का या तो प्रयोग हुआ ही नहीं है और यदि हुआ भी है तो बहुत ही कम। केवल वर्णानात्मक (ऐतिहासिक) प्रणाली से लेखक वर्णन करता चलता है और कथा-सूत्र आगे बढ़ता जाता है। पात्र कभी-कभी एकाध वाक्य का प्रयोग कर लेते हैं अन्यथा गूँगे ही बने रहते हैं। इन उपन्यासों में हाथों और पैरों की उपादेयता जिह्वा की अपेक्षा अधिक स्वीकार की गई है। उपन्यास-लेखक पात्रों का वार्ता-प्रतिनिधि बनकर सामने आता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन उपन्यासों में भावुकता और सरसता के लिए पर्याप्त स्थान नहीं है। जो थोड़े-बहुत कथोपकथन मिलते हैं वे भी अवास्तविक और निर्जीव हैं। नाट-कीयता के प्रभाव से पूर्ण होने के कारण उनकी स्वाभाविकता नष्ट-प्रायः हो

गई है। कथोपकथन का उद्देश्य वस्तु को अग्रसर करना तथा चरित्रों की विशेषताओं पर प्रकाश डालना होता है। ये कथोपकथन केवल घटनाओं को ही प्रभावित करते हैं, चरित्रों को नहीं। वर्तमान काल के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की भाँति लेखक उनके (पात्रों के) चरित्र की विशेषताओं का विश्लेषण नहीं करता और उन पर न अपनी टिप्पणी ही देता है। उसका विषय इलाचन्द जोशी के समान नायक या नायिका का मानासिक अध्ययन नहीं है। मार्क्स-वादियों के समान वह सामाजिकता के पहलू पर जोर भी नहीं देता और न प्राकृतवादियों के समान जीवन की हीनताओं और निर्वलताओं का पर्दाफाश करना ही उसने अपना उद्देश्य निर्धारित किया है। वह तो पाठक की जिज्ञासा को उद्‌बुद्ध करके चरम सीमा तक ले जाता है और धीरे-धीरे गुत्थियों को सुलझाता हुआ अन्त तक उसे (जिज्ञासा को) साधे रखता है।

इन उपन्यासों की भाषा संस्कृत-निष्ठ हिन्दी न होकर दैनिक प्रयोग में आने वाली साधारण उर्दू के शब्दों को अस्वीकार न करने वाली हिन्दी है। साधारण जीवन में प्रयुक्त होने वाली भाषा के सुन्दर रूप इन उपन्यासों की विशेषताओं में से एक हैं। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' की भाषा का सहजरूप इनता आकर्षक था कि उसे अनेक अहिन्दी भाषा-भाषियों ने इन्हीं उपन्यासों की खतिर सीखा और थोड़ा सीखने पर इन उपन्यासों को पढ़ने और समझने में उन्हें कोई कटिनाई नहीं हुई। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने जिस आमफहम भाषा की गम्भीर घोषणा करते हुए जिस उर्दू-प्रधान भाषा का प्रचार किया था, उसे दृष्टि में रखते हुए तो हम कह सकते हैं कि जन-साधारण की भाषा का राजासाहब से अधिक और व्यापक ज्ञान खत्रीजी को था और उनका प्रयोग भी सितारेहिन्द की अपेक्षा अधिक सफल रहा। सितारे-हिन्द की भाषा आज केवल ऐतिहासिक महत्त्व या 'नुमायश की चीज' रह गई है, जबकि उत्तरी भारत की अधिकांश जनता देवकीनन्दन खत्री की भाषा को ही बोलती है। खत्रीजी की हिन्दी में चाहे गम्भीर भाव-व्यंजक शक्ति की न्यूनता खोज ली जाय किन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द की टकसाली हिन्दुस्तानी इसी भाषा का परिमार्जित स्वरूप है, जिसमें अभि-व्यक्ति की सफलता को ही कसौटी माना जाता है। तद्भव शब्दों का बाहुल्य तो है, किन्तु तत्सम शब्दों का जानबूझकर बहिष्कार नहीं किया गया है। जहाँ कहीं आवश्यक हुआ है, चलते हुए उर्दू के शब्द स्वीकार करने में भी लेखकों ने झिझक नहीं दिखाई है।

जासूसी उपन्यासों के प्रचार और प्रसार के फलस्वरूप गोपालराम गहमरी ने 'जासूस' नामक पत्र निकालना प्रारम्भ कर दिया था, जो ३० साल तक निकलता रहा। इसमें अनेक जासूसी उपन्यास प्रकाशित हुए।

जासूसी उपन्यास-परम्परा अंग्रेजी के 'शरलाक होम्स', 'ब्लैक' आदि की परम्पराओं पर आधारित है। गहमरीजी ने १८९८ में नगेन्द्रनाथ गुप्त के 'हीरार मूल्य शेखर धूली' का बंगला से हिन्दी में अनुवाद किया, जिसके प्रकाशित होते ही हिन्दी-पाठक इस तेज मसालेदार चटनी को ही खाद्य पदार्थ समझने लग गया और इस माल की माँग दिन-रात बढ़ने लगी। यही कारण थे जिन्होंने गहमरीजी से प्रोत्साहित किया। जासूसी उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य का आकर्षण ही सर्वप्रमुख होता है। इन घटनाओं के प्रति पाठकों का जितना अधिक विश्वास लेखक प्राप्त कर सकेगा उतना ही सफल उपन्यासकार वह माना जायेगा। चोरी, हत्या आदि घटनाओं का पता चलाने के लिए जासूस की अपेक्षा होती है। वह इन घटनाओं से सम्बन्धित व्यक्तियों, स्थानों और पदार्थों का इतना सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन करता है कि सारा रहस्य और गोपनीयता उसके लिए हस्तामलकवत् हो जाती है। सबसे पहिला काम जासूस का अपराधी का पता चलाना होता है। इस कार्य में वह सभी प्रकार के प्रयोग और क्रियाएँ करता है और अन्त में अपराधी का पता चला ही लेता है। जासूसी उपन्यास की रचना-शिल्प पर प्रकाश डालते हुए स्वयं गहमरीजी ने लिखा है, "......पहले जानने योग बात, घटना की जवनिका में छिपा रखना, और इधर-उधर की जो बेसिलसिले और बेजोड़ न हों पहले कहना और घटना पर घटना का तूमार बाँधकर असल भेद जानने के लिए पाठकों के हृदय में कुतूहल बढ़ाना और रहस्य पर रहस्य साजकर ऐसा उपन्यास गढ़ना कि पूरा पढ़े बिना स्वाद न मिले........। जिसका उपन्यास पढ़कर पाठक ने समझ लिया कि सब सोलहों आने सच है उसी की लेखनी सफल-परिश्रम हुई समझना चाहिए।" गहमरीजी की भाषा में स्वाभाविकता और आवश्यकतानुसार वक्रतादि गुण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

इस काल में उपन्यासों की तीसरी श्रेणी जो विकसित हो रही थी 'भाव प्रधान' कही जा सकती है। इस श्रेणी का भारतेन्दु के अधूरे उपन्यास 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' से सूत्रपात माना जा सकता है। इस प्रकार के उपन्यासों में जीवन की यथार्थ और महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर प्रकाश डाला गया। इस प्रकार के उपन्यासों में प्रेम की व्यापकता और जीवनव्यापी प्रेम-प्रभाव उभर कर सामने आया। यथार्थ की दृष्टि ने कल्पना की रंगीनियों से परे जाकर जीवन की सामयिक समस्याओं का चित्रण ऐतिहासिक और आत्मचरित प्रणालियों द्वारा किया। हृदय की अनेक भावभूमियों और बौद्धिकता की प्रारम्भिक स्थितियों के दर्शन हमें इन उपन्यासों में होते हैं।[१] आगे चलकर

१. लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' के 'निवेदन' में इस उपन्यास को 'अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की एक संसारी वार्ता' कहा है।

जिस वातावरण-प्रधान और गम्भीर समस्या-प्रधान जिस उपन्यास परम्परा की पुष्ट धारा प्रवाहित हुई, उसका सूत्रपात हम भारतेन्दु से मान सकते हैं। इसमें व्यंग्य शैली तथा सोद्देश्यता आदि सभी विकासशील प्रवृत्तियों के प्रारम्भिक दर्शन होते हैं। इसका विकसित रूप ही लाल श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' माना जा सकता है। 'परीक्षा गुरु' (१८८२ ई०) के प्रकाशन को हिन्दी उपन्यास के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना माना जाता है, क्योंकि इसमें सबसे पहिले अंग्रेजी के 'नॉविल' के समान हिन्दी का प्रयोग बताया गया। पुस्तक की नवीनता की घोषणा करते हुए उपन्यास-लेखक महोदय ने कहा कि 'अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी'। अंग्रेजी के 'यथार्थोन्मुख आदर्शवादी' (जिसमें बनियन से लेकर फीलिंडग आदि तक के उपन्यासकार आते हैं) उपन्यासकारों का प्रभाव 'परीक्षा गुरु' पर खोजा जा सकता है, जिसका आधार इनके उद्देश्यों की समानता मान सकते हैं।[1] 'इस नई चाल की पुस्तक में नई रोशनी के एक व्यापारी का अपने खुशामदी और स्वार्थी मित्रों के फेर में पड़कर दिवालिया बनना और एक सच्चे हितैषी मित्र की सहायता से ऋण-मुक्त होकर सुधर जाना दिखलाया गया है।' अंग्रेजी के जौन बनियन अधिक यथार्थवादी और मनोविज्ञानवेत्ता थे कि उन्होंने बुरे पात्रों का यकायक हृदय-परिवर्तन नहीं दिखाया है, वरन् बुरे को अन्त काल तक बुरा ही दिखाया है। मि० बैडमैन (Mr. Badman) अन्त तक बुरे कर्म

---

१. "प्रथम खेल

जमीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या ?
बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे ॥

हम कौन हैं और किस कुल में उत्पन्न हुए हैं आप लोग पीछे जानेंगे। आप लोगों को क्या किसी का रोना हो, पढ़े चलिए, जी बहलाने से काम है। अभी मैं इतना ही कहता हूँ कि मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ वह जैन और वैदिक दोंनो में बड़ा ही पवित्र दिन है। संवत् १९३० में जब मैं तेईस वर्ष का था, एक दिन खिड़की पर बैठा था, बसंत ऋतु, हवा ठंडी चलती थी। साँझ फूली हुई, आकाश में एक ओर चन्द्रमा दूसरी ओर सूर्य, पर दोनों लाल-लाल, अजब समाँ बँधा हुआ, कसेरू, गंडेरी और फूल बेचने वाले सड़क पर पुकार रहे थे। मैं भी जवानी की उमंगों में चूर, जमाने के ऊँच-नीच से बेखबर, अपनी रसिकाई के नशे में मस्त, दुनिया के मुस्तखोरे सिफारिसियों से घिरा हुआ अपनी तारीफ सुन रहा था, पर इस छोटी अवस्था में भी प्रेम को भली-भाँति पहचानता था।"

('एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' : भारतेन्दु)

करते हैं और उसी में उनका अन्त हो जाता है। 'परीक्षा गुरु' पर अंग्रेजी के बेकन, गोल्डस्मिथ, कूपर आदि लेखकों और 'स्पेक्टेटर' आदि पत्रों के लेखों का प्रभाव स्पष्ट है। बंगला का प्रभाव उन पर नहीं प्रतीत होता। हिन्दी साहित्य में अंग्रेजी की अधिकांश विशेषताएँ बंगला के माध्यम से आईं किन्तु लालाजी ने उसे सीधा अंग्रेजी से ही स्वीकार किया है।[1] लेखक युग की तथा उपन्यास की माँग—कथात्मकता और मनोरंजकता से अभिज्ञ नहीं था, इसीलिए उसने जहाँ कहीं लम्बे-लम्बे उपदेशात्मक स्थल लिखे हैं वहाँ चिह्न लगा दिये हैं और लिख दिया है कि यदि कोई व्यक्ति शुद्ध कथा का ही आनन्द लेना चाहता है (उस युग में अधिकांश पाठक ऐसे ही थे), तो इन स्थलों को मजे में छोड़ सकता है।

'परीक्षा गुरु' को हिन्दी उपन्यास कला का प्रारम्भ स्थल कहा जा सकता है। उसमें सामाजिक उपन्यास के सभी आवश्यक गुण मिलते हैं। तत्कालीन समाज की यथार्थ स्थिति और धीरे-धीरे विकसित होते हुए मध्यवर्गीय वर्ग की स्वीकृति इस उपन्यास की ऐसी विशेषताएँ हैं, जिन्हें हिन्दी उपन्यास ने सबसे पहिले 'परीक्षा गुरु' द्वारा ही अभिव्यक्त किया जाना स्वीकार किया। वैयक्तिक गुणों से युक्त पात्रों का निर्माण हुआ, चाहे उस पात्र में समाजगत (टाइप) विशेषताएँ भी रही हों। इससे पूर्व महाकाव्यों के विषय ऐतिहासिक या शासक पुरुष ही होते थे, किन्तु 'परीक्षा गुरु' में साधारण मध्यवर्गीय व्यापारी का सुन्दर चित्र दिया गया, उसकी साधारण विशेषताओं को उभारा गया।[2] नये विकसित होते हुए 'बाबू समाज' (जो अंग्रेजी सभ्यता का परिणाम था) की भीरुता, अर्थलोलुपता, मिथ्या सम्मान-भावना, कमर्ण्यता, अंग्रेज-भक्ति, बुद्धि के पीछे हृदय की अनुकरणशीलता आदि का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया, यद्यपि ये चित्र व्यापक 'कैनवास' और उलझे व्यक्तित्वों का माध्यम तो न पा सके, हाँ, ब्रजकिशोर आदि का माध्यम उसे अवश्य प्राप्त हो गया, जो

---

१. 'परीक्षा गुरु' का 'निवेदन'।
२. "मदन मोहन का पिता पुरानी चाल का आदमी था। वह अपना बूता देखकर काम करता था और जो करता था वह कहता नहीं फिरता था। उसने केवल हिन्दी पढ़ी थी, वह बहुत सीधा-सादा मनुष्य था परन्तु व्यापार में बड़ा निपुण था······वह लोगों की देखा-देखी नहीं, अपनी बुद्धि से व्यापार करता था·······इस समय जिस तरह बहुधा मनुष्य तरह-तरह की बनावट और अन्याय से औरों की जमा मार कर साहूकार बन बैठते हैं, सोने चाँदी की जगमगाहट के नीचे अपने घोर पापों को छिपाकर

(शेष आगे पृष्ठ पर)

स्वामिभक्ति और जागरूकता का सुन्दर सम्मिश्रण है। ब्रजकिशोर का चरित्र एक आर्यसमाजी प्रचारक के समान है जो सदैव देश और समाज की बुराइयों का पर्दाफाश प्लेटफार्म पर कर देना अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेता है।[1] यह संयोग की बात है कि एक मदनमोहन का उस शिक्षा से उद्धार हो गया, किन्तु अनेक 'मदनमोहन' आज भी उसी मार्ग पर बढ़े जा रहे हैं। गोर्की ने लिखा है कि साहित्य और कला के क्षेत्र में उपदेश नीति को जितना गुह्य रूप दिया जायगा, कला उतनी ही श्रेष्ठ और अधिक प्रभावोत्पादिनी होगी। इसके अनुसार तो 'परीक्षा गुरु' नीतियों का एक संग्रह सा ही प्रतीत होता है। कथानक की दृष्टि से भी उसमें अनेक दोष हैं। उपन्यासकार को दृष्टि कहानी कहने की न होकर शिक्षा देने की होने का परिणा यह हुआ है कि पाठक उसे या तो बीच में छोड़ देता है या लम्बे-लम्बे नीतिपरक स्थलों को बचाता आ कथा-सूत्र पकड़कर आगे बढ़ता है। इन दोषों के अतिरिक्त जीवन की यथार्थता और खरेपन का जो जादू इसमें हैं वह नीति की खटाई में मिठाई का संयोग कहा जा सकता है, जिससे सुन्दर चटनी का मजा आ जाता है। इस उपन्यास की भाषा संयत और व्यावहारिक है, जिसमें दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली शब्दावली का सुन्दर साहित्यिक प्रयोग (भाषा-विकास का सुन्दर कार्य) इस उपन्यास की ऐतिहासिक विशेषताओं में से एक है। भारतेन्दु युग की सभी प्रमुखताएँ इस उपन्यास में केन्द्रित की गई हैं, लाला श्रीनिवासदास

सज्जन बनने का दावा करते हैं······ऐसा उसने नहीं किया था······वह आप कभी बढ़कर न चला। वह कुछ तकलीफ सै नहीं रहता था, परन्तु लोगों को झूठी भड़क दिखाने के लिए फिजूलखर्ची भी नहीं करता था। वह अपने धर्म पर दृढ़ था, ईश्वर में बड़ी भक्ति रखता था·······वह अपने कामधंधे में लगा रहता था इसलिए हाकिमों और रहीसों सै मिलने का उसे समय नहीं मिल सकता था·······बहुधा उनसै मिलने की कुछ आवश्यकता भी न थी क्योंकि देशोन्नति का भार पुरानी रूढ़ी के अनुसार केवल राजपुरुषों पर समझा जाता था।" ('परीक्षा गुरु')

१. "जब तक हिन्दुस्तान मैं और देशों सै बढ़कर मनुष्य के लिए वस्त्र और सब तरह के सुख की सामग्री तैयार होती थी, रक्षा के उपाय ठीक-ठीक बन रहे थे, हिन्दुस्तान का वैभव प्रतिदिन बढ़ता जाता था परन्तु जब सै हिन्दुस्तान का एका टूटा और देशों में उन्नति हुई, बाफ और बिजली आदि कलों के द्वारा हिन्दुस्तान की अपेक्षा थोड़े खर्च, थोड़ी मेहनत और थोड़े समय में सब काम होने लगा। हिन्दुस्तान की घटती के दिन आ गए······।" ('परीक्षा गुरु')

का प्रभाव तत्कालीन सभी लेखकों पर पड़ा और शिक्षाप्रद नैतिक उपन्यासों की एक परम्परा चल निकली, जिसकी कुछ अंकनयोग्य कड़ियाँ बालकृष्ण भट्ट : नूतन ब्रह्मचारी (१८८६), सौ अजान एक सुजान (१८९२), रत्नचन्द प्लीडर : नूतन चरित्र (१८८३), किशोरीलाल गोस्वामी : सुख-शर्वरी (१८९१), मेहता लज्जाराम शर्मा : स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी (१८९९), और 'धूर्त रसिक लाल' (१८९९), गोपालराम गहमरी : 'बड़ा भाई' (१८९८) व 'सास-पतोहू' (१८९८) और कार्तिक प्रसाद खत्री का 'दीनानाथ' आदि हैं। उपन्यासों में राजनीति को यहीं से प्रश्रय मिलता है। धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों पर विचार हुआ और राजनीति के रंग से रंगकर उन्हें उपन्यासों का विषय बनाया गया। राधाकृष्णदास का 'निस्सहाय-हिन्दू' (१८९०) गोवध की समस्या को लेकर चलने वाला उपन्यास उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (१८९९) निर्विवाद रूप से शिल्प और विषय दोनों दृष्टियों से सुन्दर उपन्यास है।

इस परम्परा में ही 'प्रेम विज्ञान' प्रधान उपन्यासकार पं० किशोरी लाल गोस्वामी आते हैं, जिन्होंने दो प्रकार के उपन्यास लिखे। प्रेम और सामाजिक सुधारों से युक्त तथा ऐतिहासिक। उनके प्रथम कोटि के उपन्यासों में बँगला का प्रभाव स्पष्ट है। सभी प्रचलित परम्पराओं को अपने उपन्यासों में स्थान देकर गोस्वामीजी ने पहिलेपहल प्रेम का सुन्दर वैविध्य-पूर्ण वर्णन किया, जिसमें प्रेम की सभी भाव-भूमियों और स्थितियों को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया। इनके प्रेरणास्रोत 'प्रणयिनी·परिणय' के उपोद्घात के अनुसार 'संस्कृत गद्यकाव्य कादम्बरी, वासवदत्ता, दशकुमार चरित आदि' थे। भारतेन्दु के समान इन्होंने भी प्रेम को प्रधान मानकर उपन्यास को 'प्रेम का विज्ञान' कहा है।[1]

इनके उपन्यास ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये उनमें चरित्र-चित्रण भी अधिक

---

१. "प्रेय और प्रेमतत्त्व को सभी चाहते हैं, पर इसका उपाय बहुत कम लोग जानते होंगे। प्रेमिक प्रेम पाने के लिए व्याकुल तो होते हैं; सभी अपने लिए दूसरे को पागल करना चाहते हैं, पर अभी तक इसका उपाय लोगों ने नहीं जाना है। इसका अभाव केवल उपन्यास ही दूर करता है, इसीलिए प्राचीनतम कवियों ने और साम्प्रतिक यूरोपीय कवियों ने उपन्यास की सृष्टि की। जो बात झूठ-सच से नहीं होती, तन्त्र, मंत्र, यंत्र से नहीं बनती, वह प्रेम के विज्ञान 'उपन्यास' से सिद्ध होती है।...... इसके पढ़ने से मनुष्य के हृदय के ऊपर बड़ा असर होता है, और सब बात बनती है ......।" ('निदर्शन' : 'सुख शर्वरी' उपन्यास;

स्वाभाविक और यथार्थवादी होता गया। जहाँ जादू और तिलिस्म का उपयोग किया गया है, वहाँ दूसरी ओर यथार्थ जीवन की नग्न समस्याओं को भी खूब उभारा गया है। मूल कथा और सहायक कथाएँ कहीं-कहीं जुड़ी हुई और कहीं-कहीं उखड़ी हुई सी लगती हैं। भारतीय नाट्य परम्परा के आदर्शों को इन्होंने हिन्दी उपन्यास की कसौटी स्वीकार किया और उपन्यासों में लगभग वही परम्पराएँ स्थापित कीं। भारतीय नाट्य परम्परा के मूल में 'रस' का अस्तित्व स्वीकार करने के कारण अधिकांश सुखान्तकियाँ (Comedies) लिखी गईं (संस्कृत में भवभूति ने परम्परा का अतिक्रमण अवश्य किया था)। गोस्वामी जी के समक्ष वही आदर्श था, अतः उन्होंने भी अपने अधिकांश उपन्यास सुखान्त ही रखे। वे मानते थे कि जीवन में अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा फल मिलता है—और यदि नहीं मिलता है तो मिलना अवश्य चाहिए; अतः कम से कम साहित्य में तो सभी कलाकारों को ऐसा वर्णन करना ही चाहिए जिससे अच्छाई को प्रश्रय मिले और बुराई को निरादर। उसके लिए उन्होंने पात्रों में ही विशेषताओं की खोज करके उपन्यास को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदान कर दी हो—ऐसा न हो सका। वे घटनाओं के द्वारा पात्रों को विशेषताओं का फल देते रहे। घटनाएँ अधिकांश उपन्यासों में प्रथम स्थान स्वीकार करती रहीं और चरित्र-चित्रण द्वितीय। इनके उपन्यासों में कहीं-कहीं अस्वाभाविक घटनाएँ और अमनोवैज्ञानिक चरित्र-सुधार आदि की विशेषताएँ भी मिलती हैं। उपन्यासों के नाम नायक या नायिकाओं के नामों पर रखे गये हैं। वे घटनाओं का विश्लेषण करते-करते पाठकों को उनसे शिक्षा ग्रहण कराने का आग्रह भी करते चलते हैं—कहीं-कहीं तो बड़े-बड़े उपदेश बीच में देने लगते हैं।[१] सबको सबका यथोचित दिलाने के प्रयत्न में इनकी कथा काफी विस्तृत

---

१. "कुसुम मर गई, पागल वसन्त (उसका प्रेमी) भी मर गया और उन दोनों के मरने पर गुलाब (वसन्त की पत्नी) ने भी अपनी जान देकर अपने पाप अर्थात् सपत्नी-वध और पति-हत्या का प्रायश्चित कर डाला।··· (पर)·······हा! खेद!! भला हम आपसे यह पूछते हैं कि कुसुम का क्या वसंत ने धर्म, कर्म, समाज, लोक, परलोक, देश-विदेश, या किसी वियोगान्त प्रेमी का क्या बिगाड़ा है कि ये दोनों यों संसार से निकाल बाहर किए जायँ, और जिन अर्थ-पिशाच नर-राक्षसों से धर्म-कर्म, संसार-समाज, देश-विदेश और व्यक्ति विशेष का सत्यानाश हो रहा है, वे दुराचारी लोग मूँछों पर ताव फेरते हुए मार्कण्डेय बनकर दीर्घजीवी हों? हा धिक!"('स्वर्गीय कुसुम या कुसुम कुमारी', पचासवाँ परिच्छेद)

हो जाती है और अन्त में उसे जैसे-तैसे करके समेटा जाता है जिसमें सदैव स्वाभाविकता नहीं रह पाती। ये भावुक और जीवन को नजदीक से देखने वाले मार्मिक कलाकार थे, अतः अतिरंजनाओं के बावजूद भी कहीं-कहीं बड़े ही सुन्दर, व्यवस्थित और भावपूर्ण शब्द-चित्र मिल जाते हैं, जो तत्कालीन समाज की वास्तविक स्थिति और जन-मन-मानस की कुछ स्थितियों को प्रस्तुत करने में सफल सिद्ध होते हैं।

गोस्वामीजी ने अनेक उपन्यास लिखे[1] जिनमें सभी वर्गों के उपन्यास सम्मिलित हैं। आचार्य शुक्ल ने इनके सामाजिक उपन्यासों में वासना की तीव्रता-युक्त स्थलों पर आपत्ति की है और शिक्षा की दृष्टि से उन स्थलों को विद्यार्थियों और युवकों के लिए हानिकारक बताया है।[2] इनके उपन्यास में उद्देश्यहीनता नहीं है। 'त्रिवेणी' में सनातन धर्म की महत्ता प्रतिपादित है। 'इस उपन्यास का नायक मनोहर दास वैश्य है। सोलह वर्ष की अवस्था में ही उसका विवाह प्रेमदास की तेरह वर्षीया कन्या त्रिवेणी से हो जाता है। दो वर्ष बाद यह अपनी जमींदारी का कार्यभार मुनीम के ऊपर छोड़कर परिवार सहित तीर्थ यात्रा के लिए निकल पड़ा। उन दिनों आजकल की सी रेल यात्रा की सुविधा न होने के कारण वह पैदल और नाव से यात्रा करता है। काशी जाते समय उसकी नाव टूट गई और सब साथी बह गये। किसी प्रकार बचकर वह गाजीपुर पहुँचता है, लेकिन बहुत प्रयत्न करने पर भी उसकी स्त्री का पता न लगा, इसका उसके मन पर इतना प्रभाव पड़ता है कि

---

१. त्रिवेणी (१८९०) स्वर्गीय कुसुम (१८८९) प्रणयिनी परिणय (१८९०) हृदय हारिणी (१८९०) लवंगलता (१८९०) कुसुम कुमारी (१९०१) लीलावती (१९०१) राजकुमारी (१९०२) तारा (१९०२) कनक कुसुम (१९०३) चपला (१९०३-४) चन्द्रावती (१९०५) हीराबाई (१९०५) चन्द्रिका (१९०५) कटे मूँड़ की दो-दो बातें (१९०५) मल्लिका देवी (१९०५) इन्दुमती (१९०६) तरुण-तपस्विनी (१९०६) याकूती तख्ती (१९०६) जिन्दे की लाश (१९०६) लखनऊ की कब (१९०६-७) पुनर्जन्म (१९०७) माधवी माधव (१९०९-१०) सोना और सुगन्धि (१९१०-१२) लालकुँवर (१९१३) रजिया बेगम (१९१५) अँगूठी का नगीना (१९१८) गुप्त गोदना (१९२३) आदि

२. "उनके बहुत से उपन्यासों का प्रभाव नवयुवकों पर बुरा पड़ सकता है, उनमें उच्च वासनाएँ व्यक्त करने वाले दृश्यों की अपेक्षा निम्नकोटि की वासनाएँ प्रकाशित करने वाले दृश्य और भी अधिक हैं और चटकीले भी।" ('हिन्दी साहित्य का इतिहास' : आचार्य शुक्ल, पृ० ५५२।)

वह सर्वस्व त्यागकर संन्यासी सा बन जाता है। कुम्भ मेले के अवसर पर संगम के किनारे बैठकर वह अपना स्वगत-भाषण करता है। उस समय उसने एक साधु के साथ एक युवती को स्नान करते हुए गंगा में देखा और तुरन्त अपने श्वसुर और स्त्री को पहचान लिया। इतने दिनों बाद मिलकर सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। नायक के स्वगत-भाषण के द्वारा ही लेखक ने अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। किन्तु उपन्यास में भी यह स्वगत-भाषण नाटक के समान एक दोष ही गिना जाता है। कथा और चरित्र-चित्रण दोनों की दृष्टि से इसमें नीरसता और यांत्रिकता के ही दर्शन होते हैं जो अस्वाभाविक और अमनोवैज्ञानिक है। संयोगों (chances) को मुख्य भूमिका का समर्थ सहायक बनाया गया है। गोस्वामीजी की कल्पना-प्रसूत रचनाओं में 'स्वर्गीय कुसुम या कुसुमकुमारी' का प्रथम स्थान है जिसमें ऐयारी के करिश्मों को पूर्ण स्थान दिया गया है। इस युग में ऐयारी और तिलिस्मी करामातों ने उपन्यास-पाठकों के हृदय में इतना व्यापक स्थान बना लिया था कि गोस्वामीजी को भी सामाजिक और ऐतिहासिक सभी उपन्यासों में इन आकर्षणों को अस्वीकार करते न बन पड़ा।

गोस्वामीजी ने ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा का समारम्भ 'हृदय-हरिणी' से माना जा सकता है। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रेम-चित्रण की प्रधानता और कल्पना का आधार स्वीकृत हुआ है। इतिहास और कल्पना का अद्भुत सम्मिश्रण गोस्वामीजी के ऐतिहासिक उपन्यासों की विशेषता है। अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'तारा' की भूमिका में उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार भी किया है।[1] ऐतिहासिक उपन्यासों में या तो पात्र ऐतिहासिक होते हैं जिन्हें कल्पना के आधार पर विकसित किया जाता है अथवा ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर कल्पित पात्रों का सृजन कर उपन्यास की रचना की जाती है। डा० वृन्दावनलाल वर्मा के अनुसार पात्रों और ऐतिहासिक तथ्यों को काल्पनिक रंग देना इतिहास के साथ अन्याय करना है और ऐतिहासिक उपन्यास में इसे वैध नहीं माना जा सकता।[2] (यद्यपि वर्माजी ने अपने उपन्यासों

---

१. "हमने अपने बनाये उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को गौण और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कहीं-कहीं तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर ही से नमस्कार भी कर दिया है।...... यहाँ कल्पना का राज्य है, यथेष्ट लिखित इतिहास का नहीं ; और इसमें आर्यों के यथार्थ गौरव का गुण कीर्तन है......। इसलिए लोग इसे इतिहास न समझें और इसकी सम्पूर्ण घटना को इतिहास में खोजने का उद्योग भी न करें।"('तारा' की भूमिका।)

२. वर्माजी से हुई मेरी बातचीत का निष्कर्ष।

में ऐसा किया है ।) अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोयटिक्स' में लिखा है कि साहित्य में तिथि और नामों के अतिरिक्त सब कुछ सत्य होता है तथा इतिहास में तिथि और नामों के अतिरिक्त सब कुछ असत्य होता है । चाहे ऐतिहासिक उपन्यास हो या सामाजिक, सबकी कसौटी 'औचित्य' है, जिसकी पूर्ण स्वीकृति अरस्तू और भारतीय काव्य-शास्त्रियों सबने एक कण्ठ से की है । ऐतिहासिक उपन्यास में भी यदि उपन्यासकार ऐतिहासिक यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने में समर्थ सिद्ध हो गया है तो उसका उद्देश्य पूर्ण ही माना जायेगा, अन्यथा सारी घटनाएँ, पात्र और वातावरण शुद्ध ऐतिहासिक रहने पर भी इस गुण के बिना (यदि रागात्मकता उत्पन्न नहीं होती) तो सारा प्रयास व्यर्थ है। गोस्वामीजी ने ऐतिहासिक रोमांस ही लिखे हैं । कल्पना और इतिहास के द्वारा विचित्र संयोग से जिस परम्परा का प्रारम्भ हुआ, आगे चलकर उसी का विकसित स्वरूप हिन्दी उपन्यास-साहित्य के रूप में दिखाई देता है । प्रारम्भिक प्रयत्न होने के कारण इन उपन्यासों में कुछ कमी होना स्वाभाविक है। इन उपन्यासों में इतिहास को इतना विकृत कर दिया गया है कि यकायक शंकालु मन विश्वास नहीं कर पाता । हिन्दू पात्र सभी अच्छे होते हैं और मुसलमान पात्र सभी नीच—इस उक्ति का विश्वास नहीं हो पाता है और इस उक्ति को जिन पात्रों द्वारा चरितार्थ किया गया है, वहाँ तो पूर्ण अस्वाभाविकता आ गई है । इतिहास के एक पहलू को स्वीकार करके मुसलमान शासन-काल की प्रेम-क्रीड़ाओं और ऐयारियों को ही प्रधानता दी गई है। बुरे से बुरे पात्र में भी कुछ न कुछ अच्छाई होती है और अच्छे से अच्छे पात्र में भी कुछ न कुछ कमी होती है—इस दृष्टिकोण से पात्रों का अंकन संवेदनापूर्ण प्रणाली से नहीं किया गया है। 'तारा' उपन्यास की नायिका महाराणा अमरसिंह की सुपुत्री तारा है । आगरे को मुख्य केन्द्र बनाकर कथा-सूत्र आगे बढ़ता है । आगरे के शाहजहाँकालीन समाज और वातावरण का चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। ऐतिहासिक पात्रों के साथ इस उपन्यास में पूर्ण न्याय नहीं किया गया है।[1] आगरे के किले को अनेक प्रकार के दुष्टतापूर्ण षड्यन्त्रों का आगार बताया गया है और सिद्ध किया गया है कि सम्राट्, शाहजादे और शाहजादियाँ प्रेम करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते थे और अपने स्वार्थ-साधन (प्रेमी या प्रेमिका को पाने तथा इन्द्रिय योग) के लिए किसी भी स्तर पर उतर सकते थे । इतना ही नहीं, राजपूतों के चित्रण में भी पूर्ण ईमानदारी और इतिहास के प्रति निष्ठा निभाने का उत्तरदायित्व लेखक स्वीकार नहीं करना चाहता । तारा और रम्भा

---

१. 'हिन्दी उपन्यास', पृ० ८३ ।

(तारा की सहेली) को जिस रूप में चित्रित किया गया है, उससे राजपूत-नारियों के चरित्र की हीनता और छिछोरापन बहुत खटकता है। रम्भा में तो उन सभी गुणों का पूर्ण विकास दिखाया गया है जो खत्रीजी के किसी कुशल ऐयार में हो सकते हैं। उसका मस्तिष्क किसी भी 'देवीसिंह' या 'भैरों' से लोहा ले सकता है तथा मौका पड़ने पर अपनी कैद में उन्हें कुछ समय के लिए रख सकने की क्षमता रखता है। यकायक पढ़कर विश्वास नहीं होता कि मुगल शासन-काल की राजपूत बालाएँ इतनी तेज और अल्पकाल में ही इतनी हरफनमौला हो सकती थीं। इस प्रकार की असंगतियाँ गोस्वमीजी के सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में खोजी जा सकती हैं।

गोस्वामीजी की भाषा की यथेष्ट आलोचनाएँ हुई हैं। कुछ लोगों ने इनकी भाषा की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है, किन्तु आचार्य शुक्ल आदि इन्हें जहाँ संस्कृत की विद्वत्ता और सजीव चित्रात्मकता के लिए पसन्द करते हैं, वहाँ इनकी उर्दू मयता के लिए नापसन्द भी करते हैं।[1] प्रारम्भिक उपन्यासों में तो इन्होंने 'कादम्बरी' की परम्परा पर संस्कृत-बहुला तथा समासनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया, किन्तु आगे चलकर ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की झोंक में पात्रानुकूल भाषा लिखने का शौक पैदा हुआ तो एक ही पात्र से अनेक प्रकार की भाषाएँ प्रयुक्त कराके नुमायशी रौनक पैदा कर दी। 'तारा' उपन्यास की नायिका तारा शाहजादी तथा मुसलमान पात्रों से वार्त्तालाप करती है तो उर्दू मिश्रित भाषा का, और हिन्दू सहेली से बात करते समय शुद्ध मुहावरेदार हिन्दी का प्रयोग करती है। "उनके कई समकालीनों की तरह कहीं-कहीं उर्दू ढंग के वाक्य-विन्यास भी इनकी भाषा में मिलते हैं। प्रेम के प्रसंग आने पर इनके बीच के उपन्यासों में भाषा उर्दू की ओर प्रायः झुक जाती है। कहीं-कहीं अंग्रेजी की तरह के भी वाक्य मिल जाते हैं। जैसे 'चपला' उपन्यास के इस वाक्य में, "ये (मदन) संसार में एक दुष्टा स्त्री और एक पुत्र के अलावा और कुछ भी नहीं

---

१. "गोस्वामीजी संस्कृत के अच्छे जानकार, साहित्य के मर्मज्ञ थे······कुछ पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ। उर्दू भी ऐसी वैसी नहीं, उर्दू-ए-मुअल्ला।·······उर्दू जबान और शेर-सखुन की बेढंगी नकल से, जो असल से कभी-कभी साफ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। गलत या गलत मानी में लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दर्जे से गिरा देते हैं। खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया। 'मल्लिकादेवी' या 'बंग सरोजिनी' में संस्कृतप्राय समास-बहुला भाषा काम में लाई गई है।" (हि० सा० इ० : रा० च० शुक्ल, पृ० ५५२-३।)

रखते थे।" पर यह सब भाषा सम्बन्धी तत्कालीन विभिन्न प्रवृत्तियों का किंचित् प्रभाव-मात्र है। गोस्वामीजी की प्रतिनिधि भाषा भारतेन्दु द्वारा निर्दिष्ट उस आदर्श हिन्दी का ही विकसित रूप है जिसमें संस्कृत के तद्भव और देशज तथा उर्दू-फारसी के दैनन्दिन व्यवहार में आने वाले शब्दों का हिन्दीकृत रूप व्यवहृत होता है। सन् १९०१ में प्रकाशित 'राजकुमारी' और १९१८ में प्रकाशित 'अँगूठी का नगीना' की भाषा ऐसी ही है। हिन्दी के उपन्यासों के उपयुक्त यही भाषा है, जिसका प्रेमचन्द ने अपने ढंग से और सुधार किया। गोस्वामीजी की इस प्रकार की मध्यमार्गीय हिन्दी, उपन्यासों के लिए एक देन है। इसमें शुद्ध हिन्दी मुहावरों और कहावतों का भी प्रचुर प्रयोग मिलता है। गोस्वामीजी की प्रतिनिधि भाषा की जब हम अन्तरंग परीक्षा करते हैं तो कहीं-कहीं इनकी रूप-वर्णन-क्षमता का बहुत सुन्दर रूप सामने आता है। यद्यपि इनके अधिकांश रूप-वर्णन परिपाटी-विहित और कृत्रिम प्रतीत होते हैं, पर जहाँ इन्होंने अपने स्वतन्त्र निरीक्षण का उपयोग किया है, वहाँ नायिकाओं के रूप-चित्र किंचित ऐन्द्रिय होने पर भी प्रभावोत्पादक हो गये हैं। हाँ, विशेषणों के प्रयोग में गोस्वामीजी अवश्य अपव्ययी ज्ञात होते हैं। इसका कारण यह है कि वे पात्रों के सम्बन्ध में अपने मनोभावों को तुरन्त कह देने के लिए उतावले हो उठते हैं और कलात्मक संयम के साथ संकेत से अथवा कार्य-कलाप के द्वारा पात्रों की विशेषताओं के ध्वनित होने तक रुकते नहीं, यद्यपि घटनाओं की गतिमयता बनाये रखने पर उनका ध्यान रहता है और वर्ण्य-वस्तुओं का चित्रांकन करने में भी उन्हें अकसर सफलता मिली है, पर पात्रों के विषय में अपना मंतव्य प्रकाशित करने और उपदेश देने की उतावली के कारण प्रायः इनके उपन्यासों में कथा-प्रवाह रुक-रुक जाता है। पर यह उल्लेखनीय है कि अपने समकालीनों में यह दोष इनमें सबसे कम है और उन्होंने उपन्यासों की वर्णन-शैली को निश्चित रूप से पूर्वापेक्षया अधिक मनोरंजक और कथानुरूप बनाया, संवादों को अधिक स्वाभाविक बनाया और कुल मिलाकर हिन्दी की औपन्यासिक भाषा को शिष्ट व्यावहारिक भाषा के अधिक से अधिक निकट लाने का उद्योग किया।"[1]

इस काल में उपन्यास का एक स्वरूप स्थिर होने लगा था। हिन्दी उपन्यास के लिए पाठक और बाजार तैयार करने का श्रेय खत्रीजी को है जिन्होंने अनेक अहिन्दी भाषा-भाषियों को भी हिन्दी सिखा दी और धीरे-धीरे वे लिखने की ओर भी प्रवृत्त हुए। चाहे इस काल में नैतिक, शिक्षाप्रद, प्रेम-प्रधान या तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यासों का विकास ही हुआ, किन्तु इससे पुष्ट

---

१. 'आलोचना', अंक १३, पृ० ७६।

सामाजिक समस्याओं को चित्रित करने वाले समस्या प्रधान उपन्यासों का मार्ग प्रशस्त हो गया था। यही वह भाव-भूमि थी जिसने प्रेमचन्द को उत्पन्न किया। प्रेम-प्रधान उपन्यासों में भी प्रेम के विभिन्न स्वरूपों तथा स्थितियों का वर्णन नहीं हुआ, वरन् सस्ते रोमांचकारी प्रेम-प्रसंगों का ही चित्रण हो सका। जाने या अनजाने चरित्र-चित्रण में कुछ मनोवैज्ञानिकता आने लगी थी, किन्तु इसका समुचित विकास तो प्रेमचन्द युग में ही हो सका। गोस्वामीजी को हम हिन्दी के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार का महान पद प्रदान कर सकते हैं।

भाषा की दृष्टि से इस काल में तीन प्रणालियाँ खोजी जा सकती हैं। प्रथम कोटि में संस्कृतनिष्ठ भाषा आती है, जिसका सफल प्रयोग भारतेन्दु, भट्ट और गोस्वामीजी आदि ने किया है। इसमें व्यावहारिकता और सहज प्रवाह है, जिसके कारण इनके उपन्यास सफल प्रयोगों के अन्तर्गत आते हैं। दूसरी प्रकार की भाषा कृत्रिम संस्कृत-पद-बहुला हिन्दी है जो प्रयोगों की अस्वाभाविकता के कारण अजनबी प्रतीत होती है। देवीप्रसाद शर्मा तथा जैनेन्द्र किशोर आदि के प्रयोग इसी कोटि में आ सकते हैं। उदाहरणस्वरूप जैनेन्द्र किशोर के 'कमलिनी' उपन्यास को ले सकते हैं, जहाँ 'नाक बह रही है' के स्थान पर 'नासिका रन्ध्र स्फीत हो रहा है' का प्रयोग हुआ है। तीसरी कोटि में वे लोकप्रिय और स्वाभाविक भाषा लिखने वाले उपन्यासकार आते हैं जिन्होंने आगे की पीढी का पथ-प्रदर्शन किया और इस शैली का विकास ही 'हिन्दुस्तानी' कहलाया। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने जिस भाषा पर 'आमफहम' होने का लेबिल चिपकाया था, वह तो हास्यास्पद हो गई, किन्तु बिना पूर्व घोषणा के 'चन्द्रकान्ता' लिखने वाले खत्रीजी की भाषा को यह गौरव अनायास ही प्राप्त हो गया। 'हरिऔध' ने भी पूर्व घोषणा के अनुसार 'ठेठ हिन्दी' में एक उपन्यास लिखा, किन्तु भाषा और उपन्यास-कौशल दोनों ही दृष्टियों से यह प्रयोग बचकाना ही रह गया।

मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त इस युग में बंगला और अंग्रेजी आदि भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद भी खूब हुआ। पाठक को सामिग्री मिलनी चाहिए थी, यदि हिन्दी में कम थी तो बाहर से ली गई और उससे हिन्दी उपन्यास भी लाभान्वित ही हुआ। इन अनुवादों में से मुख्य-मुख्य ये हैं : भारतेन्दु—राजसिंह, राधाकृष्णदास—स्वर्णलता, पतिप्राणा अबला—राधारानी, गदाधरसिंह—दुर्गेशनन्दिनीव वंग विजेता, किशोरीलाल गोस्वामी—प्रेममयी और लावण्यमयी, राधाचरण गोस्वामी — दीप निर्वाण और विरना, उदितनरायन वर्मा—दीप निर्वाण, बालमुकुन्द गुप्त—मंडल-भगिनी, रामशंकर व्यास—मधुमालती व मधुमती, विजयानन्द त्रिपाठी—सच्चा सपना,

राधिकानाथ बन्ध्योपाध्याय—स्वर्ण बाई, प्रतापनारायण मिश्र—युगलाङ्गुरीय व कपालकुण्डला, अयोध्यासिंह उपाध्याय–कृष्णकान्त का दानपत्र व राधारानी, कार्तिकप्रसाद खत्री—कुलटा, मधुमालती, दलित कुसुम आदि । सर वाल्टर स्कॉट की परम्परा पर बंकिमचन्द्र चटर्जी ने जो उपन्यास लिखे थे, उनके हिन्दी अनुवाद अधिक पसन्द किये गये । काल्पनिक वातावरण में ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन इन उपन्यासों की सुन्दरता मानी जा सकती है ।

१५. हिन्दी उपन्यास का क्रमिक विकास (२)

प्रेमचन्द युग

जब कोई देश एक शक्ति के हाथ से छूटकर दूसरी शक्ति के अधिक चतुर और राजनीति-कुशल हाथों में पहुँचता है तो उससे उस देश की राजनीति मात्र में ही परिवर्तन नहीं होता है, वरन् एक बार को तो सारा समाज ही प्रभावित हो जाता है। सारे जन-जीवन, समाज, राजनीति, संस्कृति और साहित्य के मापक मान-मूल्य बदलने लगते हैं। ऐसे अनेक परिवर्तन भारतीय राजनीति में आये हैं और प्रत्येक परिवर्तन एक नये मोड़—नई दिशा का मार्ग-दर्शक सिद्ध हुआ है। मुसलमानों से प्रभावित भारतवर्ष का जो नया रूप बना था, उसपर सभी दृष्टियों से प्रत्येक क्षेत्र में अंग्रेजी प्रभाव पड़ा। अंग्रेजों से पूर्व फ्रांसीसी, पुर्तगाली और डचों ने यहाँ अपने पैर जमाने की चेष्टा की थी, किन्तु अंग्रेजों के सामने उनकी अधिक न चली और धीरे-धीरे वे सिमटते गये तथा अंग्रेज फैलते गये। जहाँगीर के समय में बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में विदेशी केवल व्यापार हेतु आये थे, किन्तु भारतीय राजनीति में कमजोरी पाकर उससे लाभ उठाने का व्यापार करने से भी वे बाज न आये और शक्ति से अधिक चातुर्य और अवसरवादिता के कारण यहाँ के शासक बन गये। देशी राजा चाहे आपस में द्वेष रखते हों, किन्तु अंग्रेजों की पराधीनता उन्हें खलने लगी थी। ईसाई धर्म-प्रचार ने इसमें आहुति का काम किया। साधारण जनता को अंग्रेजों का शासन, रहन-सहन और सुधारवादी नीति केवल भ्रष्टाचार और धर्म-भ्रष्ट करने का एक कौशलपूर्ण ढंग मात्र प्रतीत हुई। धीरे-धीरे इस भाव को विकसित करने का कार्य किया जाने लगा और एक समय आया जब १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति के रूप में इस असन्तोष को व्यक्त किया गया। यह क्रान्ति केवल कुछ राजाओं और नवाबों की क्रान्ति न थी, वरन् उसमें कुछ अवसरवादियों को छोड़कर सारे समाज का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग था, जिसने एक बार को तो अंग्रेजों की चौकड़ी भुला दी, किन्तु दमन-नीति के कारण अन्त में वे इसमें विजयी सिद्ध हुए और भारत ब्रिटिश इण्डिया कम्पनी के हाथों से निकल कर इंग्लैण्ड की साम्राज्ञी विक्टोरिया के अधिक शक्तिशाली पंजे में

चला गया । इस परिवर्तन ने सारे भारतीय जीवन और विचार-क्षेत्र को प्रभावित करना प्रारम्भ किया । इसका फल यह हुआ कि हम लोग पश्चिम के रंग में रँगने लगे तथा देश का धन विदेशी कोषों को भरने लगा ।

इस भारतीय दासता की कहानी का दूसरा पहलू भी है । अंग्रेजों ने रेल, तार, डाक, नहर, सड़क, अंग्रेजी शिक्षा, स्थानीय स्वायत्त शासन आदि के द्वारा भारतीय जनता को विकसित किया और धीरे-धीरे उन्हें यन्त्र-युग की ओर अग्रसर किया । अनेक भारतीय इंग्लैण्ड जाकर अध्ययन करने लगे और लौटकर अंग्रेजी जीवन के प्रभाव-स्वरूप भारत में भी अपने शासन की माँग के सहयोगी सिद्ध हुए । उनमें से हीनता की भावना कम होने लगी और युग की माँग का आभास उन्हें अधिक स्पष्ट रूप से होने लगा । इतना ही नहीं, यूरोपीय देशों के अनेक विद्वान भारत आये और यहाँ के साहित्य, कला, इतिहास और संस्कृति आदि की विशेष खोजें हुईं, जिससे भारतीय जनता का खोया हुआ आत्म-विश्वास जागने लगा और विदेशियों को अपनी ओर आकर्षित देखकर वे स्वयं अपने स्वरूप से परिचित होने के लिए मचल पड़े । इस प्रकार भारतीय-पुनर्जागरण का प्रारम्भ हुआ । ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज आदि समाजव्यापी आन्दोलन छेड़े गये जिनसे अनेक सामाजिक कुप्रथाएँ मिटने लगीं और राष्ट्रप्रेम तथा स्वदेशी की भावना जोर पकड़ने लगी ।

सारा देश एकता के सूत्र में बँधने लगा । १८८५ में कांग्रेस की स्थापना एक अंग्रेज द्वारा हुई, जिसका प्रारम्भिक उद्देश्य सरकार के प्रति भारतीय जनता का मैत्री-भाव प्रकट करना था । किन्तु थोड़े समय बाद ही जब मध्यम वर्ग जागरूक होकर कांग्रेस का सहयोगी होने लगा तो अंग्रेजों के कान खड़े हुए । मुसलमान इससे अलग ही रहे । उनमें से अभी शासक की बू पूरी तरह नहीं गई थी । सर सैयद अहमद खाँ जैसे मुस्लिम नेता इसके विरोधी बने हुए थे । आगे जब तिलक ने इस आन्दोलन और संस्था को अपने हाथ में ले लिया तो संस्था नरमदल और गरमदल दो दलों में विभक्त हो गई । तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द पाल तथा अरविन्द घोष आदि गरम दल के नेता थे और नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, गोखले और मालवीय आदि नरम दल के । गरमदल का प्रभाव बढ़ने लगा था, और तिलक ने 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का नारा लगा दिया था, जिसका युवकों पर विशेष रूप से जादू का सा प्रभाव पड़ने लगा । १९०७ के सूरत अधिवेशन में दोनों दल अलग-अलग हो चुके थे और १९०७-८ में बंगाल में सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टाएँ की गई थीं । सन् १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध के छिड़ जाने से कांग्रेस का कार्य ढीला पड़ने लगा और आदर्शपरायण भारतीय जनता अंग्रेजों पर आपत्ति आई समझकर शासक और शासित का भेद भुलाकर युद्ध में पूर्ण सहयोग देने

लगी। इधर कांग्रेस ने भी मुसलमानों के असहयोग की अपनी कमी को पूरा करने के लिए १९१६ में लखनऊ में मुस्लिम लीग का सहयोग प्राप्त किया और गरम व नरम दल के सहयोग के प्रयत्न भी किये गये। १९१९ में तिलक की मृत्यु के पश्चात् महात्मा गाँधी के हाथों में कांग्रेस का नेतृत्त्व चला गया और थोड़े ही समय में वे 'राष्ट्रपिता' के आसन पर सुशोभित होकर कांग्रेस की बागडोर सँभालने लगे। उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने का सफल-यंत्र 'असहयोग आन्दोलन' चलाया। सारा प्रेमचन्द-युगीन साहित्य इन्हीं प्रेरणाओं और राजनीतिक समस्याओं से ओत-प्रोत है।

आलोच्य काल में शहरों में पूँजीवादी व्यवस्था पनपने लगी थी। नई-नई फैक्टरियाँ और बड़े-बड़े मिल खोलने के लिए अंग्रेज और भारतीय दोनों प्रयत्नशील थे। टाटा ने लोहे का कारखाना खोल दिया था और बिजली के आविष्कार के कारण औद्योगीकरण धीरे-धीरे विकसित होता जा रहा था। देहात में शुद्ध सामन्तवादी युग था। अनेक अंग्रेज भी नील की खेती करने के बहाने गाँवों में जाकर बस गये थे और भारतीय-भूमि तथा भारतीय-श्रमिक की दयनीयता से लाभान्वित हो रहे थे। मुगलों के समय का विश्व का सबसे बड़ा शहर आगरा व्यापारिक या औद्योगिक नगर न होने के कारण बम्बई, कलकत्ता और मद्रास की अपेक्षा अत्यन्त नगण्य शहर होता चला जा रहा था। लन्दन विश्व का सबसे बड़ा बाजार था, जिसमें सारा यूरोप समाता जा रहा था, भारतीय व्यापारी कमीशन एजेण्ट से अधिक कुछ नहीं थे। वे यूरोपीय सामान को भारतीय मण्डियों तक भेजने और भारतीय मण्डियों के कच्चे माल को जहाजों में लदवाने का व्यापार कर के ही अपने को कृत्यकृत्य समझ रहे थे।

मुगल शासन के अन्त के साथ विलासप्रियता और मद्यपान का अन्त नहीं हुआ था, वरन् ये भारतीय जीवन के अविच्छिन्न अंग बनते जा रहे थे। समाज के प्रत्येक वर्ग में अन्धविश्वास, अशिक्षा और अनेक प्रकार की कुरीतियों फैली हुई थीं। ज्योतिष और धार्मिक अन्धविश्वास जनता को ठगता जारहा था। बड़े मन्दिर और मठ व्यभिचार तथा पतन के गड्ढे बनते चले जा रहे थे। हीनता की भावना का ज्ञान इस बात से हो जाता है कि उड़ीसा और सिलहर आदि में तो छोटे-छोटे बच्चों को नपुंसक बना दिया जाता था। स्त्रियों में पर्दा विशेष था और अशिक्षा तथा रूढ़ि का सर्वत्र बोलबाला था। स्त्री-स्वातन्त्र्य की बात भी सोचना सम्भव नहीं था।

अठारह वर्ष (१९१८ से १९३६) के प्रेमचन्द युग में तत्कालीन इतिहास और समाज का सर्वांगीण चित्र उपस्थित किया गया है। उपन्यास को समाज के संघर्षपूर्ण अस्तित्व की व्याख्या कहा गया है। प्रतीत होता है कि सम्भवतः

ये कसौटी प्रेमचन्द-युगीन उपन्यास साहित्य को देखकर ही ठहराई गई होगी। प्रेमचन्द युग तक आते-आते हिन्दी उपन्यास को कल्पना, रोमांस, ऐयारी, तिलिस्मी तथा ऐतिहासिक भूमियाँ उपलब्ध हो चुकी थीं, किन्तु इनमें प्रारम्भिक बचकानापन था और था प्रौढ़ता का नितान्त अभाव। प्रेमचन्द-युगीन संघर्ष रत सामाजिक चेतना को नये अभिव्यक्ति-माध्यमों की अपेक्षा थी और समग्र चेतना की अभिव्यक्ति केवल उपन्यास द्वारा ही सम्भव थी। इसी का परिणाम हिन्दी उपन्यास का विकास है।

पुनर्जागरण काल ने हिन्दी उपन्यास को गहरे आदर्शवाद के रंग में डुबो दिया था। पथभ्रष्ट युवक के सुधार की कहानी 'परीक्षा गुरु' से जो प्रारम्भ हुई तो सारे कथा साहित्य को धीरे-धीरे उसने अपने क्रोड़ में समेट लिया। प्रेमचन्द ने यद्यपि इसका बहिष्कार तो न किया, किन्तु इसे सूक्ष्म और अधिक कलात्मक बना दिया। इसे मनोविज्ञान और यथार्थ की भूमियों पर उतारा गया, जिससे वह अधिक स्वाभाविक, विश्वसनीय, कलात्मक और व्यापक स्वरूप धारण करता चला गया। इस काल में सामाजिक चेतना अनेक स्वरूपों में आकलित की गई और हिन्दी उपन्यास में वैविध्य को स्थान मिला। इस काल में प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, कौशिक, जैनेन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन, ऋषभचरण, पाण्डेय बेचन शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, श्रीनाथसिंह, प्रताप नारायण, सियारामशरण, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, गोविन्द वल्लभ पन्त, राधिकारमण प्रसाद सिंह आदि उल्लेखनीय उपन्यासकार समाज के प्रायः सभी प्रमुख प्रश्नों को लेकर आगे आये।

प्रेमचन्द और उनके सहयोगियों ने प्रायः मध्यम वर्ग को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। हिन्दी कविता में मर्यादापुरुषोत्तमों, राजाओं, सम्राटों और महान् पुरुषों का यथेष्ट कीर्ति-गान हो चुका था और जनता सोच रही थी कि मर्यादापुरुषोत्तम तो केवल आदर्श रहा होगा। राजा और सम्राट् हम नहीं हैं और न कभी हो सकते हैं। उनके दुःख और सुख चाहे हमारे जैसे ही हों किन्तु उनका कारण निश्चित रूप से हमारे जैसा नहीं है। उन्हें रोटी, कपड़े की तंगी और शासित होने की आशंका भी नहीं थी, जबकि हम दिन-रात यही यातना भोग रहे हैं। पुनरुत्थान-काल के प्रिय-प्रवास के नायक (कृष्ण) के साथ भी अब उनका तादात्म्य सम्भव नहीं था क्योंकि समस्याएँ बदल चुकी थीं और उनके निराकरण के प्रकार भी। विज्ञान के चमत्कार दिन-रात बढ़ते हुए हमारी दासता को और सुदृढ़ कर रहे थे। एक कंस होता तो कोई कृष्ण उत्पन्न होकर उसकी मृत्यु का कारण बन सकता था, किन्तु अब तो हजारों कंस समुद्र पार से आकर सर्वस्व का अपहरण करके अपने देश को ले जा रहे थे और यहीं तक नहीं, हमारे घरों में भी असंख्य कंसों के वंशज उत्पन्न हो चुके थे, जो उन्हें

सहयोग देकर इन दासता के पाशों और शोषण के प्रकारों को सुदृढ़ कर रहे थे। अब तो घर-घर में कृष्ण के उत्पन्न होने की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। यदि आदर्शवाद (महान् पुरुषत्व) घर-घर में लाना है तो उसे यथार्थ या सामान्य की संज्ञा देनी पड़ेगी और यही हुआ। प्रेमचन्द ने सामान्य-जनों को अपना नायक बनाया और सामान्य दैनिक जीवन की समस्याओं को उनके यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया। यथार्थ में तो नायक समाज को (देश तक को) ही स्वीकार करना था, किन्तु यह धीरे-धीरे ही होना था, इसीलिए उस स्तर तक पहुँचने के लिए प्रारम्भिक स्थिति को भी पार करना था। यूरोप में उपन्यास कला यथेष्ट विकसित हो चुकी थी और अब उसे 'युद्ध और शान्ति' जैसी उपलब्धियाँ होने के कारण हिन्दी में भी यही दृष्टिकोण बढ़ने लगा। 'युद्ध और शान्ति' में वेश्यावृत्ति के प्रश्न को राष्ट्र की भूमिका में सुझाया गया है। प्रेमचन्द ने सामाजिक प्रश्नों को ही प्रमुखता दी और राजनीतिक तथा नारी-समस्या के मूल प्रश्न सामने लाये गये। टूटते हुए सामन्तवादी समाज और विकसित होती हुई पूँजीवादी व्यवस्था के सन्धि-स्थल पर खड़े होने के कारण प्रेमचन्द युग का महत्व और उत्तरदायित्व काफी बढ़ गया था।

इस काल में सामाजिक कुरीतियों में वेश्यावृत्ति की विभीषिका सभी को स्पष्ट हो चुकी थी। जिस समस्या को 'परीक्षा गुरु' और 'सौ अजान एक सुजान' में उठाया गया था, प्रेमचन्द ने 'सेवा-सदन' में उसी को प्रमुखता प्रदान की। उन्हों नेइस समस्या को अनेक पहलुओं से उठाया और उन कारणों पर भी प्रकाश डाला जो नारियों को वेश्या बनने पर मजबूर कर देते हैं। इस चित्रण में प्रेमचन्द, शॉ, इब्सन और गॉल्सवर्दी के समान तीव्र और भारी कटु नहीं हुए, वरन् उन्हें तो नारी की इस दयनीय दशा पर सदैव तरस ही आया और इस वर्णन में उन्होंने सदैव सहृदयता का पल्ला पकड़े रखा, आदर्शवादी होने के कारण उनकी ध्येयोन्मुखता उन्हें दूर तक खींच ले गई और अपने उपन्यास की सारी शक्ति उन्होंने इस प्रश्न का निराकरण करने में लगा दी। उन्हें सेवा-सदन खुलवाना ही इस समस्या का सुन्दर समाधान प्रतीत हुआ और सम्भवतः वे इस समाधान से कुछ समय के लिए आश्वस्त भी हो गये होंगे। किन्तु इस प्रश्न को अन्य लेखकों ने इतना आसान न समझा। उन्होंने इस प्रश्न को उठाया और उठाकर छोड़ दिया—हाँ, उसका समाजव्यापी प्रभाव अवश्य दिखाया। प्रेमचन्द के समान वे इसका तुरन्त निराकरण खोजने की चिन्ता में अवश्य रहे होंगे किन्तु कोई हल प्रस्तुत करना उनके बूते की बात न हुई। इस प्रश्न को कौशिक, राजेश्वरप्रसाद, ऋषभचरण जैन, 'मुक्त', भगवती प्रसाद वाजपेयी, निराला

और धनीराम प्रेम आदि ने उठाया[1], किन्तु मूल प्रेरक शक्ति 'सेवा-सदन' ही है। प्रेमचन्द से पूर्व सामाजिक उपन्यासों में एक-दो प्रश्नों को लेकर ही घटनाक्रम सजाया जाता था और पात्र prototype होते थे, किन्तु प्रेमचन्द ने समग्र जीवन और समाज के सभी पहलुओं को उपन्यासों में सँजोया। 'सेवा-सदन' में ही दहेज प्रथा, रिश्वतखोरी, सामाजिक सम्मान का मिथ्यात्व, अनमेल विवाह और पारिवारिक कलह आदि के अनेक प्रश्न यहाँ गुम्फित हैं। हिन्दू-मुस्लिम-प्रेम, स्थानीय निकाय-निर्वाचन आदि की समस्याएँ भी इसमें स्थान पा गई हैं। इतना ही नहीं, असन्तुष्ट गृहस्थ के साधु-जीवन-यापन पर भी इसमें तीव्र व्यंग्य उपस्थित किया गया है। इन सभी समस्याओं के पुन्जीभूत कलात्मक स्वरूप का नाम है 'सेवा-सदन'। अनमेल-विवाह और दहेज की समस्या का अनुभव इस काल के समाज के हृदय के घावों पर नमक बन रहे थे। प्रेमचन्द्र जैसे युग-कलाकार इससे विशेष प्रभावित हुए और इस विषय को बार-बार अपनी कलम से उभारते रहे। उन्होंने 'निर्मला' (१६२३) में इन्हीं समस्याओं को उपस्थित करने के लिए लिखा। 'निर्मला' में उनका विवेचित समाज सीमित और एक परिवार का ही है; यद्यपि समस्याएँ सुझाव रूप से व्यापक हैं, किन्तु परिधि छोटी है। संवेदना की गहराई और सामाजिक मूल्यों की चुनौती 'अन्ना कैरेनिना' के प्रकार की है। निर्मला की ट्रेनेडी अन्ना की याद दिला देती है। सभी प्रकार से त्रस्त और बन्दिनी नारी अन्त तक संघर्ष करती है, किन्तु सिवा निराशा के उसके हाथ कुछ नहीं आता। जिसे वह प्रेम करती है—उसे अलग कर दिया जाता है; जिससे प्रेम किया जाना अस्वाभाविक और अमनोवैज्ञानिक है वह प्रेम की अपेक्षा करता है; जो घृणास्पद है वह प्राचीन होने वाले सम्बन्धों की दुहाई देकर उससे प्रेम-याचना करता है—ये हैं नारी जीवन की कुछ बिडम्बनाएँ जिन्हें 'निर्मला' में देखा जा सकता है। मध्यवर्गीय समाज की कुण्ठाओं और अर्थ-नीतियों की वैषम्यता समाज की जड़ता और शोषण का कारण हैं। अनेक कारणों से विवाहित युग्मों में से अधिकांश अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट हैं और समाज के भय से ही भीत होकर इन

---

१. राजेश्वर प्रसाद (मंच : १६२८)।
कौशिक (माँ : १६२६)।
ऋषभचरण (वेश्यापुत्र, : १६२६)।
निराला (अप्सरा : १६३१)।
धनीराम प्रेम (वेश्या का हृदय : १६३२)।
भगवती प्रसाद वाजपेयी (पतिता की साधना : १६३६)।
प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' (पाप और पुण्य : १६३६) इत्यादि।

बन्धनों को अस्वीकार करने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं। निर्मला की ट्रेजेडी भारतीय नारी की ट्रेजेडी है। जिस कलाकार की भूमिका जितनी विशाल होगी, वह जितने व्यापक कैनवास को अपनायगा, वह उतना ही महान् कलाकार होगा। प्रेमचन्द के इस छोटे उपन्यास 'निर्मला' में सारी पीड़ित नारियाँ अपनी गुहार मचाती हुई दिखाई देती हैं। इस प्रश्न को भी अनेक अन्य उपन्यासों में प्रश्रय मिला है।[1]

१६१६ से महात्मा गांधी कांग्रेस की बागडोर अपने हाथ में ले चुके थे और प्रेमचन्द-युगीन सभी कथाकार इस आन्दोलन से किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित हुए थे। प्रेमचन्द पर भी इसका प्रभाव पड़ा और कांग्रेस की हिन्दू-मुस्लिम-एकता नीति उनके उपन्यासों में खूब फली-फूली। उन्होंने आदर्श की झोंक में केवल उपदेश को ही स्थान न देकर यथार्थ को ही प्रमुखता प्रदान की। हिन्दू और मुसलमान दोनों में कुछ चक्रधर और कुछ ख्वाजा महमूद उपस्थित थे, किन्तु स्थिति उनके सँभाले सँभल नहीं पाती थी। कुछ बलिदान होते थे और झगड़े थोड़ी देर रुक जाते थे, किन्तु फिर मुल्ला और पंडितों के पाखण्डपूर्ण मिथ्याचारों के परिणामस्वरूप 'धर्म खतरे में' की आहुति पड़ने पर यह द्वेषाग्नि फिर भड़क उठती थी। अनेक 'सूरे' इनसे ऊपर उठकर देश का पथ-प्रदर्शन करते अवश्य हैं, किन्तु इनका हृदय-परिवर्तन नहीं हो पाता। चाहे थोड़ी देर के लिए हमें दिखलाई अवश्य दे कि आदमी बदल गया है, किन्तु उसका फल तो अन्त में 'पाकिस्तान' हुआ ही जो आज भी भारत का सबसे बड़ा शत्रु बना हुआ है। 'प्रेमाश्रम' (१९२२), 'रंगभूमि' (१९२४), कायाकल्प (१९२८) सभी उपन्यास इस प्रश्न को आगे बढ़ाते हैं और बताते हैं कि सहिष्णुता ही इसका एकमात्र उपाय है और धार्मिक द्वेष के स्थान पर यदि प्रेम उत्पन्न हो जाय तो स्थिति सुधर सकती है। इसका आदर्श 'गोदान' में गोबर और उसके मुसलमान दोस्तों का आपसी व्यवहार है। जहाँ आपसी प्रेम ऊपर आ जाता है और धर्म की संकीर्ण कारा टूट जाती है, चाहे वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते प्रेमचन्द धर्म में आस्थाहीन होने के कारण शालिगराम और नमाज को क्रमशः 'बटिया' और 'उठक बैठक' कह दें, किन्तु समाज में मूल संघर्ष तो आर्थिक और निष्ठा का है, धर्म के वाह्य रूप और उससे उत्पन्न संघर्ष तो केवल थोड़ी देर के लिए अशिक्षितों को मूल प्रश्नों से भुलाये रखने के साधन मात्र

---

१. श्रीनाथसिंह (क्षमा : १९२५)।
भगवतीप्रसाद वाजपेयी (मीठी चुटकी : १९२७)।
भगवतीप्रसाद वाजपेयी (अनाथ पत्नी : १९२२)।
प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त' (तलाक : १९३२) आदि।

हैं। इस तथ्य को परोक्ष रूप से प्रेमचन्द जानते और मानते थे, किन्तु यह रूप 'गोदान' में ही उपस्थित हो सका, इससे पूर्व नहीं।

स्त्री-समस्या के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात करते समय उस युग में कुछ ऐसे उपन्यास भी लिखे गये[1], जिनमें नारी के आदर्श का खुलकर चित्रण हुआ। नारी पात्रों को जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उनके चरित्र की विशेषताओं का सुन्दर वर्णन किया गया। 'तितली' में प्रसाद ने एक कलापूर्ण आदर्श प्रस्तुत किया और नारी को उससे प्रेरित करके भारतीय संस्कृति और आदर्श की ओर उन्मुख किया। 'तितली' की तुलना में यूरोपीय महिला शैला को प्रस्तुत किया और दो विभिन्न तथा परस्पर-विरोधी जीवन-दर्शनों की तुलना करके सिद्ध किया कि भारतीय नारी के लिए कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है। आलोच्य काल में नारी की वीरता से ओत-प्रोत अन्य अनेक उपन्यास (जिनमें ऐतिहासिक उपन्यासों की मात्रा ही अधिक है) लिखे गये। इस काल में देशभक्ति के आन्दोलन ने इस ओर उपन्यासकारों को प्रेरित करने का कार्य किया। विधवा की समस्या, जो हिन्दू समाज के भाल का कलंक बनी हुई थी, 'प्रतिज्ञा' (१९२८) में अपने नवीन स्वरूप के साथ प्रस्तुत की गई। विधवा के समक्ष कितने विकल्प आते हैं और अपने जीवन-चक्र को अग्रसर करने में उसके सामने कितनी कठिनाइयाँ आती हैं, इसका सुन्दर वर्णन इस प्रकार के उपन्यासों में किया गया है। जैनेन्द्र ने 'परख' (१९३०) लिखकर इस समस्या को मनोवैज्ञानिक कसौटी पर परखने की स्तुत्य चेष्टा की। आदर्शवादी प्रेमचन्द के लिए उस काल में यह असम्भव था कि किसी सामाजिक दोष का चित्र दें और उसका निराकरण न दें, फलस्वरूप विधवा-समस्या का निराकरण भी आर्य समाजियों की भाषा तथा पद्धति के अनुसार 'पुनर्विवाह' कराके प्रस्तुत किया गया। विधवाओं की समस्याओं का आकलन इस काल के अनके अन्य उपन्यासों का भी विषय रहा है।[2]

---

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी (त्यागमयी : १९३२)।
शिवरानी देवी (नारी हृदय : १९३२)।
गोविन्द वल्लभ पन्त (मदारी : १९३६)।
उषादेवी मित्रा (वचन का मोल : १९३६) आदि।

२. तेजरानी दीक्षित (हृदय का काँटा : १९२८)।
चन्द्रशेखर शास्त्री (विधवा के पत्र : १९३३)।
चतुरसेन शास्त्री (अमर अभिलाषा : १९३३, आतमदाह : १९३६ तथा नीलमाटी : १९४०)।

स्वच्छन्द-प्रेम के विवेचन के बिना नारी-समस्या अधूरी रहेगी। इस काल की कविता में नर और नारी के स्वच्छन्द प्रेम को अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों (विशेषत: शैले और ब्राउनिंग आदि) के प्रभाव से उन्मुक्त विचरण का सुयोग उपलब्ध हुआ; जिसका प्रभाव साहित्य की अन्य विधाओं पर पड़ना भी स्वाभाविक था। हमारे प्राचीन काव्यों में भी प्रेम की प्रधानता रही है (भागवत में तो जार-प्रेम को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है) और बंगला के तत्कालीन उपन्यासकारों में भी इस प्रेम की परिपाटी चल पड़ी थी, अत: इन सबसे प्रभावित हिन्दी-उपन्यासकार भी इस ओर उन्मुख हुआ। उसकी दृष्टि घर के बाहर गई और जहाँ कहीं जिस किसी जाति, धर्म या देश की नारी उसे भा गई, वह प्रेम-सूत्र में खिच चला। यहाँ तक आते-आते ये बन्धन तो शिथिल होने ही लगे थे। वृन्दावनलाल वर्मा ने 'प्रेम की भेंट' (१९३१) और 'कुण्डली चक्र' (१९३२) उपन्यास लिखे, जिनमें उन्मुक्त प्रेम को प्रश्रय दिया गया। इस प्रश्न में जाति धर्म और राष्ट्रीयता आदि से ऊपर उठकर प्रेम को महत्व तो दिया गया किन्तु प्रेम के इस आदर्श की झोंक में प्रेमचन्द ने यथार्थ का ही पल्ला पकड़ा, जबकि प्रसाद और आगे बढ़ गये और इन्द्रदेव तथा शैला जैसी जोड़ियाँ उपस्थित कर दीं। 'आलोचना' अंक १३, पृष्ठ ८३ पर इस ओर इंगित करते हुए और प्रेमचन्द की सीमा-रेखा को स्पष्ट करते हुए डा० रामरतन भटनागर ने लिखा है, "उपन्यासकारों ने इस प्रश्न को उठाया, पर वे सामाजिक विद्रोह की सीमा तक न उठ सके। फलतः हत्याओं और आत्मघातों के द्वारा एक प्रकार के समाधान को प्रस्तुत किया गया। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द इसीलिए सोफिया का बलिदान कर देते हैं और 'कर्म-भूमि' में सकीना के आकस्मिक परिवर्तन से उसके चरित्र को गिरा देते हैं।" इस युग के उपन्यास को मध्यवित्तीय मनोभावना का श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब स्वीकार करके भी डा० भटनागर यह भूल जाते हैं कि यदि इस प्रकार के विवाह करा दिये जाते तो यह अयथार्थ होता—आदर्श चाहे भले ही हो। समाज में गुप-चुप यह चल सकता था, किन्तु खुलकर ऐसा करना मध्य वर्ग के लिए सम्भव न था। दूसरे, सामाजिकता का भूत और आर्थिक-आश्रय व्यक्तियों को सामाजिक विद्रोह करने ही नहीं देता था, तब भला यथार्थ के जबरदस्त हिमायती प्रेमचन्द उसे अपने उपन्यास में स्थान कैसे देते? यह तो प्रेमचन्द के प्रति सरासर अन्याय है और उनसे ऐसी आशा करना उपन्यास-कला और प्रेमचन्द दोनों का अपमान है। उस काल में अनेक 'सोफियाएँ' इसी प्रकार किसी न किसी बहाने अपने प्राण दे बैठीं और बहुत सी 'सकीनाएँ' अपनी इच्छाओं के विरुद्ध धर्म और मर्यादाओं के नाम पर बलिदान हो गईं। नारी की सबसे बड़ी विडम्बना तो इसी में निहित है कि वह परम्पराओं और धर्मान्धताओं के

पाशों को अपनी स्वीकृति मान बैठी है। 'गोदान' के नायक होरी की छोटी पुत्री एक बुड्ढे के साथ ब्याह दी जाती है और वह उसी में प्रसन्न है। वह शृङ्गार पति के लिए नहीं वरन् स्वयं अपने लिए करती है और विवाह का उद्देश्य यह मान लेती है कि बाप के लिए एक दूध की गाय अपनी ससुराल से भेज सके। डा० भटनागर सम्भवतः इस भयंकर ट्रेजेडी को समझने में असमर्थ रहे हैं जो भारतीय नारी के जीवन का अभिशाप बनकर रह गई है।

उन्मुक्त-प्रेम की समस्या जो 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' से उठाई गई थी, 'गढ़ कुण्ढार' से होती हुई 'सुनीता' (१९३६) में अपनी मार्मिक अभिव्यक्ति पा गई। नारी अपने पति के अतिरिक्त अन्य से (चाहे वह पति का मित्र ही क्यों न हो और चाहे पति की ही आज्ञा उसे रोक रखने के लिए मिली हो) प्रेम करती है और इसमें विशेषता यह है कि पर-पुरुष-प्रेम उसके पति-प्रेम का विरोधी नहीं है—हाँ, बीच-बीच में जब वह अपने को कमजोर पाती है तो पतिव्रत-धर्म की शरण जाकर साहस जुटाने का प्रयत्न करती है। यहाँ हमें अन्त में आदर्शवाद के ही दर्शन होते हैं, किन्तु यह आदर्श भी अयथार्थवादी नहीं है। यह भी सम्भाव्य और औचित्य की कसौटी पर खरा उतरने वाला आदर्श है। आदर्श भी तो यथार्थ है, अतः उसे यथार्थ का विरोधी नहीं समझा जा सकता।

हिन्दी के कुछ अन्य आलोचकों ने 'सुनीता' के इस 'विवस्त्र दृश्य' की बड़ी मजाक उड़ाई है और इसे चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन तथा 'उग्र' के तथाकथित 'घासलेटी-साहित्य' की सीमा-रेखा तक खींच ले गये हैं। यह उनका अन्याय है। जिस कथा-साहित्य को 'घासलेटी' कहा गया, उसका सबसे बड़ा गुण (?) यह बताया गया कि उपन्यासकार अश्लील, कामुकतापूर्ण, घृणित और नग्न यौन दृश्यों के चित्रण में स्वयं रस लेता प्रतीत होता है, जिससे पाठकों की विकृति उत्तेजित होती है। इन सामाजिक जघन्यताओं के प्रति सामान्य पाठक कौतूहल वृत्ति से आकर्षित होते हैं, विगर्हणीय दृष्टि से घृणा नहीं करते; किन्तु 'सुनीता' में यह वर्णन तटस्थ दृष्टिकोण से किया गया है तथा हरिप्रसन्न के साथ ही पाठक भी इस ओर से आँख मूँदकर तीव्रता से आगे की ओर बढ़ता है। हाँ, जिनकी आँखें ऐसे दृश्यों की खोज में रहती हैं, वही ठहरकर उधर देखते हैं और फिर उस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि यह तो आदर्श के विरुद्ध है। 'सुनीता' की अन्य उपन्यासों[1] से तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है।

---

१. गंगाप्रसाद श्रीवास्तव (गंगाजमुनी : १९२७)। (शेष आगे पृष्ठ पर)

जो लोग रक्त की शुद्धता और अभिजात्य परम्पराओं की दुहाई देते थे, उनकी खिल्ली शुद्ध यथार्थवादी उपन्यासों में उड़ाई गई है। उदाहरणस्वरूप 'कंकाल' (१९३०) में दिखाया गया है कि 'जितने सफेदपोश हैं सभी वर्णसंकर हैं और जाति तथा वर्ण का मिथ्या अहंकार व्यर्थ है। इस उपन्यास में पीड़ित मानवता की मार्मिक व्यंजना है जो अपना प्रभाव डालकर ही रहती है। शराबखोरी और धार्मिक दम्भ तथा आचारों की खुल कर धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। कुछ लोग 'कंकाल' को प्रकृतवादी (Naturalistic) उपन्यासकर जोला, फ्लावेयर व मोपासाँ की कोटि में रखते हैं[1] किन्तु यह तो प्रकृतवाद को उसके मूल रूप में न समझने का परिणाम है। 'कंकाल' यथार्थवादी-समस्यामूलक उपन्यास है जिसमें केवल समस्याओं को उठाया गया है, उनका हल नहीं दिया गया है। कला की दृष्टि से यह उच्चकोटि का मान-दण्ड माना गया है, जब कि कलाकार अपने उद्देश्य को अधिकाधिक गुप्त और अप्रत्यक्ष रखता है। आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद को स्वीकार करने वाले प्रेमचन्द भी 'गोदान' में इस प्रकार के हल देने के पक्ष में नहीं रहे थे—जिसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि उन्हें तत्कालीन समाज-व्यवस्था में आस्था नहीं रही थी और इसके निराकरण का एकमात्र उपाय वे नवीन सामाजिक मूल्यों की स्थापना मानते थे। यदि 'गोदान' प्रकृतवादी उपन्यास है तो 'कंकाल' को भी उस कोटि में रखा जा सकता है और इससे 'कंकाल' की गौरव-वृद्धि की आशा है।

ग्रामीण और आर्थिक समस्याओं को लेकर इस काल में सर्वाधिक कथा साहित्य लिखा गया। स्वयं प्रेमचन्द और उनके समकालीन अनेक उपन्यासकार ग्रामीण क्षेत्र के निवासी थे। इन्होंने अपने इस अनुभव को उपन्यासों के माध्यम से व्यक्त किया। कांग्रेस का आन्दोलन जब तक केवल शहरी जनता के आकर्षण का केन्द्र बना रहा तब तक उसमें व्यापकता की कमी रही थी। महात्मा गांधी ने अन्त में गाँवों की ओर कदम उठाने की प्रेरणा दी। शहर के नेता भी गाँवों का दौरा करने लगे। महात्माजी शहरों में भी झोंपड़ी बनाकर किसान के समान जीवन बिताने लगे। श्रम के महत्व को स्थापित करने और ग्रामराज्य के आधारभूत सिद्धान्त 'खद्दर' की प्रतिष्ठा-स्थापन से हिन्दी कथाकार भी ग्रामीण जनता की ओर उन्मुख हुए। बँगला में 'पल्ली समाज' लिखा गया और हिन्दी में प्रेमचन्द और प्रसाद ने व्यापक दृष्टिकोण से प्रेरित होकर

चतुरसेन शास्त्री (हृदय की परख : १९१८ तथा व्यभिचार : १९२८)। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (दिल्ली का दलाल : १९२७, बुधुआ की बेटी : १९२८ तथा शराबी : १९३०)।

१. डा० रामरतन भटनागर का लेख : 'आलोचना', अंक १३ पृ० ८५।

अनेक उपन्यास लिखे। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' में जिस कृषक समस्या को उठाया है, वह 'गोदान' का अमर वरदान पाकर धन्य हो गई है। प्रसाद ने 'तितली' में इस समस्या पर विविध पहलुओं से दृष्टिपात किया है किन्तु सारी परम्परा और पृष्ठभूमि प्रेमचन्द की ही है। 'तितली' की बजरिया 'प्रेमाश्रम' के आश्रम का ही प्रतिरूप है।

गाँवों में समस्याओं की सीमा नहीं और उनको देखने वाली आँखें भी प्रेमचन्द की हैं, जिनमें सारे विश्व की बारीकियों तक पहुँचने की अपूर्व क्षमता है। काँग्रेस का आन्दोलन चाहे स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रयत्न रहा हो, किन्तु उससे भारतीय समाज में विभिन्न वर्ग और उनके संघर्ष उभर कर सामने आ गये थे। अंग्रेजों के सहायक निहित स्वार्थ वाले एक ओर थे और उन्हें अपदस्थ करके जनतंत्रात्मक स्वशासन स्थापित करने वाले क्रान्तिकारी नेता और उनकी अनुगामिनी जनता दूसरी ओर। अंग्रेजों के सबसे बड़े सहायक राजा, नवाब, रईस, मिलमालिक और बड़े-बड़े सरकारी अफसर थे, जो एक ओर तो अंग्रेजों की गुलामी और खुशामद करते थे और दूसरी ओर सामान्य जनता का शोषण। इस काल का कलाकार शोषित की ओर झुका और उसकी दृष्टि मानवतावादी रही। वह तटस्थ न रह सका, क्योंकि वह भी मध्यवर्गीय था और उसने या तो कला के माध्यम से अथवा सक्रिय रूप से जन-आन्दोलन का ही पक्ष स्वीकार किया।

ग्रामीण क्षेत्र में छुआछूत, ऋण, वर्णव्यवस्था, जमींदारी प्रथा, पारस्परिक वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, पुलिस तथा शासक का अत्याचार, झूठी मुकदमेबाजी, बेगार, घूस, बहुविवाह, अनमेल विवाह, अकाल, महावृष्टि, खेतों पर अतिरिक्त बोझ, कृषि-श्रमिक प्रश्न तथा पूँजीपति का कारखाने हेतु भूमि हस्तगत करना और अंग्रेजों का ग्रामीण भूमि में नील की कोठी बनाकर अन्न के स्थान पर नील की खेती करना आदि हैं। अन्तिम प्रश्न 'तितली' और उससे पहिला 'रंगभूमि' में अपनी सम्पूर्ण सम्भावनाओं के साथ उभारा गया है और शेष प्रश्न तो प्रेमचन्द, मन्नन द्विवेदी (रामलाल : १९२१) तथा शिव पूजन सहाय (देहाती दुनिया : १९२६) आदि अनेक उपन्यासकारों ने उठाये हैं।

प्रेमचन्द में सबसे पहले ग्रामीण समस्याओं के दर्शन 'प्रेमश्रम' में होते हैं। 'सेवा-सदन' से अगला कदम क्षेत्र की व्यापकता की दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' को माना जाता है, किन्तु आदर्श के प्रति मोह इसमें प्रबल हो उठा है। इसमें प्रेमचन्द का उपदेशात्मक रूप उभर कर सामने आ गया है। इसमें पात्र और घटनाएँ लेखक द्वारा निर्देशित प्रतीत होते हैं। यद्यपि 'प्रेमाश्रम' में किसानों की दुरवस्था, जागीरदारों के अत्याचार, पुलिस के हथकंडे, अफसरों और उनके मातहतों की धाँधली, वकीलों की नमकहरामी और न्यायधीशों का अन्धापन

आदि ऐसे प्रश्न हैं जिन पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु आर्थिक समस्या और उसकी मूलभूत स्थिति का चित्रण इसमें नहीं है। हाँ, उसकी ओर इंगित तो मिलता है किन्तु समस्या अपने बहुमुखी स्वरूप में प्रस्तुत नहीं हो सकी है।

आपस की फूट, स्वार्थपरता आदि को किसान की दुरवस्था उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का कारण प्रेमचन्द मानते हैं।[1] कहीं-कहीं उन्होंने मार्क्सवादी और गाँधीवादी दर्शनों के सामंजस्य के आधार पर जमींदारी प्रथा और उसके कर्णधार जमींदारों को खूब कोसा है।[2] किसानों की दीनता का कारण वह जमींदारी को ही मानते थे। 'प्रेमाश्रम' का लखनपुर

---

१. "दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन पर (किसानों पर) नहीं बल्कि उन परिस्थितियों पर है जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है। और ये परिस्थितियाँ क्या हैं? आपस की फूट, स्वार्थपरायणता और एक ऐसी संस्था का विकास जो उनके पाँव की बेड़ी बनी हुई है।" ('प्रेमाश्रम', पृ० ३११।)

२. "भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है, इसलिए उसे किसानों से कर लेने का अधिकार है, चाहे प्रत्यक्ष रूप से ले या इससे कम आपत्ति-जनक व्यवस्था करे। अगर किसी अन्य वर्ग या श्रेणी को मीरास, मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य-पदार्थ बनाने को स्वच्छन्दता दी जाती है तो इस प्रथा को वर्तमान समाज-व्यवस्था का कलंक-चिह्न समझना चाहिए। जमींदार को समझना चाहिए कि वह प्रजा का मालिक नहीं वरन् उसका सेवक है। यही उसके अस्तित्व का उद्देश्य और हेतु है, अन्यथा संसार में उसकी कोई जरूरत न थी, उसके बिना समाज के संगठन में कोई बाधा न पड़ती। वह इसलिए नहीं है कि प्रजा की पसीने की कमाई को विलास और विषय-भोग में उड़ाये, उनके टूटे-फूटे झोंपड़ों के सामने अपना ऊँचा महल खड़ा करे, उनकी नम्रता को अपने रत्नजटित वस्त्रों से अपमानित करे, उनकी सन्तोषमय सरलता को अपने पार्थिव वैभव से लज्जित करे, अपनी स्वाद-लिप्सा से उनकी क्षुधा-पीड़ा का उपहास करे। अपने स्वत्वों पर जान देता हो, पर अपने कर्त्तव्य से अनभिज्ञ हो, ऐसे निरंकुश प्राणियों से प्रजा की जितनी जल्द मुक्ति हो, उनका भार प्रजा के सिर से जितनी ही जल्दी दूर हो, उतना ही अच्छा है।" ('प्रेमाश्रम', पृ० ६४२।)

ग्राम प्रेमचन्द के आदर्श-ग्राम का प्रतीक है। गाँव में रहा जाय, १०-५ जानवर पाल लिये जायँ और किसानों की सेवा की जाय तो जीवन सफल है। उपेन्द्रनाथ अश्क को ऐसी अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा था। उनके लखनपुर की जमींदारी समाप्त होने पर जो कायापलट हो गई है, वह स्थिति उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन होने के सात वर्ष पश्चात् भी नहीं आ पाई है। देखिए—"मुंशी को देखो, पहिले बीस बीघे का काश्तकार था, १००) लगान देने पड़ते थे। दस बीस साल नजराने में निकल जाते थे। अब जुमला २०) लगान है और नजराना नहीं लगता। पहिले अनाज खलियान से घर तक न आता था। आपके चपरासी-कारिन्दे वहीं दबाकर तुलवा लेते थे। अब अनाज घर में भरते हैं और सुभीते से बेचते हैं। दो साल में कुछ नहीं तो तीन चार सौ बचे होंगे। डेढ़ सौ की एक जोड़ी बैल लाए, घर की मरम्मत कराई, सायवान डाला। हाँडियों की जगह ताँबे और पीतल के बर्तन लिए और सबसे बड़ी बात यह है कि अब किसी की धौंस नहीं। मालगुजारी दाखिल करके चुपके से घर चले आते हैं, नहीं तो जान सूली पर चढ़ी रहती थी। अब अल्लाह की इबादत में भी जी लगता है; नहीं तो नमाज भी बोझ मालूम होती थी।" (प्रेमाश्रम', पृ० ६४३)। प्रेमाश्रम केड ाक्टर इर्फान अली, डा० प्रियनाथ, दयाशंकर थानेदार, सुक्खू चौधरी, बिसेसर शाह, रायकमलानन्द और रानी गायत्री देवी आदि सभी प्रेमचन्द की आदर्शवादी नीति के फलस्वरूप अन्त तक आते-आते परिवर्तित हो जाते हैं और पवित्र जीवन व्यतीत करने लगते हैं। मनोविज्ञान की कसौटी पर इनमें ये दोष पाया जाता है कि कोई व्यक्ति जो जीवन भर जिस मार्ग पर चले यकायक बिलकुल बदल कर दूसरे मार्ग पर चलने लगे। किसान की समस्या प्रेमाश्रम बनने पर भी जब न सुलझी तो 'कर्मभूमि' का अमरकान्त और 'रंगभूमि' का विजय शहरी सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करके ग्रामसुधार आन्दोलन को सफल करने के लिए जाते हैं—वे आश्रम तो नहीं बनाते किन्तु दिशा वही है। प्रेमचन्द 'गोदान' से पहिले यह नहीं समझ पाये कि इन समस्याओं के लिए समाज में आमूल परिवर्तन (क्रान्ति) की आवश्यकता है—वे सुधारवादी बने रहे और वर्तमान व्यवस्था में ही कुछ परिवर्तन करके उसे सुधारने का प्रयत्न करते रहे। इन प्रयत्नों का फल पात्रों और घटनाओं का आदर्श की ओर मुड़ जाना हुआ, किन्तु 'गोदान' में आकर वह समस्या का हल देने की व्यग्रता से छूट गये हैं। उन्होंने 'गोदान' में होरी के माध्यम से किसान की समस्त चिन्ताओं और समस्याओं को मुखरता प्रदान की है। 'गोदान' में अन्य उपन्यासों की भाँति शहर और देहात की कथाएँ चलती हैं। कुछ आलोचकों ने इस कथानक को दोषपूर्ण मानकर दोनों कथाओं को एक दूसरे से असम्बद्ध बताया है। नन्द-

दुलारे वाजपेयी का मत है कि 'गोदान' के दोनों कथानक परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं और उनमें वास्तविक ऐक्य की कमी है।[1] किन्तु नलिन विलोचन शर्मा ने इसी पार्थक्य को उपन्यास का सर्वोत्तम गुण कहा है। पाठक को किसान की कठिनाइयों और जटिल समस्याओं की भयंकरता का ठीक-ठीक ज्ञान तभी होता है जब वह शहरी लोगों तथा जमींदारों के जीवन को देखता और जाँचता चलता है—दोनों की तुलना करता चलता है। होरी की सारी कठिनाइयों का कारण शहर के रायसाहब, पुलिस और गाँव में उनके एजेन्ट हैं। ये एजेन्ट ही सारी प्रक्रिया के सूत्रधार दिखाई देते हैं, जबकि संकट का मूल कारण शहर है। किसानों के व्यापार और जीवन को बरबाद करने वाली मिलें खुलकर उनके गृह उद्योगों को ही समाप्त नहीं करतीं, वरन् उन्हें धीरे-धीरे किसान से मजदूर बना रही हैं। किसान टूट रहा है और टूटकर मजदूर बन रहा है। अन्त में होरी से भी उसका खेत छिन जाता है और वह मजदूरी करते-करते

---

१. "ग्रामीण पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली कथा आधिकारिक या मुख्य कथा है। नागरिक पात्रों को उपस्थित करने वाली कथा प्रासंगिक या गौण है। 'गोदान' में इन दोनों कथाओं को एक सम्बन्ध सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु प्रश्न यह है कि प्रयत्न कहाँ तक सफल या समीचीन हुआ है। नागरिक और ग्रामीण पात्रों के बीच सम्बन्ध स्थापन का कार्य गाँव के जमींदार रायसाहब द्वारा पूरा होता है। गाँव की रामलीला देखने के लिए रायसाहब के नागरिक मित्र उनके घर आते हैं। यहीं 'मालती हरण' का एक मनोरंजक और अनोखा दृश्य दिखया जाता है। दूसरी ओर ग्रामीण पात्र गोबर कुछ दिनों तक शहर में रहता है और उपन्यास के नागरिक पात्रों के सम्पर्क में आता है। परन्तु नागरिक और ग्रामीण पात्रों का यह सम्मिलन इतना घनिष्ट नहीं होता कि एक दूसरे के जीवन क्रम को प्रभावित करे और समस्त कथानक को समन्वित कर एक ही मुख्य कथा का अंग बना ले। पारसी नाटकों में प्रायः मुख्य कथा के साथ हास्य या विनोद प्रधान एक दूसरी कथा जुड़ी रहती थी, जिसका प्रयोजन होता था मुख्य कथा की गम्भीरता को कम कर दर्शकों का मनोरंजन करना। वास्तव में दोनों कथाएँ एक दूसरे से नितान्त भिन्न और स्वतन्त्र होती थीं। किसी भी स्थल पर उनके कथातंतु जुड़े नहीं होते थे। ऐसी रचनाओं में कथानक की संगति का प्रश्न ही नहीं उठता। 'गोदान' उपन्यास में उक्त दोनों कथानक यद्यपि परस्पर इतने असम्बद्ध नहीं हैं, फिर भी उनमें वास्तविक ऐक्य की कमी अवश्य है।" ('आधुनिक साहित्य' नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १४७।)

समाप्त हो जाता है। इसे पटेश्वरी, नोखे, दातादीन आदि एक बार नहीं मारते वरन् धीरे-धीरे चूसते रहते हैं।

जैनेन्द्रजी ने अपने उपन्यासों में शहरी जीवन को स्वीकार किया और मध्यवर्गीय समाज की नारियों की दशा को प्रमुखता प्रदान की। उनके कथानक सुगठित और श्रृंखलाबद्ध होते हैं। प्रेमचन्दजी का 'गबन' भी कला की दृष्टि से एक सुन्दर कथानक उपस्थित करता है। एक साधारण उद्देश्य को लेकर इतना बड़ा उपन्यास लिखना प्रेमचन्द की उपन्यास-कला की विशेषता है। रमानाथ शहरी लड़कों के समान अपनी पत्नी के सामने डींग हाँकने वाला और उसकी पत्नी जालपा मध्यवर्गीय शहरी नारियों के समान जेवरों पर जान देने वाली है। इन्हीं पात्रीय-विशेषताओं से सारे कथानक की सृष्टि की गई है। 'गबन' में तत्कालीन सूदखोर महाजनों की धार्मिक मनोवृत्ति का खूब मजाक उड़ाया गया है। नायक को अनेक परिस्थितियों में डालकर उसके चरित्र की विशेषताओं का वर्णन करना इस उपन्यास का मूल उद्देश्य है। यहाँ पात्र कहीं अमनोवैज्ञानिक हो गये हैं या उनका उचित समाधान न होने पर लेखक उनकी हत्या करने का अचूक अस्त्र स्वीकार करता है। पुलिस किस प्रकार झूठे मुकदमे और मुखबिर बनाती है तथा उन्हें अनेक प्रलोभन देकर फँसाये रखती है, पुलिस कर्मचारियों का चरित्र कैसा होता है आदि प्रश्नों पर 'गबन' में यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। देवीदीन और जग्गो जैसे परोपकारी और स्वाभाविक गतिशील पात्रों द्वारा गरीबों और निम्न-वर्गीय लोगों का जीवन सामने लाया गया है।

कथानकों की दृष्टि से आलोच्य-काल में शहरी और देहाती दोनों प्रकार के कथानकों को स्वीकार किया गया और प्रेमचन्द जैसे प्रतिनिधि कलाकारों ने दोनों का समन्वय ही श्रेष्ठ समझा। कुछ उपन्यासों में शिथिल कथानक रहे, किन्तु गबन, सुनीता, कंकाल आदि सुगठित कथानक वाले उपन्यासों की भी कमी नहीं है। इस काल के अधिकांश उपन्यास समस्या-मूलक हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा ने भारतीय इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों को उपन्यास के प्लेटफार्म से गाकर सुनाया, जिसे सुनकर सारा हिन्दी पाठक-जगत तन्मय हो गया। उन्होंने सर वाल्टर स्कॉट की पद्धति पर बुन्देलखण्ड की प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और वीरता की कथाओं को उपन्यासों का कथानक बनाया। इस युग ने कंकाल, सुनीता, अलका और तलाक जैसी रचनाओं द्वारा गहराई से सामाजिक प्रश्नों पर विचार किया और होरी के द्वारा टाइप चरित्रों का निर्माण किया। गाँधीजी का स्वरूप अंकन 'सूरे' (रंगभूमि) के माध्यम से किया गया जो अन्त में १९४८ में आकर सत्य सिद्ध हुआ। धनिया जैसी साहसी और सुनीता जैसी द्वन्द्वमयी नारियाँ देखने को मिलीं।

शैली शिल्प की दृष्टि से उपन्यास लेखन की प्रायः सभी प्रणालियाँ इस काल में प्रयुक्त हुईं। प्रेमचन्द के उपन्यास वर्णनात्मक शैली में लिखे गये। प्रसाद ने भी प्रायः इसी शैली का अनुसरण किया। 'त्यागपत्र' में जैनेन्द्र ने आत्म-चरित्र प्रणाली को स्वीकार किया। उग्र ने पत्रात्मक प्रणाली की भी छटा खूब दिखाई। भाषा की दृष्टि से यह युग पूर्ण विकसित कहा जायगा। कांग्रेस और महात्मा गाँधी तक ने प्रेमचन्द की भाषा को 'हिन्दुस्तानी' संज्ञा देकर सारे देश की सार्वजनिक भाषा (राज्य भाषा) होने का गौरव प्रदान किया। प्रेमचन्द तथा अन्य उनके अनुयायियों ने पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया। उनके हिन्दू पात्र जहाँ संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त भाषा बोलते हैं वहाँ मुसलमान पात्र सलीस उर्दू। भाषा के इस चमत्कार का यह परिणाम हुआ कि अनेक अहिन्दी भाषा-भाषियों ने प्रेमचन्द के उपन्यास पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी और प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्रचार मद्रास तक में यथेष्ट हुआ। भारत की सभी भाषाओं में उनके अनुवाद प्रकाशित हुए। जो हिन्दी अब तक केवल दूसरों से लेना ही सीखी थी, इस काल में प्रेमचन्द जैसा कलाकार पाकर भारतीय भाषाओं को ही नहीं, विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं को कुछ दे सकने की स्थिति में हो गई। 'गोदान' विश्व-साहित्य की अमर कृतियों में स्थान पाकर भारत का सौभाग्य-सूर्य माना जाने लगा। इन उपन्यासों में राजाओं से लेकर सड़क पर भीख माँगने वाले भिखारी तक—महलों से लेकर झोंपड़ी तक—कुलवधुओं से लेकर वेश्याओं तक—कलकत्ते से लेकर छोटे-छोटे गाँवों तक—गवर्नर से लेकर पटवारी तक—ब्राह्मणों से लेकर महतरों तक सभी की समस्याओं को अभिव्यक्ति मिली। इस युग तक आते-आते हिन्दी उपन्यास को यथार्थ ओर मनोविज्ञान आदि के नवीन आधार उपलब्ध हुए, जिन पर खड़े होकर उसका भवन सुदृढ़ और विशाल होने लगा तथा 'गोदान' और 'सुनीता' जैसे स्वर्ण-दीप जगमगाने लगे।

१६. हिन्दी उपन्यास का क्रमिक-विकास (३)

आधुनिक युग

हिन्दी उपन्यास साहित्य का आधुनिक दौर 'गोदान' और 'सुनीता' के प्रकाशन (१९३६) से प्रारम्भ होता है। इस युग तक आते-आते भारतीय समाज यथेष्ट परिवर्तित हो चुका था। पुरानी समस्याएँ या तो नवीन परिवेष्ठन स्वीकार कर चुकी थीं या भिन्न स्वरूप। १९३६ से १९५९ तक २३ वर्ष का एक लम्बा समय बीत चुका है, जिसमें द्वितीय महायुद्ध, असहयोग आन्दोलन, साम्प्रदायिक दंगे और स्वतन्त्रता प्राप्ति (जिसमें भारत के विभाजन की समस्या भी सम्मिलित है) तथा पंचवर्षीय योजनाएँ आदि प्रमुख हैं—हमारा आलोच्य-काल है।

सारे देश की राजनीतिक गतिविधि कांग्रेस के साथ जुड़ी हुई थी। गाँधीजी ने १९३० में ६ अप्रैल को समुद्र के किनारे नमक बनाकर नमक कानून तोड़ा था और उसके पश्चात् जन-आन्दोलन का भयंकर तूफान उठ खड़ा हुआ कि गवर्नमेन्ट यकायक परेशान हो उठी। गाँधीजी ने सारे देश को यहाँ तक कि विद्यार्थियों तक को इसके लिए पुकारा था—"हर गाँव को चाहिए कि वह गैर सरकारी नमक बनाये। बहिनों को शराब की दूकानों, अफीम के ठेकों और विलायती कपड़े की दुकानों के सामने धरना देना चाहिए। हर घर के नौजवानों और बूढ़ों को चाहिए कि वे रोज तकली चलाएँ और ढेर का ढेर सूत कातकर कपड़ा बुनवाएँ। विलायती कपड़ा जला देना चाहिए। हिन्दुओं को छुआछूत मिटा देना चाहिए। हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी और ईसाई—सबको हृदय की एकता स्थापित करनी चाहिए। अल्पसंख्यकों को सन्तुष्ट करने के बाद जो कुछ बचे, बहुसंख्यकों को उसी से सन्तोष करना चाहिए। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे सरकारी स्कूलों और कॉलेजों को छोड़ दें। सरकारी नौकरों को स्तीफा देकर जन-सेवा में लग जाना चाहिए। ऐसा करने पर हम देखेंगे कि पूर्ण स्वराज्य खुद हमारा दरवाजा खटखटा रहा है।" जन-आन्दोलन अंग्रेजों के दबाने पर और भी जोर से भड़क उठा। पूर्ण हड़तालें हुई। चटगाँव के शस्त्रागार पर छापा मारा गया। किसानों ने स्वयं

लगानबन्दी आन्दोलन जारी कर दिया (उत्तर प्रदेश में विशेष रूप से)। गढ़वाली सिपाहियों की १८वीं रौयल गढ़वाल रायफिल्स के सिपाहियों ने पेशावर शहर की जनता पर गोली चलाने से इनकार कर दिया। ५ मई को गाँधीजी की गिरफ्तारी पर देशव्यापी हड़तालें होने लगीं। शोलापुर के ५० हजार मजदूरों ने शहर पर कब्जा कर लिया और सात दिन तक उनका शासन चलता रहा। काँग्रेस गैरकानूनी संस्था घोषित कर दी गई तथा ६० हजार सत्याग्रहियों को सजाएँ दी गईं। सन् १९३४ के पटना अधिवेशन में अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी ने सत्याग्रह वापिस ले लिया और आने वाले चुनावों में काँग्रेस के नाम पर चुनाव लड़ना पसन्द किया। चुनाव लड़ा गया और कई प्रदेशों में काँग्रेस भारी बहुमत से विजयी हुई और काँग्रेस की सरकारें बनीं। इन सरकारों ने कुछ सुधार किये तथा एक राष्ट्रीय कार्यक्रम अपनाया।

१९३९ में यकायक द्वितीय विश्वयुद्ध भड़क उठा। जब ब्रिटेन जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर चुका तो उसके कुछ घंटे पश्चात् ही भारतीय वायसराय ने भारत को भी युद्ध में सम्मिलित कर दिया। काँग्रेस ने इसका विरोध किया और अन्त में जब वायसराय ने उनकी बात न मानी तो काँग्रेस मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया। त्यागपत्र देकर १९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। बड़ी-बड़ी हड़तालें हुईं और युद्ध-विरोधी प्रदर्शन किये गये। व्यक्तिगत सत्याग्रह १९४१ तक चलता रहा। इस बीच जर्मनी ने रूस पर भी हमला कर दिया। ब्रिटेन तथा रूस में समझौता हो गया तो भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी ने अंग्रेजों की सहायता करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु काँग्रेस ने इसे एक उपयुक्त अवसर समझकर अंग्रेजों पर दवाब डाला कि भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय। अंग्रेजों ने इसे स्वीकार नहीं किया तो गाँधीजी ने ८ अगस्त १९४२ को 'भारत छोड़ो' का नारा लगया तथा बम्बई में काँग्रेस ने अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव पास किया—"भारत की स्वतन्त्रता तथा स्वाधीनता के अधिकार को मनवाने के लिये अधिक से अधिक व्यापक पैमाने पर जन-संघर्ष आरम्भ किया जाय, ताकि पिछले २२ वर्षों में देश ने शान्तिपूर्ण संघर्ष चलाकर जितनी भी अहिंसक शक्ति संचित की है, उसका वह उपयोग कर सके।" ९ अगस्त को महात्मा गाँधी तथा अन्य प्रमुख कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गये। इस पर देश भर में प्रदर्शन तथा व्यापक हड़तालें हुईं। धीरे-धीरे आन्दोलन व्यापक बनने लगा और लाखों व्यक्तियों ने इसमें खुलकर भाग लिया। सरकार जितना तीव्र दमनचक्र चलाती थी, जनता उतनी ही गोपनीयता और व्यापकता के साथ आन्दोलन को चला रही

थी। घर-घर में लीडर और संगठक उत्पन्न हो गये थे। अनेक गुप्त अखबार और बुलेटिन निकलते थे, जिन्हें सरकार रोकने की चेष्टा करती थी, पर उनका अधिकाधिक प्रचार होता जा रहा था। अंग्रेजों ने हजारों आदमियों को गिरफ्तार किया तथा सैकड़ों गोलियों के शिकार हुए। दिसम्बर १९४२ तक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ६२,२२९ व्यक्ति गिरफ्तार हुए। १८,००० भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत बिना मुकदमा चलाये ही जेलों में बन्द कर दिये गये; ९४० व्यक्ति पुलिस या फौज की गोलियों से मारे गये और १,६३० जख्मी हुए।

६ मई १९४४ को अस्वस्थ होने पर अंग्रेजों ने गाँधीजी को जेल से छोड़ दिया। गाँधीजी ने जेल से बाहर आकर कहा, "८ अगस्त १९४२ के प्रस्ताव का जन-सत्याग्रह सम्बन्धी भाग स्वयं रद्द हो गया है, क्योंकि आज लौटकर १९४२ की ओर नहीं जाया जा सकता है।" कांग्रेस में १९४५ में फिर मुस्लिम लीग के सहयोग पर विचार हुआ। धारा सभा के चुनावों में जब दोनों पार्टियाँ विजयी होकर प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा सभाओं में पहुँचीं तो दोनों पार्टियों के नेताओं के बीच एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार नई सरकार में दोनों पार्टियाँ अपने आधे-आधे सदस्य रखने को तैयार हो गईं। १९४६ में बम्बई में भारत की समुद्री सेना ने बगावत कर दी। इसका भी प्रभाव अंग्रेजों की शासन-नीति पर पड़ा। अंग्रेजों को अब फौज पर भी अविश्वास होने लगा। अंग्रेज सरकार ने कैबिनट मिशन भेजा, किन्तु वह भी असफल हो गया। अब अंग्रेजों के इशारे पर मुस्लिम लीग खुलकर खेलने लगी थी। १६ अगस्त १९४६ को मुस्लिम लीग ने 'एक्शन डे' मनाया और तब से कलकत्ते में साम्प्रदायिक दंगों की ऐसी शुरुआत हुई जो लगातार सारे भारत और आगे चलकर पाकिस्तान में भी १९४८ तक चलती रही। कांग्रेस ने सिखों को अपनी ओर मिलाकर १९४६ में अन्तरिम सरकार बनाई, जिसके प्रधानमन्त्री नेहरूजी बने। धीरे-धीरे कांग्रेस ने लीग को भी समझा-बुझा कर अक्टूबर में सम्मिलित कर लिया। शासन में मुस्लिम लीगी नेता अपने स्वार्थों का विशेष ध्यान रखने के कारण कांग्रेस को असफल बनाने के लिए प्रयत्नशील रहे और सरकार का कार्य कठिनाई से चलने लगा। दिसम्बर १९४६ में लन्दन में एक सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें एटली, वेवेल, नेहरू और जिन्ना सम्मिलित हुए, किन्तु मूल प्रश्न का कोई सर्वमान्य हल नहीं निकल सका।

१९४७ के आरम्भ में अंग्रेजों ने वायसराय लार्ड वेवेल को वापिस बुलाकर उनके स्थान पर लार्ड माउंटबेटेन को भेजा, जिन्होंने समझौते के

प्रयत्न किये और तुरन्त ही स्वराज्य दिये जाने की वार्ता जोरों के साथ होने लगी। माउंटबेटेन-योजना जून में प्रकाशित हो गई तथा १५ अगस्त को उसे क्रियान्वित करना तय हुआ। इस प्रकार भारतीय इतिहास का एक नया पन्ना लिखा गया, जिसमें भारत को दो डुमीनियनों में विभाजित करके दो शताब्दियों से चले आते हुए अंग्रेजी शासन का अन्त हो गया।

१९४७ में स्वराज्य प्राप्त हो जाने पर अपना विधान तैयार करने का कार्य सरकार के सामने आया और इसके लिए संविधान-सभा का निर्माण किया गया। इसने सर्वोच्च प्रभुतासम्पन्न लोकतन्त्रात्मक संविधान का निर्माण किया। अब कांग्रेस के सामने देश की अन्य समस्याएँ आईं और उनका उसने अपनी शक्तिभर सामना किया। अब तक तीन पंचवर्षीय योजनाएँ चलाई जा चुकी हैं और देश को औद्योगीकरण की ओर बढ़ाया गया है। भारत की वैदेशिक नीति की भारी प्रशंसा हुई है। उसने तटस्थ रहकर और पंचशील के सिद्धान्त का विकास करके दुनिया के समक्ष एक आदर्श रखा है। इसकी प्रशंसा संसार के सभी देशों ने की है।

जहाँ तक आर्थिक प्रश्नों का सम्बन्ध है। भारतीयों की औसत आमदनी साइमन कमीशन के अनुसार १९३० में ८ पौण्ड प्रति वर्ष स्वीकार की गई थी, किन्तु यह रिपोर्ट भी सही नहीं थी। युद्धोपरान्त काल की महँगाई के फलस्वरूप जो आँकड़े उपलब्ध थे, उन्हीं पर यह तखमीना आधारित था। यदि हम साइमन कमीशन के सबसे अधिक आशावादी अनुमान को भी लें और उस पर आय के बँटवारे के आँकड़ों को लागू करें तथा बाद में आने वाली मन्दी और घरेलू खर्च तथा साम्राज्यवादी खिराज के रूप में देश के बाहर निकल जाने वाली रकम का ख्याल करें, तो हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि दूसरा महायुद्ध आरम्भ होने के पहिले भारत की अधिकतर आबादी के औसत आदमी की आय एक पेनी से लेकर सवा पेनी प्रतिदिन तक थी।[1] द्वितीय महायुद्ध-काल में यह सीमा कुछ उठी और उसका कारण हिन्दुस्तानियों की ठेकेदारी तथा युद्ध सामग्री का अधिक निर्माण था। युद्ध समाप्त होने पर पुनः आय का स्तर गिरने लगा। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में भारतीय सरकार ने इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया और गिरते हुए स्तर को ऊपर करने का लक्ष्य निर्धारित किया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह स्तर कुछ उठा है और आशा है कि नियत समय में हम निश्चित लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे।

१९२९ में सरकार ने भारत के मजदूरों की हालत की जाँच करने के

---

१. भारत : वर्तमान और भावी : रजनी पामदत्त, पृ० ९-१०।

लिए एक शाही कमीशन नियुक्त किया था। इस कमीशन की रिपोर्ट है— "अधिकतर औद्योगिक केन्द्रों में ऐसे परिवारों और व्यक्तियों की संख्या, जो कर्जे से दबे हैं, कुल आबादी के दो-तिहाई से कम नहीं है..........अधिकतर लोगों का कर्ज उनकी तीन महीने की तनखा से ज्यादा है और अक्सर तो वह उससे भी ज्यादा है।" रहने के मकानों की भी मजदूरों के लिए बड़ी समस्या है। एक मजदूर परिवार के पास कठिनता से एक कोठरी होती है। सितम्बर १९३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ और मजदूर आन्दोलन में भी जान आई। महात्मा गाँधी के जन्मदिन २ अक्टूबर को (१९३९ में) बम्बई में ९०,००० मजदूरों ने युद्ध-विरोधी हड़ताल की। यह दुनिया की सबसे पहली युद्ध विरोधी हड़ताल थी। ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा राष्ट्रीय नेता मजदूरों में संगठन करने लगे। कांग्रेस ने सारे देश के मजदूरों और निम्न-स्तरीय सरकारी कर्मचारियों को एकत्रित और जाग्रत करके हड़तालें कराने का कार्यक्रम चलाया। ५ मार्च १९४० को पौने दो लाख कपड़ा मजदूरों ने महँगाई भत्ते के लिए हड़ताल प्रारम्भ करदी जो ४० दिन तक चलती रही। १० मार्च को समवेदना हेतु सभी उद्योगों के साढ़े तीन लाख मजदूरों ने हड़ताल रखी। कानपुर के बीस हजार कपड़ा मजदूरों, कलकत्ते के बीस हजार म्यूनिस्पल मजदूरों, बंगाल के जूट मजदूरों, आसाम के तेल के कारखानों के मजदूरों, धनवाद और झरिया के कोयला खान के मजदूरों, जमशेदपुर के इस्पात के मजदूरों ने भी बड़ी-बड़ी हड़तालें कीं। देश में राष्ट्रीयता का जोश लहरें मार रहा था। मजदूरों की ट्रेड यूनियनें बनने और अपने अधिकारों के लिए लड़ने लगी थीं।

१९३८ में जहाँ १८८ ट्रेड यूनियनें थीं व जिनकी सदस्य संख्या ३,६३,४५० थी, वह १९४७ तक आते-आते ६०८ हो गई तथा उनकी सदस्य संख्या भी ७,२६,००० हो गई।

जिस देश की जनता का सर्वाधिक भाग खेती पर निर्भर हो और खेती देश का सर्वप्रमुख उद्योग हो, उसी की ओर जो सरकार ध्यान न दे उसे प्रतिक्रियावादी और शोषक सरकार ही कहना होगा। अंग्रेजों ने १९२६ में जो शाही कमीशन बैठाया, उसे भूमि के स्वामित्त्व, जोतों की वर्तमान व्यवस्था, मालगुजारी और आबपाशी की तत्कालीन प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ भी कहने की छूट नहीं थी। फिर भला सोचिए, कृषि समस्या का हल कैसे सम्भव हो सकता था? भारतीय अर्थशास्त्री आर० के० दास ने १९३० में अनुमान लगाया था कि खेती के लायक देश में जितनी जमीन है, उसका ७० प्रतिशत भाग बेकार पड़ा है। केवल ३० प्रतिशत भाग पैदावार के

काम में लाया जाता है। "१९३९-४० में ब्रिटिश भारत में खेती का रकवा" शीर्षक आँकड़ों से पता चलता है कि उस साल देश में साड़े पैंतीस करोड़ एकड़ जमीन ऐसी थी, जिस पर खेती हो सकती थी किन्तु उसमें से केवल ५९ प्रतिशत पर ही खेती की गई थी। १३·२ प्रतिशत जमीन को जोतकर छोड़ दिया गया था और उसे बोया नहीं गया था और २७·३ प्रतिशत जमीन कृषि योग्य होने पर भी यों ही बेकार पड़ी थी। इस कठिनाई के साथ-साथ यहाँ जमीन के सहारे जीने वालों की संख्या सभी देशों से अधिक है। यहाँ का उत्पादन स्तर भी काफी नीचे था। १९४५ में भारत में गेहूँ की उपज प्रति एकड़ ६४१ पौण्ड थी जबकि अमेरिका में १,०३३ और फ्रांस में १,००६ पौण्ड प्रति एकड़ थी।

"अंग्रेजों के आने से पहिले भारत में एक परम्परा थी कि साल भर की उपज का एक हिस्सा राजा का भाग माना जाता था, जो साझे में खेती करने वाले किसान, जिनका जमीन पर संयुक्त स्वामित्व होता था, या अपने गाँव का खुद प्रबन्ध करने वाला ग्रामीण समाज, खिराज या कर के रूप में शासक को दे देता था। सालाना पैदावार के घटने-बढ़ने के साथ राजा का भाग भी अपने आप घट-बढ़ जाता था। अंग्रेजों ने इस पुरानी परम्परा को समाप्त करके एक निश्चित नकद रकम के रूप में मालगुजारी लेना शुरू किया। यह रकम जमीन के हिसाब से तय की जाती थी और सालभर में पैदावार चाहे कम हुई हो या ज्यादा, जो रकम पहले से तय कर दी जाती थी, वही वसूल की जाती थी। ज्यादातर मालगुजारी अलग-अलग व्यक्तियों पर लगाई गई थी, जो या तो खुद खेती करने वाले काश्तकार थे या सरकार द्वारा नियुक्त किये गये जमींदार थे। इसके बाद भी जो कसर बची थी, वह भारत में इंगलैण्ड के ढंग की जमींदारी प्रथा और वहाँ की पूँजीवादी कानून व्यवस्था जारी करके पूरी कर दी गई। यह भारी-भरकम व्यवस्था भारत की अर्थव्यवस्था के लिए एक बिलकुल परदेशी चीज थी, और इस व्यवस्था को लागू करती थी एक ऐसी विदेशी नौकरशाही—जो कानून बनाना, कानून लागू करना और न्याय करना, तीनों काम करती थी। इस परिवर्तन के द्वारा व्यवहार में अंग्रेस विजेताओं की हुकूमत का सारी जमीन पर अन्तिम अधिकार कायम हो गया और किसान महज दूसरे की जमीन पर लगान देकर खेती करने वाला बन गया। लगान न देने पर उसे जमीन से बेदखल किया जा सकता था। या, अंग्रेजी सरकार ने जमीनें कुछ ऐसे आदमियों को दे दीं जिनको उसने जमींदार नामजद करना पसन्द किया। ये लोग भी सरकार की मर्जी से ही जमीन के मालिक थे और मालगुजारी न देने पर उनसे भी सारी

जमीन छीन ली जा सकती थी। पुराने जमाने में अपना प्रबन्ध अपने आप कर लेने वाले ग्रामीण-समाज के पास न तो अब कोई शासन सम्बन्धी काम रह गया और न कोई आर्थिक काम। दोनों तरह के अधिकार उनसे छीन लिये गये और जो जमीन पहिले सारे गाँव की सामूहिक सम्पत्ति समझी जाती थी, वह ज्यादातर अलग-अलग व्यक्तियों में बाँट दी गई।

"इस प्रकार, औपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवाद जो-जो काम करता है, वे सारे काम भारत में बड़ी बेरहमी के साथ और बड़े मुकम्मिल ढंग से किये गये। किसान जमीन के मालिक नहीं रहे, बल्कि लगान देकर दूसरे की जमीन पर खेती करने वाले काश्तकार बन गये; और जब ये क्रिया और आगे बढ़ी तो किसानों का एक बढ़ता हुआ हिस्सा भूमिहीन खेत-मजदूरों में या ग्रामीण सर्वहारा के नये वर्ग में शामिल होता गया; और यहाँ तक कि खेती पर निर्भर रहने वाला आबादी का एक-तिहाई से ज्यादा भाग खेत-मजदूर बन गया।"[१]

जमींदारी प्रथा के प्रसार का फल यह हुआ कि छोटे-बड़े धनी लोग उद्योग-धन्धों में पूँजी न लगाकर खेती की ओर टूट पड़े और किसान की समस्याएँ बढ़ चलीं। बहुत बड़े-बड़े इलाकों में शिकमी-दर-शिकमा की सीढ़ियाँ खड़ी हो गईं और यहाँ तक कि कहीं-कहीं तो सचमुच जमीन जोतने वाले काश्तकार तथा जमीन के मालिक के बीच पचास तरह के बिचौलिये पैदा हो गये। इसका फल यह हुआ कि जमीन जोतने वाले काश्तकारों की रक्षा के लिए सरकार ने जो कानून बनाये, वे केवल छोटे दर्जे के जमींदारों तक ही पहुँचे और असली किसान ज्यादातर या तो भूमिहीन खेत-मजदूरों की स्थिति में पहुँच गये, या उनकी हालत सर्वथा अधिकार-हीन किसानों जैसी हो गई। ऐसे प्रत्येक किसान की पीठ पर पचासों छोटे-छोटे मुफ्तखोर लदे हुए थे, जो काम कुछ नहीं करते थे और किसान की कमाई में से हिस्सा बँटाते थे। बड़े मुफ्तखोरों को और सरकार को जो कुछ देना पड़ता था, वह अलग था। ये सारी जोंकें किसान का रक्त पीकर मोटी होती थीं। यह पूरी क्रिया जिसने जमींदारी प्रथा की असंगतियों को चरमसीमा पर पहुँचा दिया था, इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण थी कि भारत में खेती का संकट दिन ब दिन गहरा होता जा रहा था। गाँव का साहूकार बंकपूँजी की शोषण व्यवस्था का एक ऐसा पुर्जा है, जो खास उस जगह का काम करता है जहाँ उत्पादन होता है, और जिसके बिना यह पूरी मशीन काम नहीं कर सकती। इस साहूकार की सहा-

---

१. भारत : वर्तमान और भावी : रजनी पामदत्त, पृ० ८६-८७।

यता अंग्रेजी शासन और उसके पीछे खड़ी हुई सारे इंगलैण्ड की साम्राज्यवादी शक्ति करती थी। किसान जो कुछ कमा रहा था, उसका दो-तिहाई जमींदार और साहूकार की थैली में चला जाता था, शेष एक-तिहाई से वह किसी भी प्रकार समय काटता जा रहा था।

आलोच्य काल में प्राचीन मान्यताएँ और परम्पराएँ टूट रही थीं और नवीन मान्यताएँ उस रूप में नहीं आ रही थीं कि उन्हें सबल बनाकर आगे बढ़ाया जा सके, और यह स्थिति अब तक बनी हुई है। विज्ञान की उपलब्धियों ने मानव-जीवन की सभी मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। आज ज्ञान के सभी क्षेत्रों में हम परीक्षण करना चाहते हैं। अपरीक्षित सभी परम्पराएँ या तो अमान्य हो गई हैं या संदिग्ध समझी जाने लगी हैं।

इस काल में फ्रायड, एडलर और युंग जैसे मनोविज्ञान शास्त्री, यूरोप के काव्य के क्षेत्र से निकलकर हिन्दी क्षेत्र को प्रभावित करने लगे थे। युद्धकालीन साहित्यकार की आस्था का प्रभाव भी हिन्दी कलाकार पर पड़ना स्वाभाविक था और वह पड़ा भी अवश्य। रूसी क्रान्ति १९१७ में हो चुकी थी, किन्तु भारतीय समाज पर उसका प्रभाव अब तक नहीं पड़ा था। सबसे पहले १९३६ में प्रेमचन्दजी के सभापतित्व में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई और उसकी दूसरी वार्षिक सभा के सभापति रवीन्द्रनाथ टैगोर हुए। इस प्रकार इस युग में लोग जीवन की विविध समस्याओं और उनके मूल कारणों को खोजने की ओर अग्रसर हुए।

सारा हिन्दी संसार छायावाद की परम्परा से त्रस्त हो चुका था। छायावादी कवि इस संसार से परे की बात करता था। उसकी सर्वत्र और सार्वकालिक प्रेयसि हमें अरुचिकर प्रतीत होने लगी थी। रहस्यवाद की मान्यताएँ भी टूटने लगी थीं। दैनिक जीवन की समस्या रोजी और रोटी का सवाल—प्रमुखता प्राप्त कर चला था। लोग संगीत की बात तभी चलाते हैं जबकि रोटी से पेट भर जाता है; जब पेट खाली होता है तो संगीत से पूर्व उसे रोटी में ही अधिक अभिरुचि होती है। छायावादी युग में भाषा यथेष्ट कोमल और व्यंजना-प्रधान हो चली थी (पन्त और प्रसाद की रचनाएँ इसका प्रमाण हैं)। यद्यपि छन्द के बन्धन खुल चुके थे और कविता का प्रवाह उन्मुक्त रूप से बहने लगा था, फिर भी इस प्रवाह में एकदेशीयता—और विशेषतः अलौकिकता थी, जिसे भौतिक प्रेमी नापसन्द करता था। अधिक संवेदनशील और भावुक हो जाने के कारण हिन्दी पाठक दैनिक और यथार्थ समस्याओं से ऊपर नहीं उठना चाहता था। जो लोग छायावाद के आज भी प्रशंसक बने हुए हैं और उसे आज की परिस्थिति में भी आवश्यक मानते हैं, उन्हें

पन्तजी के वे कथन देखने चाहिए जिनमें वे छायावाद में आगे की प्रगति का अभाव पाते हैं। उन्हें कोई कार्यक्रम ही नहीं दिखाई दिया, फलतः प्रगतिवाद की ओर उनका मुड़ जाना स्वाभाविक ही था। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद (गद्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद और मनोवैज्ञानिक) छायावाद की प्रतिक्रियाएँ हैं। एक विचारधारा मार्क्स-दर्शन को आधार बनाकर आगे बढ़ी तो दूसरी फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों को गुरु बनाकर मार्ग-दर्शन पाने लगी।

वर्तमान युग की उपन्यास कला पर लिखने के लिए आवश्यक है कि वर्तमान काल की मूलभूत मनोवृत्तियों और युग की आत्मा पर विशेष रूप से विचार किया जाय। सभी ओर से हमें यह क्रन्दन सुनाई पड़ रहा है कि वर्तमान युग के समान व्यथित, संत्रस्त, अशान्त और प्रपंचशील युग अन्य कोई नहीं। सभी कोई उन मान्यताओं के अन्वेषण में संलग्न हैं जिनका उद्देश्य मानव को पूर्ण शान्ति और सन्तोष प्रदान करना हो सके। हम तो धुरी हीन समाज की नवीन पीढ़ी हैं। हमारी स्थिति केवल नैतिक पशु की सी हो गई है। हमने प्राचीन मान्यताओं को तो अस्वीकार कर दिया है और अब निराश्रय होकर नवीन मान्यताओं की खोज में इधर से उधर भटक रहे हैं। हमें कुछ नवीन मान्यताएँ उपलब्ध हुई हैं, किन्तु सारे समाज की श्रद्धा उस ओर अपना पूर्णाश्रय नहीं पा सकी है। मार्क्स ने एक नवीन जीवन-दर्शन दिया है, किन्तु मार्क्सवादियों में से भी कुछ उसे अपूर्ण मानते हैं और कहते हैं कि वाद का अनुयायी होकर कलाकार की दृष्टि सीमित हो जाती है। हमें अपने उद्देश्यों तक में अविश्वास उत्पन्न हो रहा है, अपने प्रयत्न और उसकी उपलब्धियाँ हमें त्रस्त और रोगी बना रही हैं। १९ वीं शती तक की मान्यताएँ आज टूट चुकी हैं। कोई भी दो व्यक्ति आज किसी भी प्रश्न पर एकमत नहीं हैं। फलस्वरूप आज के कलाकार का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है और उसकी स्थिति दिन प्रतिदिन अधिक कठिन होती जा रही है।

पूर्व काल में लोग किसी भी बात को आसानी से मान लेते थे और उसका विश्वास करते चले जाते थे। ये मान्यताएँ और जीवन-दर्शन अधिकतर अनुमान पर ही आधारित थे, जिनका कल्पना से विशेष सम्बन्ध था। आज विज्ञान पर आधारित जीवन-दर्शन अधिक व्यापक और चमत्कारपूर्ण है जो विज्ञान के प्रयोगों पर आधारित है। इन्हें अमान्य ठहराने की चुनौती देने का साहस विद्वानों में भी नहीं रह गया है। विज्ञान की मान्यताओं के स्थायित्व की सीमा हो सकती है, लेकिन उनके साथ खिलवाड़ नहीं किया जा

सकता। ऐसी परिस्थितियों में एक कलाकार का कर्त्तव्य बहुत ही कठिन हो जाता है।

पुराने युग ने अपने मूल्य और प्रतीक प्रदान किये थे, जिनके अवशिष्ट रूप का प्रयोग आज भी हो रहा है। इतिहास इसका प्रमाण है कि पहिले प्रयत्न मिलकर किये जाते थे और आज वैयक्तिकता का बोलबाला है। उद्देश्यों की एकता सर्वमान्य थी, जबकि आज इस विषय में कुछ भी कहा जाना सम्भव नहीं है। हमारी पीढ़ी कार्यप्रणाली, जीवनोद्देश्य और पसन्द-नापसन्दों आदि सभी में एक विशेष वैभिन्य तथा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण स्वीकार कर आगे बढ़ती चली जा रही है। बौद्धिक और औद्योगिक दोनों वर्ग नित्य प्रति अधिक प्रशिक्षित होते जा रहे हैं और ज्ञान के क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन को भी प्रश्रय मिलता जा रहा है। आज का आलोचक भी बहुत जागरूक हो गया है। आज कलाकार में ईमानदारी, स्वतन्त्रता, गम्भीरता, विश्वास उत्पन्न करने की क्षमता आदि गुण आवश्यक हैं।

आज के यूरोपीय विद्वान भी इन आवश्यकताओं को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करने लगे हैं।[1]

द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका की भयंकरता के कुछ अवशेष अब भी यूरोपीय और एशियाई देशों में देखे जा सकते हैं, जिनसे पता चलता

---

1. "Now, if the life about him, if his own time seem, however outwardly stimulating, to be at bottom empty of such food for his aspirations ; if he privately recognizes to be hopeless, viewless, helpless, opposing only a hollo silence to all the questions man puts, consciously or unconsciously yet some how puts, is to the final, absolute, and abstract meaning in all his efforts and activities ; then, in such a case, a certain laming of personality is bound to occur, the more inevitably the more upright the character in question...........In an age that affords no satisfying answer to the eternal question of 'why' ?, 'to what end' ? a man who is capable of achievement over and above the average and expected modicum must be equipped either with a moral remoteness and single mindedness which is rare indeed and the heroic mould, or else with an exceptionally robust vitality." (Thomas Mann : extracted from 'Modern Fiction' (H. J. Muller).

है कि यह क्रिया किस प्रकार सारी सभ्यता, मानवता और संस्कृति को नष्ट करने के लिए कटिबद्ध थी। सभ्यता को बचाये रखने के लिए कलाकार दृढ़-प्रतिज्ञ होकर सामने आये और लन्दन के ऊपर बमवर्षा के समय यदि कुछ सबसे पहले बचाने की बात सोची गई तो वह साहित्य ही था। साहित्य नष्ट हो जाने का तात्पर्य होता है सारी संस्कृति का ह्रास। युद्ध ने मानव चेतना को अनेक खण्डों में विभाजित कर दिया और उसका फल हुआ युद्ध-कालीन साहित्य का सृजन। कविता का तो युद्ध में ह्रास हुआ और गद्य तथा कथा साहित्य का विकास। मानव की अधिक गुम्फित चेतना और संघर्ष का सफल चित्रण कविता न कर सकी, अतः उपन्यास आगे बढ़कर इस उत्तर-दायित्व को स्वीकार करने लगा।

भारतवर्ष में कांग्रेस की सरगर्मियों और मार्क्सवादी तथा फ्रायड-वादी मान्यताओं को अभिव्यक्ति देने का गुरुतर कार्य था। इसके लिए प्रेमचन्दजी मार्ग प्रशस्त कर चुके थे और रूसी उपन्यासों का अनुवाद प्रकाशित होने लगा था। गोर्की, टॉलसटॉय और अन्य यूरोपीय भाषाओं के विशेष उपन्यासकारों से हिन्दी जनता अधिकाधिक परिचित होने लगी थी। इसका प्रभाव हिन्दी उपन्यासकारों पर पड़ना स्वाभाविक था और उसकी सफलताएँ दृष्टिगोचर होने लगी थीं।

इस काल में हिन्दी उपन्यास कई विभागों में विभाजित किया जा सकता है। उसके अनेक दृष्टियों से अनेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं। इस काल में प्रगतिवादी, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, प्रकृतवादी, मार्क्सवादी, अतियथार्थवादी, ऐतिहासिक, आंचलिक तथा लघुकथा आदि अनेक भेद उप-न्यासों के किये गये हैं, किन्तु इन्हें हम भेदकतत्त्वों के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। उपन्यास के प्राचीन तत्त्व कथा, पात्र आदि में भी कुछ परिवर्तन होने लगा है, किन्तु ये अभी सर्वमान्य और व्यापक बने हुए हैं, अतः इन्हीं को आधार मानकर इस काल की उपन्यास कला का मूल्यांकन और विश्लेषण किया जायगा।

प्रेमचन्द युग तक उपन्यास विकास की कुछ सीढ़ियाँ पार कर चुका था, उसने जीवन की समस्याओं को अपना विषय बनाना प्रारम्भ कर दिया था। उपन्यास का प्रथम और अनिवार्य तत्त्व होने के कारण कथानक प्रेमचन्द युग के उपन्यासों की रीढ़ था। प्रेमचन्द, जैनेन्द्र आदि सभी कलाकारों ने कथात्मकता और उसके चमत्कारयुक्त गठन पर विशेष जोर दिया था। इसमें कभी-कभी अस्वाभाविकता, अमनोवैज्ञानिकता तथा अनौचित्य तक आ जाता था, किन्तु आलोच्य काल का उपन्यासकार अधिक जागरूक रहने लगा और

इस प्रकार कथानक अधिक व्याप्त, संघर्षपूर्ण और जीवनव्यापी आयामों का आश्रय ग्रहण करने लगा।

कथानक के संघटन और वस्तु-विन्यास या सत्याभास या विश्वसनीयता, कार्यकारण सम्बन्ध, मनोवैज्ञानिक क्षण, उत्कण्ठा, संघर्ष, भविष्य संकेत और चरमोत्कर्ष का होना साधारणतया आवश्यक है। आज के बदलते युग में कथानक के महत्व को भी धीरे-धीरे कम किया गया है। ऐसे उपन्यास भी लिखे गये हैं जिनमें असम्भव घटनाओं का वर्णन किया गया है और उनके द्वारा प्रतीकात्मक ढंग से किसी उच्च सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु साधारणतया घटनाओं के सम्बन्ध में सत्य की प्रतीति करा देना आवश्यक है। उनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध दिखा देने से ही यह प्रतीति होती है। इसी सम्बन्ध के आधार पर पाठक के मन में किसी घटना के द्वारा उत्कट आशा जगाना तथा तत्क्षण उसके घटित होने का वर्णन करना मनोवैज्ञानिक-क्षण कहलाता है; जिससे उत्कण्ठा या उत्सुकतापूर्ण प्रत्याशा उत्पन्न होती है। सभी सफल उपन्यास लेखकों ने पाठक की रुचि को आबद्ध रखने के लिए इसका प्रयोग किया है। कभी-कभी तो भावी आकस्मिक और नाटकीय परिणाम पहले से कल्पित करा दिया जाता है और कभी पाठक को उसके विषय में तरह-तरह की कल्पना करने के लिए छोड़ दिया जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाठक को तो नायक पर आने वाली विपत्ति की सूचना होती है, किन्तु स्वयं नायक को नहीं होती। इस व्यंग्यात्मक उत्कण्ठा तथा नाटकीय-व्यंग्य का प्रयोग कथानक के आकर्षण की वृद्धि में सहायक होता है। घटनाओं के परस्पर घात-प्रतिघात से संघर्ष की स्थिति पैदा होती है जो पराकाष्ठा की ओर अग्रसर होकर चरमोत्कर्ष की सृष्टि करती है। यह कथा-विकास का वह क्षण होता है जब कथा की धारा सहसा मुड़ कर एक ओर प्रवाहित होने लगती है।[1]

प्रेमचन्द युग के उपन्यासों की कथावस्तु में कभी-कभी भविष्य-संकेत दिये जाते थे। 'गोदान' में इस प्रकार के कई संकेत-स्थल हैं। इसे नाटक में 'पताका-स्थान' कहा जाता है, किन्तु आधुनिकतम उपन्यासों में इसका मोह नहीं रह गया है। प्रेमचन्द युग में लेखकों के पास आकस्मिकता का अचूक 'रामबाण' था जिससे असम्भव को भी सम्भव कर दिखाना बायें हाथ का खेल था। प्रेमचन्द ने इसका भरपूर प्रयोग किया। ज्योतिर्मयी ठाकुर के 'मधुवन' (१९३३) में करुणा और लोकनाथ कानपुर से भागते हैं और प्रयाग आ जाते

---

१. 'हिन्दी साहित्य कोश'।

हैं। यहाँ उनकी भेट एक रानी साहिबा से होती है। यह सम्मिलन जो करुणा के अनेक गुणों को सामने लाता है और उसकी आदर्श-कल्पनाओं को कार्य का रूप देता है, आकस्मिक रूप से ही हुआ है। ये आकस्मिकताएँ कथा को उसके उद्देश्य की ओर ही उन्मुख रखती थीं, इसलिए इनसे कथा में गतिशीलता आ जाती थी। आलोच्यकाल में इस प्रकार के शैली-शिल्पों के लिए स्थान नहीं रह गया है। आज के उपन्यास शिल्प की रूपरेखा तो प्रेमचन्दजी ने ही तैयार कर दी थी, जिस पर प्रयोग 'शेखर : एक जीवनी' के काल में हुआ है।[1] आज उपन्यास को यथार्थ जीवन से भिन्न चित्रित करना सम्भव ही नहीं रहा है।

शैली-शिल्प की दृष्टि से ही नहीं वरन् कथानक की नवीनता की दृष्टि से भी 'शेखर : एक जीवनी' का यथेष्ट महत्व है। 'गोदान' के पश्चात् 'शेखर' को मील का अगला पत्थर माना जा सकता है जहाँ से हिन्दी उपन्यास-कला ने एक नया मोड़ लिया है। इस उपन्यास का मुख्यपात्र शेखर है। उपन्यास का सादा घटनाचक्र इस पात्र के इर्दगिर्द घूमता दृष्टिगोचर होता है। आज के बुद्धिवादी पुरुष का जीवन भारी संघर्षमय और विस्तृत हो गया है। इसका एक चित्र (चित्र अपने में यथेष्ट व्यापक है) शेखर प्रस्तुत करता है। वर्तमान युग के सारे प्रश्न और प्राचीन आस्थाओ के प्रति जिज्ञासा शेखर में केंद्रित हो गई है। इस कथानक की तुलना किसी बरसाती नदी से की जा सकती है जो अनेक नगरों और गाँवों को बहा लाती है और चलते-चलते जंगलों तथा पहाड़ों में एकान्त-गर्जन करती हुई निरन्तर समुद्र की ओर अग्रसर होती रहती है। 'शेखर' का कथानक शिल्प की दृष्टि से सुन्दर है। शेखर के बाल्यकाल की छोटी घटनाएँ उसके व्यक्तित्व के उभार में सहायक हैं। कथानक उन परिस्थियों को प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ है जो शेखर के निर्माण में सहायक रही हैं। उपन्यास में लेखक को उन्हीं घटनाओं का वर्णन करना चाहिए जो नायक की विशेषताओं पर प्रकाश डालें, पाठक सभी बातें नहीं जानना चाहता। वह तो केवल ढाँचा चाहता है जिसमें अपनी इच्छानुसार रंग भर सके। शेखर में जो घटनाएँ प्रस्तुत

---

१. "यों कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का, उसकी छुटाई बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पाई है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्य में सच को झूठ बनाकर दिखाना होगा।" ('कुछ विचार' : प्रेमचन्द, पृ० १०४-५।)

की गई हैं, वे उन छोटे-छोटे उत्सुओं के समान हैं जो पहाड़ों पर स्वतः निसृत होकर पहाड़ी नदी के जीवन का कारण बनते हैं। युवावस्था तक आते-आते कथा में यथेष्ट प्रवाह आ जाता है। जब शेखर और शारदा की भेट होती है तो उपन्यास काफी तीव्र हो जाता है। कथा में स्वाभाविकता, औत्सुक्य और सुशृंखला उपन्यास की सफलता की कसौटी है। 'शेखर' में इन सभी तत्त्वों का समुचित समावेश है।

प्रेमचन्दजी की भविष्यवाणी के अनुसार 'शेखर: एक जीवनी' में शेखर का जीवन-चरित्र (शेखर के माध्यम से अज्ञेय का जीवन-चरित्र) ही प्रस्तुत किया गया है। शेखर के भाव और विचार निरन्तर विस्तृत होते चले गये हैं। उसमें सामाजिकता का विकास तो दिखाया गया है, किन्तु यह सामाजिकता और परम्पराओं के विरुद्ध संघर्ष केवल मौखिक ही रह गया है। शेखर के ऊपर यही आरोप लगाया गया है कि वह क्रान्ति की बात कहता है किन्तु क्रान्तिकारी नहीं है। 'शेखर' का कथानक बचपन से लेकर जीवनव्यापी घटनाओं को समेट कर चलता है। यद्यपि शेखर कांग्रेस के असहयोग-आन्दोलन और उसके पश्चात् क्रान्तिकारियों के आन्दोलन में भाग लेता है तथा जेल तक जाता है, 'शेखर' की कथा शेखर के 'अहं' और काम-कुण्ठाओं की कहानी है। चाहे वह 'अहं' विश्वम्भर 'मानव' के शब्दों में 'आत्मविश्वास' के रूप में परिवर्तित हो गया हो, किन्तु उसके व्यक्तित्व में जो खोखलापन, आ गया है उसके निराकरण का कोई तर्क उन्होंने भी प्रस्तुत नहीं किया है।[१]

इस उपन्यास में घटनाएँ अप्रत्याशित रूप से—आकस्मिकता के कारण घटित नहीं होती है। कार्य-करण-शृंखला का पूर्ण निर्वाह किया गया है। एक व्यक्ति की आत्मकथा होते हुए भी इस उपन्यास में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक और अन्य अनेक ज्वलन्त युग-प्रश्नों को समेट कर चलने का प्रयत्न किया गया है, यौन-प्रश्न को जानबूझ कर उठाया गया है—उसकी अनेक भूमिकाओं और विभिन्न परिस्थितियों में। कथानक को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि सभी सम्भावित प्रश्न स्वाभाविक से प्रतीत होते हैं, ऊपर से थोपे हुए नहीं।

कथानक के गठन की दृष्टि से जैनेन्द्रजी के उपन्यास श्रेष्ठतम हैं। एक तो वे आकार में छोटे हैं और दूसरे उनमें अनेक कथाएँ नहीं चलती हैं। आदर्शवादी और गाँधीजी से प्रभावित होने के कारण उनके उपन्यासों में

---

१. 'प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास': विश्वम्भर 'मानव' का 'आलोचना', अंक १३, पृष्ठ ९९ पर लेख।

अहिंसा और सत्य के अनेक प्रयोग किये गये हैं। जैन दर्शन के विद्वान होने के कारण उन्होंने प्रेम और अहिंसा को ईश्वर-प्राप्ति का साधन स्वीकार कर लिया है। चिन्तनशील होने के कारण उनका अधिक सम्बन्ध बहिर्जगत से न होकर अन्तजगत से है। मन के अतल गह्वरों की नाप-जोख और उनका विश्लेषण ही उनका प्रमुख विषय है। वे कथा के विकास के लिए घटनाओं पर निर्भर नहीं रहते हैं। किन्तु उनके बदले जीवन की नितान्त साधारण गतियों और संकेतों का आश्रय लेते हैं।[१] सत्य के परप्रत्यक्षीकरण का उद्देश्य उन्होंने 'सुनीता' की भूमिका में स्पष्ट भी किया है—"इस विश्व के छोटे से छोटे खंड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य का दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं।" उनके उपन्यासों में कथानक बहुत जटिल और विस्तृत नहीं होता। बड़ी-बड़ी घटनाएँ और विशाल चित्रपटी उन्हें इष्ट नहीं, जटिलता उनके कथानकों में न होकर चरित्रों में है। मनोविज्ञान और दर्शन के आश्रय से उनके उपन्यास बहुत बोझिल हो गये हैं। मन, स्थितियों और अन्तर्वृत्तियों का विश्लेषण करने में वे अपूर्व कौशल से काम लेते हैं।

उनके सभी उपन्यासों के कथानक वैयक्तिक हैं। उनके पात्रों का संघर्ष अपने व्यक्तित्व से है। जैनेन्द्रजी के सारे साहित्य की व्याख्या यदि एक शब्द में की जाय तो कहा जा सकता है कि उसमें आत्म-पीड़न को अभिव्यक्त किया गया है। इस आत्म-पीड़न की जड़ें काम-यातनाओं में हैं। जैनेन्द्रजी ने मानव मन का विश्लेषण करते हुए सिद्ध किया है कि मानव स्पर्धा और समर्पण इन दो वृत्तियों के द्वन्द्व का शिकार होता है। स्पर्धा में मनुष्य का 'स्व' 'पर' के विरोध में खड़ा होता है और उसके इस संघर्ष को स्पर्धा के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है। 'समर्पण' स्पर्धा की अपेक्षा अधिक संवेदनशील भाव है, जिसमें संघर्ष के स्थान पर 'स्व' को 'पर' में परिवर्तित कर देने के लिए व्यक्ति अग्रसर होता है। स्पर्धा की वृत्ति से व्यक्ति को कष्ट और अशान्ति प्राप्त होती है और समर्पण की भावना से अपना तथा जगत का कल्याण होता है। समर्पण में करुणा और प्रेम भी निहित रहते हैं। अपने उपन्यासों में उन्होंने समर्पण को ही आश्रय दिया है, उनकी नायिकाएँ अपना समर्पण करके हृदय-परिवर्तन करने में सफल होती हैं और इसके लिए वह अपने सतीत्व तक को बलिदान कर देने के लिए तैयार हो जाती हैं। 'सुनीता' के श्रीकान्त और उसकी पत्नी सुनीता समर्पण तथा अहंकार हीनता के प्रतीक हैं। एक सिद्धान्त-पक्ष है तो

---

१. 'साहित्य चिन्ता' : डा० देवराज, पृ० १७७-७८।

दूसरा क्रियात्मक-पक्ष। सुनीता इसी समर्पण के कारण हरिप्रसन्न जैसे घोर अहं-वादी और कुण्ठावादी की प्रचण्डता को संयमित करती है।

'त्यागपत्र' की मृणाल और कल्याणी अपने-अपने पतियों (मृणाल का कोयले वाला) के प्रति समर्पित बनी रहती हैं। हम देखते हैं कि इस जीवन-प्रक्रिया में कभी-कभी उनका मन विद्रोह कर उठता है, किन्तु करुणा और आत्म-पीड़न उन्हें इसी मार्ग पर अग्रसर किये रहते हैं। 'सुखदा' तथा 'विवर्त' की भुवन-मोहिनी की स्थिति भी ऐसी है। 'विवर्त' का जितेन जब प्रेम में निराश हो जाता है और उसका 'अहं' पीड़ित होकर हिंसा की ओर अग्रसर होने लगता है तो भुवन-मोहिनी अपने पति नरेश का प्रत्यय प्राप्त करके जितेन के साथ प्रेम का व्यवहार करने लगती है और जितेन इस व्यवहार से संयमित होने लगता है और उसकी ग्रन्थि खुल जाने पर वह ठीक हो जाता है।

प्रेमचन्द्रजी ने जिस सामान्य जीवन की व्यापक कथा को अपने उपन्यासों में स्थान दिया था, उसकी अपेक्षा जैनेन्द्रजी ने समाज से कटे हुए और केवल अपने में ही लगे हुए असाधारण चरित्रों की गाथाएँ लिखीं। क्षुद्र के माध्यम से वृहत् को समझने और समझाने का प्रयत्न जैनेन्द्रजी के उपन्यासों का उद्देश्य है।[१] जैनेन्द्रजी ने कथावस्तु तथा विचारों में ऐसी नवीनता और मौलिकता को प्रश्रय दिया कि कथाकारों के एक सम्प्रदाय के वह आचार्य ही बन गये और उन्होंने तत्कालीन राजनीति तक को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया।[२]

आलोच्य काल से पहले सभी उपन्यास ऐसी कथाओं को स्वीकार करते थे जिनमें आधिकारिक के साथ-साथ प्रासंगिक कथा या कथाएँ अवश्य चलती थीं। जैनेन्द्र ने सर्वप्रथम इसका अपवाद प्रस्तुत किया और उनके उपन्यासों

---

१. "किस प्रकार क्षुद्र में महत्, पिण्ड में ब्रह्माण्ड अन्वित या प्रतिफलित हो रहा है, किस प्रकार जीवन का प्रत्येक कण सम्पूर्ण जीवन की गरिमा से मण्डित है, और उसे समझने की कुञ्जी है, यह लक्षित करना जैनेन्द्र की कला की अपनी विशेषता है।" ('साहित्य-चिन्ता' : डा० देवराज, पृ० १७८।)

२. "उसके विचार, उसकी कथावस्तु, उसके पात्र, यहाँ तक कि उसकी भाषा भी इतनी नवीन थी कि उत्तेजना फैलाती थी। और प्रत्येक नवीन उपन्यास ऐसे दर्शन की स्पष्टतर व्याख्या करता हुआ प्रतीत होता था, जो तात्कालिक आतंकवादी राष्ट्रीय विचारधारा के आश्चर्यजनक रूप के विरुद्ध था।" ('द रेजिग्नेशन' की भूमिका : स० ही० वात्स्यायन।)

में एक ही कथा चलती है, जिनमें एकतानता और एकध्येयोन्मुखता सर्वत्र बनी रहती है। इसके लिए उपन्यासकार केवल संगत घटनाओं पर ही प्रकाश डालता है। इन घटनाओं के वर्णन में भी वह कल्पना शक्ति से काम लेता है और पाठकों की कल्पना शक्ति को जाग्रत करने के लिए जो बातें बताना आवश्यक समझता है, उतना ही बताता है, शेष को पाठकों के लिए छोड़ देता है, जिसमें वह अपनी इच्छा के अनुसार रंग भर सकें। वह पाठकों की कल्पना को उद्बुद्ध कर देते हैं और फिर स्वयं रुककर देखने लगते हैं कि पाठकों पर इसका क्या प्रभाव हो रहा है। उनके उपन्यासों में रोमांच और रोचकता को बनाये रखा गया है। उनके उपन्यासों में गाढ़बन्धत्व (compactness) की रक्षा सर्वत्र की गई है। सघनता, एकात्मकता और बन्धनों की कसावट की दृष्टि से 'कल्याणी' और 'व्यतीत' को उदाहरणस्वरूप स्वीकार किया जा सकता है।

प्रेमचन्द युग में जिस आकस्मिकता की प्रधानता घटनाओं पर आधारित थी, उसे यद्यपि जैनेन्द्रजी ने भी जीवित रखा है, किन्तु उसका आधार परिस्थितियाँ न होकर चारित्रिक गूढ़ता है। मानव मन अनेक विचित्रताओं का पिटारा है, उसमें एक ही काल में अनेक विरोधी और कल्पनातीत भावभूमियाँ उपस्थित रह सकती हैं। इसका एक सहज और स्वाभाविक फल यह हुआ है कि उपन्यासों में अपरिमित रोचकता उत्पन्न हो गई है। इसका एक अन्य परिणाम भी निकला है कि उनके पात्रों के चारों ओर एक रहस्यमय आवरण उपस्थित हो जाता है।

यदि उनके कथानकों के औचित्य पर विचार किया जाय तो कहना पड़ता है कि वे समाज के प्रतिनिधि पात्रों (Types) की गाथाएँ न होकर असाधारण चरित्रों की आत्मकथाएँ हैं जिनके कुछ अंश तो अतिगोपनीय रहे होंगे। मानव मन और चरित्र बहुत ही जटिल और गहन है, अतः उन्हें अनौचित्य के लाल लेबिल के नीचे रख देना युक्तिसंगत नहीं है। अज्ञेय के समान जैनेन्द्र भी जीवन-चरित्र प्रणाली को स्वीकार करके उपन्यास लिखते हैं। हाँ, अज्ञेय का क्षेत्र विशाल है और जैनेन्द्र का लघु; किन्तु इस लघुता में भी व्याप्ति है, और है सहज प्रस्फुटन।

इस काल में मनोवैज्ञानिक उपन्यास कला का और भी विकास हुआ और इलाचन्द जोशी के 'संन्यासी', 'निर्वासित', 'जिप्सी', 'मुक्तिपथ' और 'जहाज का पंछी' आदि उल्लेखनीय उपन्यास हैं। वे कला का उद्देश्य मानव मन के अवचेतन का विश्लेषण मानते हैं। ये भी अपनी कथा वस्तु को यथार्थवादी मानते हैं और उनका तर्क है कि यह मन का यथार्थ है, अतः इसे अयथार्थ

कैसे कहा जा सकता है ? फ्रायड, एडलर और युंग जैसे मनोविज्ञान शास्त्रियों की मान्यताओं का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा है और उपन्यास ने उसे उसके सर्वाधिक व्यापक रूप में स्वीकार किया है। मनोविश्लेषण की जिस पद्धति को फ्रायड ने मानसिक रोगियों की चिकित्सा-पद्धति के रूप में स्वीकार किया था, उसका प्रयोग इलाचन्द जोशी जैसे उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में किया है। यूरोप में पहिले ऐसे अनेक उपन्यास लिखे गये। जेम्स जॉयस ने 'यूलीसिज' लिखकर इस परम्परा को अमर कर दिया। इन उपन्यासों में भी कथावस्तु आत्मकथा का स्वरूप धारण करके ही चलती है। हाँ, उसमें भौतिकता, बाह्य परिस्थितियों और संघर्षों की अपेक्षा आन्तरिक ऊहापोह, अवचेतन की कुण्ठाओं, दमितवासनाओं आदि का ही चित्रण प्रधान होता है। यह पात्रों के अन्तःकरण की कथा होती है, जिसका उसके स्वभाव, परिस्थिति और क्रियाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका भी वर्णन रहता है। हर उपन्यास-कार की कृति किसी असाधारण पात्र को लेकर चलती है और उसमें असाधा-रणताओं का ही बोलबाला रहता है और उसका फल होता है प्रत्येक कृति का अनोखापन और इस प्रकार हर बार एक नये प्रकार का उपन्यास उपलब्ध होता है।

जोशीजी के 'संन्यासी' का नायक नन्दकिशोर ऊब, थकान, उदारता, आदर्शवाद आदि से व्यथित यौन-वर्जनाओं का पुञ्ज है।" पीड़ा, गलतफहमी, पथविभ्रम और भावुकता की इस विषादपूर्ण कथा का आरम्भ, जो शेक्सपियर जैसी विनाश की भावना में डूबी हुई है, जयन्ती के प्रति नन्दकिशोर के कुण्ठित आकर्षण के उसी क्षण में होता है जिसका अनुभव उसे आगरा जाने पर होता है। उसकी अहम्मन्यता और आत्मरति बराबर उसके और दूसरों के विशेषतः स्त्रियों के, सम्बन्धों के बीच दीवारें खड़ी करता है, किन्तु इससे उसकी वह पीड़ा कम नहीं होती जिसका जन्म उसके प्रति उसके शंकालु व्यवहारों में होता है। नन्दकिशोर उन व्यक्तियों का साधारण प्रतीक है जो वर्जनाओं से उत्पन्न अपने संकोच को नैतिक व्यवधानों अथवा पीड़ित आदर्शवाद की चादर में ढँक लेने का प्रयत्न करते रहते हैं। जिस ढंग से वह जयन्ती के आकर्षण को देखता और वर्णन करता है, जिस प्रकार जयन्ती की अभिलाष्य किन्तु साथ ही प्रतिरोधात्मक छवि उसकी कल्पना को चीर देती है, उससे ही उसका यौन आकर्षण स्पष्ट हो जाता है। किन्तु उसके मन में जयन्ती की एकान्त-वृत्ति का आतंक भी है। उस अवसर पर और अन्य अवसरों पर भी, चिरन्तन नारी-रहस्य-सम्बन्धी उसके विचार-वितर्क, उसकी विफल कुण्ठा के लिए अशक्त आश्वासन-मात्र बनकर रह जाते हैं। आगरा की उस यात्रा के पश्चात्

नन्दकिशोर कथा के समस्त घात-प्रतिघात में, यौन कुण्ठा की निर्मम लहरों पर, बेबस बहता चला जाता है। उसकी मानसिक विकृति, बौद्धिक यंत्रणा, उसके संशय और सन्देह, ईर्ष्या, कड़वाहट, विक्षिप्तता, मतिभ्रम, पर-पीड़न अथवा आत्म-पीड़न की तत्परता, परिताप अथवा करुणा, कभी उदासी और कभी थकान—तुक और बेतुक की इस समूची भागदौड़ में उसी एक प्रेत की छाया है, वही डूबा हुआ प्राथमिक कारण, जयन्ती के प्रति उसकी भग्न कामना है, जिससे वह किसी तरह बच नहीं पाता। वही वस्तु है जिसका उदात्तीकरण कभी सहज भावुकता और कभी दार्शनिक विद्वत्ता से नन्दकिशोर विराट् नियतिवाद के रूप में करता रहता है।"

मध्यवर्गीय संस्कृति अतिशय वैयक्तिकतापूर्ण और अन्तर्मुखी स्वरूप ह्रासोन्मुख काल में ग्रहण कर लेती है। मध्यवर्गीय समाज की इस संक्रान्ति-कालीन स्थिति का निराकरण सामाजिक समस्याओं को उनके आर्थिक दृष्टि-कोण द्वारा हल करके नहीं किया जाता वरन् व्यक्ति विशेष के मन के भीतरी पर्तों की तस्वीर खींचने में इसका निराकरण समझा जाता है। इस पद्धति में जोशीजी ने व्यक्ति के सारे कपट, अप्रसन्नता, निराशा, मलिनता आदि का कारण उसकी दमित काम-वासना को, जो कुण्ठा बन जाती है, माना है।

ये कुण्ठाएँ व्यक्ति के अचेतन मन में अव्यक्त रूप से छिपी रहती हैं। इनके उद्घाटन होने पर पात्र सहज (Normal) हो जाता है। जोशीजी इसी रूप को स्वीकार करते दिखाई देते हैं। उनके उपन्यासों में सामाजिक प्रश्न इतने प्रमुख और ज्वलन्त नहीं होते, जितने कि व्यक्तिगत। सामाजिक प्रश्नों को वैयक्तिकता के आधार पर हल करने का प्रयत्न किया जाता है।

जोशीजी के उपन्यासों की कथाएँ जैनेन्द्र के समान सुश्रृङ्खल और सुगठित नहीं हैं, उनमें काफी उखड़ापन और विश्रृङ्खलता है। उनमें घटनाओं की स्वाभाविकता और उसके कार्य-कारण सम्बन्ध की ओर उपन्यासकार की दृष्टि नहीं रही है। उनमें अधिकांशतः तो फ्रायड आदि के बीमारों की केस-डायरी के संस्मरणों की ही प्रधानता है। फ्रायडवादी मनोविज्ञान पर आधारित उपन्यासों में केवल अवचेतन का ही चित्रण है जो मानव जीवन का सम्पूर्ण चित्र न होकर उसका एक अंग मात्र है। इस एकांगी चित्र को सम्पूर्ण जीवन की संचालिका-शक्ति मान लेना कोरा भ्रम है। मानव व्यक्तित्व न केवल काम का पुंज है और न केवल आर्थिक प्रश्नों का—वह तो बहुत ही गुम्फित, जटिल और संघर्षयुक्त होता है, उसे जीवन के किसी अंग पर आधारित व्याख्या से विवेचित करना उसी प्रकार हास्यास्पद सिद्ध होता है जिस प्रकार कि एक छोटी जंजीर से समुद्र की थाह लेना। आजकल वादों का युग है और इस

युग में जीवन के किसी एक प्रश्न को लेकर एक वाद खड़ा कर दिया जाता है और सारे जीवन की जटिलताओं को उसी के आधार पर सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है। इसका फल यह होता है कि साहित्य में एकांगिता और अतिवादी दृष्टिकोणों की बहुलता हो जाती है।

प्रेमचन्द काल में आदर्श और यथार्थ का झगड़ा काफी दिन चला और किसी न किसी रूप में आज भी वर्तमान है। प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थ-वाद की गूँज भी रही और आगे चलकर मार्क्सवादी यथार्थवाद का नारा लगाया गया। कुछ समय तक लेखक और आलोचक शब्दों के जाल में फँसे रहे और कोई निश्चित धारणा न बन सकी, किन्तु विवेचन होने पर प्रेमचन्द और गोर्की के यथार्थवाद में कोई मौलिक भेद आलोचकों को प्रतीत न हुआ और दोनों के सन्देश की एक ही भूमिका ठहराई गई। प्रेमचन्द की रचनाओं का पुनर्मूल्यांकन दिया गया और कुछ आलोचकों ने तो उन्हें पूर्ण मार्क्सवादी ठहराया। प्रेमचन्द ने साहित्य का उद्देश्य "मन का संचार" स्वीकार किया है। सौन्दर्य का कारण उन्होंने सामंजस्य माना है।[1] कला को वे उपयोगिता-वादी दृष्टि से देखते हैं[2] और घोर भौतिकवादियों के स्थान के सत्य और

---

१. "बाजों का स्वरसाम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वों के समानुपात में संयोग से हुई है; इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य की, उसी सामंजस्य की, खोज में रहती है। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह इसमें वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं वहीं दृढ़ता है और जीवन है; जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है—द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है।........साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है, दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।" ('कुछ विचार' : प्रेमचन्द, पृ० १४-१५ ।)

२. "मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुञ्जी है, पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता

(शेष आगे के पृष्ठ पर)

सौन्दर्य को निरपेक्ष न मानकर सापेक्ष ही मानते हैं[1] और इस प्रकार उनकी काव्यशास्त्रीय मान्यताएँ आधुनिकतम हैं जो वर्तमान कथा साहित्य को एक नवीन मोड़ देने में समर्थ रही हैं।

आज का मार्क्सवादी, फ्रायडवादी, उपन्यासकार प्रेमचन्द की उपन्यास की परिभाषा[2] को स्वीकार करके उसे अपने ढंग से प्रयुक्त करता है। नग्न यथार्थ-वाद जिसे प्रकृतवाद भी कहा गया है, भारतवर्ष के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सका है। इसका कारण है कि कला का उद्देश्य यहाँ केवल संवेदना उत्पन्न करना नहीं रहा है वरन् पाठक को लोकोत्तर रसदशा में पहुँचाना रहा है। इसीलिए प्रेमचन्द ने केवल बुराइयों और आदर्शोन्मुख कल्पनाओं से विहीन यथार्थवाद का विरोध किया है। आदर्श भी अयथार्थ नहीं होता है उसका भी हमारे यथार्थ जीवन में स्थान है प्रेमचन्दजी की ऐसी मान्यता थी।[3] सन् १९३६

(शेष पिछले पृष्ठ का)

हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगितायुक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुःख भी······कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।" (वही, पृ० १८-१९।)

१. "सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है।" (वही, पृ० १९।)

२. "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना यही उपन्यास का मूलतत्त्व है।" (वही, पृ० ७१।)

३. "यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का बुरा ······यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस प्रकार यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।······अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं, तो इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठाएँ,—इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो

(शेष अगले पृष्ठ पर)

में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो चुकी थी और प्रेमचन्दजी ने कलाकार को स्वभावतः प्रगतिशील स्वीकार कर लिया था। किन्तु प्रगतिशील आलोचकों ने आगे चलकर केवल मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को स्वीकार करने वालों को ही इस वर्ग में स्वीकार किया और मानवतावादियों तक को उन्होंने अप्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी माना।

आगे चलकर उन्हीं उपन्यासों को प्रगतिशील माना गया जिनमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया गया। इस कोटि में सर्वश्री यशपाल, राहुल, सांस्कृत्यायन, रांगेय राघव, नागार्जुन, राजेन्द्र यादव, अमृतराय, भैरवप्रसाद गुप्त, अश्क आदि आते हैं। साहित्यकार अपने उपन्यास के केन्द्र में मानवता को स्वीकार करके चलता है। सबसे बड़ी विशेषता जो मार्क्सवादी उपन्यासों में पाई जाती है, वह है उपन्यासकार का सामाजिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण। वह इतिहास को अपने हृदय में छिपाये हुए आगे चलता है और व्यक्ति को उसके परिवेश में रखकर देखता, जाँचता और स्वीकार करके आगे बढ़ता जाता है। "समाजनिरपेक्ष चरित्रों" का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। वह मानव के आर्थिक सम्बन्धों की खुलकर व्याख्या करता है और चरित्र के विकास एवं परिवर्तन आदि का कारण इन्हीं सम्बन्धों को स्वीकार करता है। आज के भारतीय समाज में दो वर्गों की स्थिति स्वीकार की गई है—पूँजीपति और सर्वहारा। पूँजीवाद जैसे-जैसे विकसित होगा वर्ग संघर्ष भी उत्तेजित होता जायगा। आज पूँजीपति के प्रति सर्वहारा की घृणा को जितनी तीव्रता से उत्तेजित किया जायगा, उतना ही उपन्यास सफल होगा, क्योंकि उससे सामजिक क्रान्ति को सुयोग शीघ्र मिलेगा। मार्क्सवादी कथावस्तु साधारण कृषकों, मजदूरों और सर्वहारा को लेकर चलती है, उसमें परस्पर संघर्ष और विषमता दिखाने के लिए शोषकवर्ग को भी दिखाया जाता है तथा शोषण की प्रणाली और शोषकों के हथकण्डों की खुलकर मीमांसा की जाती है।

ऐंगिल्स और गोर्की दोनों ने मार्क्सवादी उपन्यासों की कसौटी टाइप

(शेष पिछले पृष्ठ का)

स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं।........ यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।....... आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।" (वही ७४-७६।)

चरित्रों की गाथा को स्वीकार किया है। टाइप का अर्थ है—जिस चरित्र में व्यक्तिगत के अतिरिक्त समाजगत विशेषताएँ उभरे हुए रूप में दिखाई गई हों।[1]

इस यथार्थवाद में दो विशेषताएँ होती हैं कि पात्र सामाजिक तत्वों के प्रतिनिधि होते हुए भी व्यक्तिगत विशेषताओं से विहीन न हो। यदि व्यक्तिगत गुणों का पूरा-पूरा विकास न दिखाया जा सकेगा तो उसके अभाव में उपन्यास के पात्र सजीव न होकर केवल यंत्र-चालित-कठपुतली मात्र रह जाते हैं। परिस्थिति और परिवेश तो पूर्ण रूप से उतारे जाते हैं किन्तु स्पन्दनशील व्यक्तियों की ओर ध्यान कम ही दिया जाता है। कभी-कभी तो कथानक को इस प्रकार स्वीकार किया जाता है जिससे मार्क्सवादी दर्शन को व्याख्यानों, भाषणों और वक्तव्यों में प्रस्तुत किया जा सके और कथाकार इस धुन में इतने आगे बढ़ जाते हैं कि उन्हें यह भी याद नहीं रहता कि वे मार्क्सवाद के सिद्धान्त पक्ष का विवेचन नहीं कर रहे वरन् उपन्यास लिख रहे हैं। उनको कभी-कभी यह भी याद नहीं रहता कि कला का सर्वप्रथम गुण (अनिवार्य गुण) संप्रेषणीय तथ्यों को रागात्मक बनाना है। कुछ मार्क्सवादी उपन्यास इस कला में बहुत सफल भी रहे हैं। मार्क्सवादी उपन्यासों में जहाँ रागात्मकता की कमी हो जाती है वहीं उनमें उथलापन आ जाता है। कला की कसौटी उसकी संवेदनशीलता है। इलिया एहरनबर्ग ने स्वीकार किया है कि सोवियत साहित्य की अधिकांश रचनाएँ इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती हैं। वे पाठकों को उस भाव-भूमि पर ले जाने में असमर्थ रही हैं जहाँ गोस्वामी तुलसीदास और महात्मा सूरदास की रचनाएँ एवं मीराबाई के पद ले जाते हैं। भवभूति जिस करुणा को उभार सका उसे कोई भी मार्क्सवादी उपन्यासकार आज तक उभारने में असमर्थ रहा है। जब तक मार्क्सवादी साहित्यकार मानव-भाव-भूमियों में इतनी गहरी पैठ नहीं लाते हैं तब तक जनता के मन को सुसंस्कृत और एकात्मक नहीं कर सकते। टॉलसटॉय की कला और मार्क्सवादी कलाकार की विचारणा जब कभी एकत्र होगी तभी मार्क्सवादी उपन्यास का मार्गदर्शी उपन्यास लिखा जायगा। गोर्की और मार्क्स आदि सभी ने स्वीकार किया है कि कला जितनी परोक्ष होगी, उसमें निहित सत्य जितना छिपाकर प्रस्तुत किया जायगा—वह उतनी ही उच्चकोटि की होगी और उसका लोगों पर उतना ही गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ेगा। किन्तु यशपाल जैसे उपन्यासकार भी इस सत्य को हृदयंगम नहीं कर पाये हैं।

---

1. "Realism to my mind implies besides truth of detail, the truthful reproduction of typical characters under typical circumstances." (Engles)

यशपाल के उपन्यासों में कहीं-कहीं तो हमें प्राकृत-यथार्थ के दर्शन होते हैं। इसे 'रोमाण्टिक यथार्थवाद' कहा गया है।[1] यशपाल यह नहीं दिखाते हैं कि गोर्की के 'मदर' की तरह कोई पात्र स्वतः कम्युनिस्ट पार्टी की ओर उन्मुख होकर विकासशील चरित्र बनता चला जाय और उसके चरित्र की विशेषताएँ एक-एक करके सामने आती चली जायँ। वे दिखाते हैं कि पात्र अधिकांशतः परिस्थितिवश ही कम्युनिस्ट बनते हैं तथा उनके क्रान्तिकारी होने का कारण उनकी यौन-वर्जनाएँ हैं। दमित काम उन्हें हिंसावादी और क्रान्तिकारी बना देता है। ऐसे उपन्यासों को पढ़कर ही लोग यह अन्दाज लगाने लगे हैं कि मार्क्सवादियों में नैतिकता की कमी होती है। वे पहले मार्क्सवादी हैं और पीछे कुछ और। कुछ उपन्यास अच्छे भी लिखे गये हैं, जैसे नागार्जुन का 'बलचनमा'।

कथावस्तु की सफलता की दृष्टि से 'बलचनमा' को मार्क्सवादी उपन्यासों के लिए हम आदर्श कह सकते हैं। उसमें बलचनमा के बचपन से लेकर जीवन के मध्यान्त तक की घटनाओं का चित्रण है। इसकी कथा नायक के मुख से ही आत्म-चरित्र प्रणाली में कहलाई गई है। 'बलचनमा' देहात के भूमिजीवी श्रमिक का लड़का है। लड़कपन से ही वह जमींदार के घर भैंसें चराने के लिए नियुक्त हो जाता है। फिर उनके रिश्तेदार फूलबाबू के साथ पटना जाता है वहाँ की ज़िन्दगी देखता है। सत्याग्रह-आन्दोलन में फूलबाबू जेल चले जाते हैं। लौटकर आने पर वे एकदम गाँधीवादी हो जाते हैं। उनके साथ कुछ समय बिताकर वह फिर घर लौट आता है। उसके जमींदार मालिक उसकी सयानी बहिन रेवती के साय छेड़खानी करते हैं। वह दाँत से काट लेती है। बड़ा हल्ला मचता है। बलचनमा पर थाने में चोरी की रिपोर्ट होती है। वह भागकर फूलबाबू के यहाँ जाता है। कांग्रेसी सत्याग्रहियों का आश्रम है। वहाँ फूलबाबू से भेट होती है किन्तु फूलबाबू इस मामले में उसकी अवज्ञा कर जाते हैं। वहीं राधेबाबू से उसकी भेट होती है, जो इस आश्रम के संचालक हैं। वह उनकी सेवा में नियुक्त हो जाता है। यहाँ रहकर उसे इन सत्याग्रहियों के जीवन का समीप से परिचय मिलता है। राधेबाबू से अलग होकर घर पर गौना कराने आता है। विवाह के बाद बधू आती है और गृहस्थी मजे से चल निकलती है, इसी बीच खेतों पर संघर्ष होता है। जमींदार किसानों को भूमि से वंचित करने के लिए सारी ताकत लगा देते हैं। संघर्ष को बलचनमा संगठित करता है। एक रात सोते समय जमींदार के आदमी अचानक उस पर हमला करते हैं और मरणान्तक चोट से उसे जख्मी कर जाते हैं। —और यहीं उपन्यास समाप्त

१. 'आलोचना', अंक १३, पृ० २०५।

हो जाता है। उपन्यासकार ने आन्दोलन का नेतृत्व सोशलिस्ट पार्टी के हाथों में सौंपा है जो उनके व्यापक और परम्परायुक्त दृष्टिकोण का सूचक है। इस उपन्यास में नागार्जुन ने मिथिला के ग्रामीण जीवन का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। कथाकार प्रेमचन्द की परम्परा की अगली कड़ी है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि नागार्जुन का स्थान प्रेमचन्दजी से भी ऊँचा है, वरन् वह प्रेमचन्दजी के पश्चात् ग्रामीण किसान की सभी समस्याओं को चित्रित करने का प्रयत्न करते रहे हैं और इस चित्रण में उनकी दृष्टि तीव्र व्यंगकार की न होकर एक ग्रामीण जीवन के निकट सम्बन्धी और ममताशील सुहृद की है। कम्यूनिस्ट विचार-धारा के सिद्धान्तों का साहित्य में किस प्रकार प्रयोग होना चाहिए, इस कसौटी पर यह उपन्यास काफी सफल माना जायगा। कांग्रेसियों के आन्दोलन की सीमा स्पष्ट अंकित की गई है, किन्तु कांग्रेसियों की क्रान्तिकारी भूमिका को तथा उनके जनसम्पर्क को, जो सारे ग्रामीण समाज को साथ लेकर चल रहा था, अंकित नहीं किया गया है। इस दृष्टि से प्रेमचन्दजी की दृष्टि अधिक व्यापक और यथार्थवादी थी। समाजवादी यथार्थ का तात्पर्य यह नहीं है कि स्थितियों का एकांगी और अधूरा चित्र प्रस्तुत किया जाय। सामन्तवाद को समाप्त करने वाला पूँजीवाद भी प्रगतिशील होता है, किन्तु जब वह अपनी चरमावस्था पर पहुँच जाता है तभी वह प्रतिक्रियावादी होता है।

नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' में अप्राकृतिक व्यभिचार और फूहड़ शब्दों का प्रयोग यथार्थवाद की झौंक में किया है। इससे वह प्राकृतवादियों की सीमा में पहुँचते दिखाई देते हैं। 'नई पौध' और 'बाबा बटेसरनाथ' उनके अन्य दो उपन्यास हैं, जिनमें विषय और समस्याएँ तो पुरानी ही उठाई गई हैं, किन्तु वातावरण सर्वथा नवीन और मौलिक है जिससे समस्याओं के वैविध्य और गहनता का पता चलता है।

"खोखाह झा की नतिनी विश्वेश्वरी विवाह योग्य आयु की हो गई है। मिथिला में एक मेला जैनियों के मेलों के समान लगता है जिसमें विवाह की इच्छा से आये हुए बहुत से वर एकत्र होते हैं। वरों को खोजने वाले भी यहाँ आते हैं और दूल्हे देखकर गाने के विधान द्वारा निश्चित कर लिये जाते हैं। खोखाह झा बड़े चलते-पुर्जे आदमी थे। उनका काम अपनी लड़कियों की शादियों में अच्छी रकमें पैदा करना था। इस विवाह में भी वे चाहते थे कि एक अच्छी रकम ऐंठी जाय। इसके लिए कोई वृद्ध वर (?) उन्हें चाहिए था। अन्त में साठ वर्ष के एक कोई वृद्ध सज्जन, जिनके कई बाल-बच्चे थे खोखाह झा ने अपनी नतिनी के लिए ठीक कर लिए, शादी तय करदी गई और लग्न का दिन निश्चित हो गया। ठीक समय पर बरात आई और सारा

गाँव उस बरात को देखकर खोखाह झा को बुरा भला कहने लगा। गाँव के नौजवानों का एक गिरोह 'बमपार्टी' के नाम से विख्यात था। उन लोगों ने आपस में सलाह करली और तय किया गया कि चाहे जो कुछ हो किन्तु इस विवाह को न होने दिया जाय। उनकी चतुरता संगठन और युक्तियों की सफलता का परिणाम वही हुआ जो उन्होंने पहले से निर्धारित कर रखा था। बुड्ढे दूल्हे को अन्त में निराश होकर लौटना पड़ा और उसका तथा खोखाह झा का षड्यन्त्र चलने लगा। दूसरी ओर 'बमपार्टी' के नेता दिगम्बर ने वाचस्पति नाम के एक नौजवान को विवाह के लिए किसी प्रकार समझा-बुझा कर तैयार कर लिया। वाचस्पति सोशलिस्ट कार्यकर्त्ता था जो अपना सारा समय आन्दोलन-कार्य में दे देता था। सारा कार्यक्रम योजनावद्ध था। भारी सादगी के साथ सारी विवाह की कार्यवाही सम्पन्न हुई। नौजवानों के इस काम से सारा गाँव प्रसन्न हो गया और खोखाह झा की सारी योजनाएँ मिट्टी में मिल गईं।"

'नई पौध' की कहानी यद्यपि पुराने प्रश्नों को लेकर चलती है किन्तु पात्र, परिस्थित और वातावरण की नवीनता के कारण अन्त तक पाठकों की कौतूहल वृत्ति को आकर्षित किये रहती है। सामाजिक प्रश्नों की पृष्ठभूमि में आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि ज्वलन्त प्रश्न भी अंकित हो गये हैं। किन्तु उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य सामाजिक प्रश्नों का चित्रण ही है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता उसमें स्थानीय रंगों (local colours) का अभूतपूर्व प्रस्तुतीकरण है। मिथिला का ग्रामीण जीवन पाठकों के समक्ष साकार हो उठता है। इस उपन्यास में नागार्जुन के दार्शनिक की अपेक्षा उनका कलाकार ही प्रधान है और इसका फल यह हुआ है कि 'नई पौध' जैसा सुन्दर उपन्यास हिन्दी संसार को उपलब्ध हो गया है। इस उपन्यास में आंचलिक तत्त्वों का यथेष्ट समावेश हैं।

'बाबा बटेसरनाथ' में नागार्जुन ने नई तकनीक अपनाई है। एक प्राचीन वट वृक्ष के माध्यम से गाँव की कथा कहलवाई गई है। इसमें भूत-प्रेतों को स्थान देकर शैली में भी ग्रामीण मान्यताओं और अन्धविश्वासों के प्रति उपन्यासकार ने ममतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया है। इसमें कुछ अस्वाभाविकता आ गई है। इसमें भी किसानों पर होने वाले अत्याचारों की कहानी कही गई है। नागार्जुन की सशक्त शैली में इस उपन्यास की घटनाएँ और पात्र सजीव हो उठे हैं।

कथानक की सफलता और सोद्देश्यता की दृष्टि से नागार्जुन का

प्रयत्न स्तुत्य और पूर्ण सफल है। 'बलचनमा' और 'नई पौध' दोनों में उपन्यासकार ने एक भी वाक्य निरुद्देश्य और व्यर्थ का प्रयुक्त नहीं किया है। कथा भी तीव्र गति से आगे बढ़ती चली जाती है। जहाँ कहीं अत्यन्त आवश्यक हो गया है वहीं कोई सन्दर्भवश अन्य बात कही गई है, अन्यथा इधर-उधर की कोई बात नहीं कही गई है। नागार्जुन के कथानक यशपाल की अपेक्षा अधिक सुगठित हैं। यशपाल के 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' दो प्रसिद्ध उपन्यास हैं जिनमें क्रान्तिकारी पार्टी से सम्बन्धित पात्रों की कथाएँ चलती हैं। 'दादा कामरेड' की काफी ख्याति हुई है। 'देशद्रोही' और 'दादा कामरेड' दोनों उपन्यासों में यशपाल खुलकर मार्क्सवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु साथ ही साथ रोमांस भी इतना व्यापक और तीव्र रोल दिखाता है कि कहीं-कहीं तो यह निर्णय करना कठिन होता है कि उपन्यास रोमांसवादी है या मार्क्सवादी। चरित्रों की कुछ क्रियाएँ और बलिदान तक इसी घपले में अनिर्णीत रह जाते हैं। कोई भी मार्क्सवादी सिद्धान्तों का विश्वासी पात्र बिना प्रेम के नहीं दिखाया गया है। हम मान सकते हैं कि जीवन में प्रेम और काम का भी स्थान है, और मार्क्सवादी कोई ऐसा जन्तु नहीं होता जिसे प्रेम से वंचित रखने का आदेश मिल चुका है; किन्तु, यशपाल के उपन्यासों के पात्र और कथा साम्यवाद और रोमांटिक यथार्थ के ताने-बाने से बुने गये हैं।

उनके 'देशद्रोही' उपन्यास के कथानक की यदि परीक्षा की जाय तो प्रतीत होता है कि भगवानदास खन्ना की मुख्य कथा के साथ ही साथ अन्य आधिकारिक रोमांस भी इस उपन्यास में मिलते हैं। जितने स्त्री पात्र हैं वे किसी न किसी के प्रेम से ग्रस्त हैं। राज बद्रीबाबू से प्रेम करती है और यमुना सुजान (जो अफगानिस्तान के निसार का बदला हुआ रूप है) से। राज और बद्रीबाबू का प्रेम संयत अवस्था में चित्रित किया गया है, उसमें नग्नता और उच्छृङ्खलता का बोलबाला नहीं है। प्रेम उभयपक्षीय है और दोनों एक दूसरे के लिए बेचैन हैं, किन्तु उसका विकास हृदयों में होता रहता है। प्रेम की गम्भीरता और यथार्थ की रक्षा दोनों सिद्धान्तों का पालन इसमें हुआ है। यह प्रेम विकसित होकर अन्त में विवाह में परिणत हो जाता है। सुजान विवाह में ही विश्वास नहीं करता। वह विवाह को बुर्जुआ मनोवृत्ति का प्रतीक समझता है। वह यमुना से प्रेम करता है जो मित्रता की सीमाओं में बँधा रहता है। वह अन्त तक विवाह नहीं करता। वही कम्युनिस्ट प्रेम का आदर्श इस उपन्यास में चित्रित किया गया है। नर्गिस, गुलशन, चन्दा, राज और यमुना सभी अपने को समर्पित करने के लिए व्यग्र सी दिखाई देती हैं,

और जहाँ कहीं उन्हें अवसर मिलता है, वे अपने नारीत्व के भार को उतारने के लिए उतावली रहती हैं।

'पार्टी कामरेड' कला की दृष्टि से सुन्दर उपन्यास है। इसमें पदुमलाल मवरिया नामक बड़े सेठ को गीता नामक एक कम्युनिस्ट लड़की का प्रेमी दिखाया गया है। मवरिया जहाँ लफंगा है, वहाँ गीता के प्रेम में वह एकनिष्ठ है। गीता का प्रेम उसे सुधारता है और वह सुधरते-सुधरते पूरा कम्युनिस्ट बन कर एक दम अपना बलिदान भी कर देता है। लखपती सेठ असल में भ्रमर-वृत्ति वाले प्रेमी होते हैं, किन्तु मवरिया की वृत्ति चकोर की सी होती चली जाती है। इस पात्र की कम्युनिस्ट परिणति प्रेम का परिणाम है। प्रेम जहाँ इस प्रकार पात्रों के परिवर्तन का कारण बनता है और उसमें गम्भीरता बनी रहती है, वहाँ उपन्यास उच्च कोटि का हो जाता है।

सिपाही-विद्रोह में बलिदान होकर मवरिया एक उच्च आदर्श हमारे समक्ष प्रस्तुत कर जाता है और गीता के प्रेम की सफलता सिद्ध हो जाती है। इसका कथानक कम उलझावपूर्ण और अधिक प्रभावोत्पादक है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण वाले डॉ० रांगेय राघव के कई उपन्यास भी अच्छे बन पड़े हैं। 'विषाद मठ' में बंगाल के अकाल का हृदय-विदारक और वीभत्स चित्रण है। यद्यपि इस उपन्यास में कथा का केन्द्र बंगाल का एक ग्राम है, किन्तु इस सीमित परिधि में सारे बंगाल की तृस्त मानवता और भूखे बंगालियों की सारी व्यथाएँ साकार हो उठी हैं। इसमें अकाल की भयंकरता और वीभत्सता के अनेक पहलुओं का चित्रण काफी सफलता के साथ किया गया है। एक मुट्ठी अन्न के लिए व्यक्तियों का अपने खेत, घर और शरीर तक को बेचने का दृश्य बहुत ही मार्मिक तथा सत्य है। चित्रों की भिन्नता का वर्णन बदलते हुए पात्रों के माध्यम से किया गया है और इसमें नवीन घटनाओं और नवीन पात्रों को उनके पूर्ण परिवेश में प्रस्तुत करने में कथाकार यथेष्ट सफल हुआ है। वर्णन करते समय उपन्यासकार का यथार्थ के प्रति मोह और निष्पक्ष दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। यहाँ यथार्थ को रागात्मक बनाकर कला के माध्यम से संवेदनीय बनाने में रांगेय राघव को अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। सब कुछ स्वभावतः होता चला गया प्रतीत होता है, जो उपन्यास की आवश्यक विशेषताओं में से एक है। नारी की नग्नता का चित्रण तो है किन्तु उसमें 'घेरे के बाहर' या अन्य कामुकता पूर्ण उपन्यासों की नग्नता नहीं है, जिससे वासना उद्दीप्त होती है, वरन् उसमें तो करुणा का साम्राज्य है। यदि सड़क पर किसी भिखारी युवती को अर्धनग्नावस्था में देखते हैं तो उसकी दयनीय दशा पर तरस ही आता है या

समाज की स्वार्थपरता और वर्तमान व्यवस्था पर आक्रोश—न कि काम वासना की उद्दीप्ति। इस उपन्यास की यही विशेषता है।

शैली-शिल्प की दृष्टि से डॉ० रांगेय राघव ने भी कई प्रयोग किये हैं। 'हुजूर' इसका एक उदाहरण है। इस उपन्यास में सिनेमा के दृश्यों के समान कथानक बदल जाते हैं। एक कुत्ते के माध्यम से इन्हें एक सूत्र में जोड़ा गया है। कुत्ता विलायती है और सबसे पहिले किसी अंग्रेज सुपरिन्टेंडेन्ट के यहाँ शान-शौकत से रहता था। अपने पूर्व अनुभवों को सुनाता हुआ अंग्रेजों के अत्याचारों, शोषणों और शासन-नीतियों की तीव्र आलोचना करता है। फिर एक पुराने विलासी रईस का अनुभव सुनने को मिलता है, जहाँ आय-व्यय और चमक-दमक तो काफी थे किन्तु भीतर-भीतर कुत्सितता भी चरम-सीमा की थी। रईसों के पतन के साथ ही कुत्तों का स्थान-परिवर्तन हो जाया करता है। यहाँ भी ऐसा ही हुआ और फिर यह विलायती कुत्तेराम जमींदार मटरूमल के यहाँ पहुँचते हैं। वहाँ भी जमींदारी दाँवपेच और शोषण। फल इतिहासानुसार जमींदारी विक्रय ही होता है और कुत्तेराम को फिर आश्रयदाता की खोज करनी पड़ती है। अबकी बार उसका पाला एक गरीब चित्रकार से पड़ता है। गरीबों की कुण्ठाएँ और मजबूरियाँ कुत्ते को व्यथित करती हैं। निम्नवित्तवर्गीय कलाकार का जीवन एक ओर तो कृत्रिम हो जाता है और दूसरी ओर तृष्णापूर्ण। वह समाज के संवेदनशील वर्ग का सदस्य होने के कारण अन्दर ही अन्दर घुमड़कर रह जाता है, कुछ कर नहीं पाता—उसकी पीड़ा कला के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। यहाँ भी अपनी दाल गलते न देखकर कुत्ता मध्यमवित्तीयवर्ग की सीमाओं में प्रवेश करता है। मध्यमवर्ग अनेक वर्गों और विभिन्न परिस्थितियों का सन्धि-स्थल है, जहाँ गरीब पादरी, हताश लेखक, ताँगेवाला, सालिग सभी देखने को मिल जाते हैं। कुत्ता शिवसिंह के साथ रहकर मध्यमवर्ग की सभी कमजोरियों से परिचित हो जाता है। मध्यमवर्ग की सबसे बड़ी ट्रेजेडी यह है कि वह सदैव उच्चवर्ग में मिलने का प्रयत्न करता रहता है और उच्चवर्ग उससे घृणा करता है तथा उसे नीचा समझता है। अन्त में एक भूखी भिखारिन की बगल में बैठकर सारे अनुभवों की चरम परिणिति के दर्शन करता है।[1]

---

१. "एकाएक मैं चौंक उठा। कुछ विलायती अफसर भारत आये थे। उनका सरकारी इन्तजाम था। मेरी और जो० ओ० कोहन के साथ मटरूमल और एम०एल०ए० चमन मोटर में ताज देखने जा रहे थे। उनके पीछे

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अन्तिम दृश्य तक आते-आते सारा व्यंग्य अत्यन्त तीव्र और स्पष्ट होने लगता है।

यह उपन्यास कैमरे के छोटे-छोटे स्नैपों का संग्रह सा है किन्तु प्रत्येक चित्र अत्यन्त भावमय और प्रभावोत्पादक है। वर्ग-संघर्ष की तीव्रता और बदलते हुए सामाजिक प्रश्न उभर कर सामने आये हैं। नारी की परवशता और शिष्टता के आवरण में शोषितों की दयनीयता इस उपन्यास की सबलता है। समाज के विगलित अंगों की यथार्थ स्थिति चित्रित की गई है और बदलते हुए आर्थिक सम्बन्धों के परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न वर्गों की

(शेष पिछले पृष्ठ का)

मोटर में वही थानेदार था, जो साहब के यहाँ आता था। वह अब डी० एस० पी० हो गया था, क्योंकि अंग्रेजों ने उसके कारनामों की बड़ी तारीफ की थी। इसी मोटर में बिगड़े रईस रमेशसिंह भी खुशामद में बैठे थे। नवाब तो पाकिस्तान चले गये थे किन्तु उनके कांग्रेसी भाई भी थे। थोड़ी देर बाद एक खूबसूरत तवायफ को लिये मटरूमल का बेटा उसी सड़क से सिकन्दरे की ओर मोटर में गया। वह भी नेता था। तवायफ ऐसी बनी-ठनी थी जैसे उच्चवर्ग की स्त्री हो। मैं देखता रहा। शाम को सुखराम, भैया, बिशन और हरवंश को साइकिलों पर दफ्तरों में बबुआई बजाकर लौटते देखा। उनके कटोरदान साइकिलों पर रखे थे। वे हारे हुए, थके हुए थे। सालिग रिक्शा खींच रहा था। वह और गरीब हो गया था, मरियल हो गया था, मैंने देखा उस रिक्शे में घबराया सा लेखक था और वही पादरी उसके सामने हाथ फैलाकर खड़ा हुआ। लेखक ने दो पैसे उसके हाथ पर डाल दिये। रिक्शा चला गया। पादरी झुका हुआ-सा धीरे-धीरे चला गया।

"वही अनाड़ी वकील इस वक्त बड़ी मोटर में जा रहा था।........ उसका भी कांग्रेस में रिश्ता था........तभी गुरू, शिवसिंह, मदरासी लेखक और सरल हृदय रामसिंह तथा मुसाफिर लाल मकान ढूँढ़ते हुए दिखाई दे रहे थे। आजकल वे सब सड़क के वाशिन्दे थे जिसे अंग्रेजी में कह सकते हैं 'केयर ऑफ फुटपाथ'।

"मैं हँसा। न जाने क्यों और कैसे मैं हँसा।..........लौट चला। मन्दिर में सामने देखा मटरूमल की वही बीबी डेढ़ मन घी का दीपक जलवा कर निकली थी.........पुण्य कमाने का तरीका सीधा ही था।"

('हुजूर' : डॉ० रांगेय राघव।)

दशा किस प्रकार बदल जाती है, यह भी परोक्ष रूप से इस उपन्यास में दिखाया गया है। उपन्यास में शासक, शोषक, जमींदार, पूँजीपति, नेता आदि के चरित्रों की ह्रासशीलता और विलासिता का सुन्दर चित्रण है, किन्तु समय के साथ साथ समाज के कौन से प्रगतिशील तत्त्व उसे आगे बढ़ाने में समर्थ होते रहे हैं, इसका चित्र भी दिया जाना चाहिए था, जो नहीं दिया गया है। अंग्रेज अफसर के घर उसकी पुत्री की कामुकता और मतलब निकल जाने पर धोबी के लड़के की निर्मम हत्या, सेठ हरिदास के घर में खुला व्यभिचार, मटरूमल और उनके पुत्र का नग्न अनाचार, मसूरी में सौन्दर्य और नारीत्व का खुला क्रय-विक्रय, मटरूमल की जमींदारी में कारिन्दे और मैनेजर की ऐयाशी" आदि दृश्य बड़े हृदय-विदारक और समाज के ऊपर तीव्र व्यंग्य हैं। समाज यह सब देखता, समझता और सहता चला जा रहा है। यही दुःख है।

आलोच्य काल में कुछ नीतिपरक उपन्यास भी लिखे गये हैं। उपन्यास और नीति का प्रश्न कला और आचार के प्रश्न का ही एक अंग है, किन्तु जब से उपन्यास आज के युग के सभी ऊहापोहों और संघर्षों का चित्र प्रस्तुत करने लगा है, तब से उसकी नीतिपरकता अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। यद्यपि उपन्यास का जन्म मनोरंजन हेतु हुआ था और यह तत्त्व अब भी उससे जुड़ा हुआ है किन्तु आज वह केवल मनोरंजक और कौतूहल वृत्ति को शान्त करने वाला नहीं रह गया है। युग और समाज के गम्भीरतम प्रश्नों की अभिव्यक्ति आज के उपन्यास का विषय बन गई है। नीति शास्त्र में यह विवेचन सीधा होता है जिसे मानव-मन स्वीकार नहीं करता और उपन्यास में यह राग के माध्यम से आता है, अतः कान्ता का सा प्रेमपूर्ण उपदेश ('कान्तासम्मितयोपदेशयुजे') कहलाता है। उपनिषदों से चली आती हुई यह उपदेश प्रधान आख्यानों की परम्परा जो हितोपदेश और पंचतन्त्र की परिधियों से घिरती चली आ रही थी, आरम्भिक युग में 'परीक्षा गुरु' के रूप में दिखाई दी। वर्तमान काल में भी उसके कुछ रूप दिखाई दिये हैं; यद्यपि उसका पुराना रूप बदल गया है और उसने युगानुरूप सर्वथा नवीन मार्ग अपनाया है। हिन्दी उपन्यास गाँधीवाद (सर्वोदय), मार्क्सवाद, फ्रायडवाद आदि अनेक जीवन-दर्शनों को अपना विषय बनाता रहा है और फ्रायडवाद को छोड़कर शेष दोनों दर्शनों का नीति से गहरा सम्बन्ध है। गाँधी-दर्शन को सभी नैतिक मानते हैं किन्तु मार्क्सवादी दर्शन भी अनैतिक नहीं कहा जा सकता। जो दर्शन समाज से शोषण, अन्याय, वर्गवाद और असमानता को मिटाकर वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है, उसे अनैतिक कैसे कहा जा सकता है? हाँ, उसके साधनों में हिंसा को भी प्रश्रय मिला है, सो भारतीय संस्कृति के

अनुसार धर्म के लिए युद्ध को अहिंसात्मक माना गया है, न कि हिंसात्मक। गीता और रामायण की संस्कृतियाँ इसकी सबसे बड़ी गवाह हैं। महाभारत के कृष्ण का चरित्र भी ऐसा ही उपदेश देता है। मार्क्सवादियों का उद्देश्य भी पूर्ण शान्ति और अहिंसा है। हमारे सारे सामाजिक और कौटुम्बिक-सम्बन्ध नीति के अन्तर्गत आते हैं। उनका विश्लेषण नीति के आधार पर किया जा सकता है किन्तु नीति का एक संकुचित अर्थ भी गृहीत होता है और साधारण भारतीय लोगों में उसका यही अर्थ प्रचलित है; और वह अर्थ है यौन-सम्बन्ध। लोक में नीति का अभिप्राय यौन-नीति है।

इस प्रश्न की अभिव्यक्ति भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' उपन्यास में हुई है। इस उपन्यास में लोक-प्रतिष्ठिति आचार सम्बन्धी विचारों की सापेक्षता दिखाकर उन्हें व्यर्थ सिद्ध किया गया है। सिद्धान्तों के व्यावहारिक पक्ष की व्यर्थता भी स्पष्ट की गई है। परिस्थितियाँ व्यक्ति के ऊपर हावी होकर उसे सिद्धान्तों से गिरा देती हैं। रत्नाम्बर का कथन वर्माजी के मत को प्रकट करता है[1] और उसी आधार पर पाप और पुण्य की निस्सारता प्रतिपादित की गई है।

इस दृष्टिकोण को यदि मानव की स्वतन्त्र संकल्पबुद्धि का विरोधी माना जाय तो इसकी आंशिक निस्सारता स्वयं स्पष्ट हो जाती है। मनुष्य परिस्थितियों का दास और सेवक तो होता है, किन्तु उनके विरुद्ध वह खड़ा होकर संघर्ष भी तो करता रहता है। इस संघर्ष को भी अयथार्थ और व्यर्थ नहीं माना जा सकता। मनुष्य की मनुष्यता उसकी कमजोरी और उन कम-जोरियों के खिलाफ सतत् संघर्ष-रत रहने में है, अन्यथा उसमें और पशु में कोई अन्तर ही नहीं रह जायेगा। 'चित्रलेखा' में वर्माजी का दृष्टिकोण पापी और उसके साथ ही साथ पाप के प्रति सहानुभूतिपूर्ण है, किन्तु इससे कम-जोर इच्छाशक्ति वाले मनुष्यों को ऊपर उठने के प्रयत्न की असफलता सार्थक और युक्तियुक्त प्रतीत होने लगती है और आगे चलकर तो वह अपनी कम-जोरियों को उचित समझने लगता है। यूरोपीय नीति से प्रभावित होने के कारण उपन्यास में दूसरा दृष्टिकोण प्रस्तुत ही नहीं किया गया है।

"कथा का आरम्भ, उसका विकास एवं अन्त सभी पहिले से निश्चित

---

१. "जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है, और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नहीं है, केवल साधन है, फिर पुण्य और पाप कैसा ?" ('चित्रलेखा')

करके ही लेखक ने लेखनी उठाई होगी। इस प्रकार के उपन्यासों में कृत्रिमता आ जाने की सम्भावना रहती है। जीवन की गति किसी निश्चित योजना पर अवलम्बित नहीं है। 'चित्रलेखा' की सभी घटनाएँ पूर्व निश्चित हैं सही, किन्तु कलाकार के कौशल ने उन्हें इस प्रकार नियोजित किया है कि उसमें यंत्रवत् शुष्कता अथवा कृत्रिमता नहीं आने पाई है। किन्तु उपन्यास की सरसता एवं स्वाभाविकता का एकमात्र कारण उपन्यासकार का कौशल ही नहीं है, बल्कि यह है कि यह उपन्यास सोद्देश्य होने से कहीं अधिक एक रूपवती नारी की सरस गाथा है, रूप ही जिसकी शक्ति है, समाज की थोथी मर्यादाएँ जिससे आकर टकराती हैं और चूर हो जाती हैं, सांसरिक अनुभवों के कारण जिसने अपने पर काबू पा लिया है, जो सिद्धान्त की पाषाण प्रतिमा ही नहीं बल्कि सांसरिक विलास की मूर्ति भी है, जिसका आत्मबल इतना महान है कि सारा जमाना चरण चूमने को लालायित रहता है किन्तु निकट तक भी नहीं पहुँच पाता, जिसकी कृपा से ही लोग उसके निकट पहुँच पाते हैं जो सम्पूर्ण समाज में बीजगुप्त से व्यक्ति कहीं एक होते हैं, समाज की महत्वपूर्ण समस्याएँ जिससे उत्पन्न होती हैं और जो उनका समाधान भी है।"[१]

भगवतीचरण वर्मा ने 'तीन वर्ष', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' और 'आखिरी दाँव' तीन उपन्यास और लिखे हैं। वर्माजी तीव्र व्यंग्यकार हैं; उनके उपन्यासों में समाज और राष्ट्र की चलती हुई समस्याओं का सुन्दर प्रस्तुतीकरण है और उसमें जहाँ कहीं खामी है उस पर करारी चोट भी है। वर्माजी ने यथार्थ और व्यंग्य को स्वीकार करके उपन्यासों के कथानक भी उसी दृष्टिकोण के अनुरूप अपनाये हैं।

'तीन वर्ष' में विश्वविद्यालय की कथा वर्णित है। विश्वविद्यालय में वर्माजी ने स्वयं अनुभव किये हैं और उस पर आधारित होने के कारण इसमें यथार्थता आ गई है। ग्रामीण युवक विश्वविद्यालय में आकर किन मुसीबतों में फँस जाता है और उसका तीन वर्ष का समय किन-किन परिस्थितियों में होकर गुजरता है, इसका सुन्दर, मनोहारी तथा यथार्थ चित्रण इस उपन्यास में है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह वर्माजी के स्वयं के अध्ययन काल का वर्णन हो सकता है, जिसे उन्होंने प्रयाग तथा कानपुर में बिताया था। जो विद्यार्थी गाँवों से आते हैं वह शहरी छोकरों के मुकाबिले अधिक शर्मीले और शिष्ट होते हैं। शहरी उनकी इस शराफत का नाजायज फायदा उठाकर उनका

---

१. 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' (द्वितीय संस्करण) : त्रिभुवन सिंह, पृ० १९२-९३।

मजाक बनाते हैं, उन्हें छेड़ते हैं, ताने कसते हैं और कभी-कभी वेवकूफ बनाते हैं। यदि बनावनाया वेवकूफ मिल जाय तो उस पर दिल खोलकर हँसते भी हैं। रमेश एक ग्रामीण विद्यार्थी है, जो विश्वविद्यालय में आकर अजीत के 'मजाक का सामान' बनता है। अजीत मनोरंजन हेतु उससे मित्रता कर लेता है और धीरे-धीरे साहचर्य के फलस्वरूप दोनों में घनिष्टता हो जाती है और अजीत रमेश की आर्थिक मदद करता है। अजीत किसी राजा का छोटा भाई है और उसके पास धन की कमी नहीं। धन के कारण रमेश उससे दबने लगता है और उसकी प्रतिभा का विकास रुक जाता है। शराब और प्रेम के चक्कर में पड़कर वह उद्देश्य से भ्रष्ट हो जाता है और बी० ए० में द्वितीय श्रेणी ही प्राप्त कर पाता है। अन्त में जब उसे प्रेम की असलियत प्रभा (जिसे वह प्रेम करता है) के प्रति किये गये विवाह-प्रस्ताव से मालूम होती है तो वह विक्षिप्त हो उठता है। वह सोच भी नहीं सकता था कि प्रभा उससे प्रेम न करके पैसे और सांसारिक वैभव को भी महत्व देती है और वह महत्व उस स्वयं से अधिक है, इसकी कल्पना मात्र से ही उसका आस्तित्व सिहर उठती है। कथानक में रोचकता और सम्बद्धता का अभाव नहीं है। ध्येयोन्मुख होने के कारण कहीं-कहीं अस्वाभाविकताएँ आ जाना स्वाभाविक है।

'टेढ़े मेढ़े रास्ते' का कथानक १९३० के आसपास के भारतीय आन्दोलनों तथा उसके प्रति देश की विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के दृष्टिकोण और क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं की कहानी है। इस उपन्यास की कथावस्तु सुगठित और प्रभावोत्पादक नहीं है। इस उपन्यास को लिखने का वर्माजी का ध्येय कुछ 'टाइप चरित्रों' का निर्माण है। कांग्रेसी, क्रान्तिकारी, कम्यूनिस्ट, जमींदार, सरकारी अधिकारी आदि पुरुष पात्रों तथा नारियों के कई अन्य रूपों की सामूहिक (समाजगत) विशेषताओं का चित्रण इस उपन्यास का ध्येय है।

पंडित रामनाथ तिवारी एक बड़े जमींदार हैं, जिनके तीन लड़के उमानाथ, दयानाथ और प्रभानाथ हैं। छोटा भाई ज्ञाननाथ एस० पी० है। बड़ा लड़का काँग्रेसी है, बीच वाला कम्यूनिस्ट। यह कई साल यूरोप की हवा खाकर आया है और साथ में एक जर्मन महिला को पत्नी बनाकर लाया है जो हिन्दुस्तान में कम्यूनिज्म का काम करना चाहती है। तीसरा लड़का क्रान्तिकारियों से जुड़ जाता है और एक बंगाली लड़की से जो क्रान्तिकारिणी है (उसका नाम वीणा है) प्रेम करने लगता है। तिवारीजी की अकड़ और प्रतिष्ठा के प्रति मोह, भारतीय जमींदारों की मनोवृत्ति का परिचायक है। वह टूट जाना चाहते हैं किन्तु झुकना उन्हें नापसन्द है। उनका बीच का लड़का फरार होकर कहीं चला जाता है तथा सबसे छोटा लड़का

एक ट्रेन डकैती के सम्बन्ध में गिरफ्तार कर लिया जाता है। गिरफ्तार करने वाले पुलिस अफसर को वह रिश्वत देने को तो तैयार हैं किन्तु पुत्र को मुखबिर बनाकर छुड़ा लेना उनकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध होने के कारण उन्हें असह्य है। उनके लड़के एक-एक करके उनके हाथ से निकलते चले जाते हैं, किन्तु वे झुककर उनके साथ कोई समझौता नहीं करते। बड़ा लड़का उमानाथ उनके व्यवहार से असन्तुष्ट होकर यथेष्ट काल तक उनके पास तक नहीं जाता। वे उसके मोह को तोड़ देते हैं किन्तु उसके साथ समझौता करने को तैयार नहीं होते। वे इससे भी नाराज हैं, कि सब उनके सामने अपने को प्रस्तुत क्यों नहीं कर देते ? उनका छोटा भाई ऐसा पात्र है जो पूर्ण रूप से अपने को उनके सामने झुका देता है और सम्भवतः वह इसलिए कि सरकारी नौकरी यही सिखाती है। वह अन्त तक किसी की सहायता लेना अवांछनीय समझते हैं और अपनी सम्पत्ति में किसी का साझा उन्हें असहनीय है। इस कथानक में देश की प्रमुख राजनीतिक पार्टियों कांग्रेस, कम्यूनिस्ट और क्रान्तिकारी दल की गतिविधियों और उनके गत्यावरोधों आदि का दिग्दर्शन कराया गया है, कांग्रेसी आपसी दलबन्दी, फूट तथा स्वार्थपरता के शिकार हैं। कम्यूनिस्टों की नीति विदेशों से निर्धारित होती है और वे नीति के सामने उचित, अनुचित—सत्य, असत्य आदि किसी का भी ध्यान नहीं रखते। वे यूरोपीय समाज की मान्यताओं को स्वीकार करके, भारत में भी अन्धे होकर उन्हें लागू करना चाहते हैं, चाहे भारतीय वातावरण में उनका कोई उपयोग न हो—इससे उन्हें कोई सरोकार नहीं है। क्रान्तिकारी दल भय और तोड़-फोड़ में विश्वास रखता है। वे हत्याओं और डकैतियों में दिन-रात लगे रहकर उसी आधार पर देश को अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त कराने का स्वप्न देखते हैं। देश के तथा समाज के सभी गत्यावरोध इसमें आकर एकत्रित हो गये हैं। स्त्रियों की समस्याएँ भी स्पष्ट हैं। उमानाथ की पत्नी यह जानकर भी कि वह उससे प्रेम नहीं करता और एक अन्य विदेशी महिला से उसने यौन-सम्बन्ध स्थापित कर रखे हैं—वह उसे अपने आराध्यदेव के रूप में ही पूजती है और अपना सर्वस्व उसी पर अर्पण कर देती है। दूसरी ओर वीणा जैसी सुशिक्षित नारी क्रान्तिकारी है और बंगाली होते हुए भी प्रान्तीयता और जातिवाद की सीमाओं को तोड़कर प्राणनाथ से प्रेम करती है। समय पड़ने पर वह किसी से मिल सकती है, बन्दूक चला सकती है और पार्टी का भेद न खुल जाय इसके लिए अपने प्रिय को जहर तक दे सकती है। इन सारी समस्याओं और नारी प्रश्नों का सुन्दर चित्रण इस उपन्यास में हुआ है।

'आखिरी दाँव' में वर्माजी ने सिनेमा संसार का सुन्दर वर्णन किया है।

आज का शिक्षित युवक समुदाय किस प्रकार फिल्मी जीवन के प्रति आकृष्ट है तथा परिस्थितियाँ चरित्र-निर्माण में कितनी सहायक होती हैं, इसका सजीव चित्रण किया गया है। रामेश्वर, चमेली और शिवकुमार सेठ आदि पात्रों द्वारा समाज की बुराइयाँ, जैसे जुआ खेलना आदि का चित्रण और इनके द्वारा होने वाली मनुष्य की हीनता और पतन के ताने-बाने से इस उपन्यास का कथानक बुना गया है। आज फिल्मी दुनिया में कैसे-कैसे लोग पहुँचते हैं, इसका वर्णन इस उपन्यास में है। कथानक का गठन इसमें उतना मजबूत नहीं है, जितना कि वर्माजी से अपेक्षित है। उन्हें कथा का केन्द्र बम्बई के स्टुडियो को बनाना है और इसके लिए सभी पात्रों को खींचकर वे वहीं ले जाते हैं। सामाजिक व्यंग्य खूब उभरा है।

राजेन्द्र यादव ने 'प्रेत बोलते हैं' व 'उखड़े हुए लोग' नामक दो उपन्यास लिखे हैं। उनके कथानकों में यद्यपि सोद्देश्यता और उद्देश्य की ओर तीव्रता तो होती है, किन्तु साथ ही कुछ आनुसांगिक कथाएँ भी आवश्यकतानुसार आ जाती हैं। कौतूहल वृत्ति को जाग्रत रखते हुए अन्त तक इसका निर्वाह किया जाता है। कहीं-कहीं विवरण और चित्रात्मक शैली अपनाई गई है, वहाँ दृष्टिकोण एकांगी है। दृश्य का दूसरा पहलू या तो लेखक देख नहीं पाते या जानबूझ कर उसे छोड़ देते हैं। यही बात उपन्यासों के सन्देश के विषय में भी कही जा सकती है। 'उखड़े हुए लोग' में केवल सूरज ही अपने पूर्ण रूप में सामने आता है, शेष पात्र अधूरे रूप में। काँग्रेस आन्दोलन और सरकार के प्रगतिवादी रोल को अस्वीकार करके यह उपन्यास भी प्रोपेगेण्डा ही हो गया है। शुद्ध मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले यथार्थवादी उपन्यासकार को तो सारे गतिरोध और संघर्ष स्पष्ट करके सामने लाने चाहिए।

'उखड़े हुए लोग' में एक सप्ताह की घटनाओं का वर्णन है। इस उपन्यास में देशबन्धुजी एम० पी० उर्फ 'नेता भैया' काँग्रेसी लीडर हैं, जो अभिजात्यवर्ग के प्रतिनिधि हैं। वह आज के काँग्रेसी लीडर हैं, जिनके धन, दौलत, इज्जत, प्रेयसी, मिल, अखबार, महल आदि सब कुछ हैं। शहर के सभी आदमी उन्हें जानते और मानते हैं। मिनिस्टर उनके यहाँ आते हैं और ठहरते हैं। ऐसे महानुभाव के यहाँ शरद और जया जाकर ठहरते हैं। शरद जया नामक स्कूल की एक युवती अध्यापिका के यहाँ आया जाया करता है। जया उसे 'दादा' कहती है और इस शब्द के परदे में उनमें प्रणय-सम्बन्ध चलने लगता है। वह इस सीमा तक आ पहुँचता है कि वे एक दिन वहाँ से भागकर 'नेता भैया' की शरण में पहुँचते हैं। 'नेता भैया' उनके ठहरने का प्रबन्ध करा देते हैं और शरद को नौकरी दे देते हैं। अन्त तक कितना वेतन

मिलेगा इसका निर्णय नहीं हो पाता है। वहाँ पहुँचकर वे अपने को पति-पत्नी के रूप में प्रदर्शित करते हैं। वहाँ वे सात दिन रहते हैं और इसी समय के अनुभवों पर यह उपन्यास आधारित है। इस काल में 'नेता भैया' की रखेली मायादेवी तथा उनकी पुत्री से परिचय होता है। मायादेवी प्रौढ़ युवती होते हुए भी दिन-रात आँखों पर काला चश्मा चढ़ाये रहती है और 'भैया' के शब्द के परदे में 'नेता भैया' के साथ अनुचित सम्बन्ध रखती है। उसकी पुत्री के साथ भी 'नेता भैया' बलात्कार करना चाहता है। सूरज नामक एक सम्पादकजी हैं, जिनके माँ, बाप और घर आदि का कोई ठिकाना नहीं है। बचपन में पेट की ज्वाला तृप्त करने के लिए उसने सब कुछ किया है और जेबकटी, कुलीगीरी, अखबारों की नौकरी आदि अनेक क्षेत्रों का उसे पूरा-पूरा अनुभव है। देशबन्धु के यहाँ के लोगों में एक वही ऐसा है जिसे शरद और जया से सच्ची सहानुभूति है। जनता के प्रश्न को लेकर वह अन्त में अखबार की सम्पादकी से भी त्यागपत्र दे देता है। शरद इसी समय में 'नेता भैया' के यहाँ एक मिनिस्टर का जलसा भी देखता है, जिसमें प्रेम और सैक्स-समस्या की प्रधानता है। स्त्रियों की मनोवृत्ति का सुन्दर चित्र है। प्रोफेसर की पत्नी का जया के प्रति दृष्टिकोण यथार्थवादी है और सम्भवतः लेखक के जीवन के अनुभव पर आधारित है। एक सप्ताह में 'नेता भैया' की सारी पोलें समझ और देखकर शरद और जया चल देते हैं।

इस उपन्यास में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है, किन्तु समाज के जमते हुए लोगों की निष्ठा और मजदूरों (सर्वहारा) आदि की स्थितियों का चित्र न होने से पूरा दृष्टिकोण सामने नहीं आता है। काँग्रेसी शासन में भी पूँजीवाद अपनी सीमाओं को पहुँच रहा है और उसमें ही प्रतिवाद (antithesis) उत्पन्न हो रहा है, इसका चित्र उभर नहीं सका है। अँग्रेजों ने जिस औद्योगीकरण की नींव रखी और जिसे आज की सरकार का रक्त मिल रहा है, वह सामन्तवाद की समाप्ति पर क्या प्रगतिवादी नहीं रहा है? इस दृष्टिकोण से सोचने का प्रयत्न अधिकांश मार्क्सवादी उपन्यासकारों के समान राजेन्द्र यादव ने भी नहीं किया है। कथानक में शिथिलता कहीं नहीं है।

अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में रूढ़िग्रस्त समाज की दुर्बलताओं, अव्यवस्थित मान्यताओं, परम्पराओं द्वारा पालित विकारों एवं आग्रहों का जो विशाल सागर है, उसमें आज के व्यथित मानव का अस्तित्व एक बूँद के समान है। लखनऊ के अनेक वर्गों से आये हुए पात्र इसमें एकत्रित होते हैं। वनकन्या जैसी कम्यूनिस्ट महिला कार्यकर्ती यदि समाज को मिल जायें तो क्या कहना?

वनकन्या के चरित्र की विशेषाताएँ और समाज के लिए उसका उत्सर्ग सारे लखनऊ को आदर्श का पाठ पढ़ाता है । इसमें सज्जन, वनकन्या, महिपाल, शीला और कर्नल आदि पात्रों द्वारा समाज का खोखलापन और व्यभिचार का सुन्दर वर्णन किया गया है । बूँद भी समुद्र में तूफान मचा सकती है, सूक्ष्म में यही इस उपन्यास का कथानक है और वह बूँद है 'वनकन्या' जो सारे लखनऊ के समाज को उद्वेलित कर देती है । इसमें ताई, नन्दो आदि ऐसे पात्र भी हैं जो आज की सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं । समाजव्यापी व्यभिचार और अवांछनीय घृणित सम्बन्धों के माध्यम ताई और नन्दो हैं । आज के समाज की बदलती हुई परिस्थितियाँ इसकी सहायक सिद्ध हो रही हैं, न कि विरोधी । सिनेमा और रेडियो पर सिने संगीत का प्रभाव मिसेज वर्मा के है चरित्र द्वारा दिखाया गया है जो कई पतियों को छोड़कर फिर शादी करती है और पूर्व कालिक अनुभवों से लाभ उठाकर वह शरीर-दान विवाह के पश्चात् ही करती है ।

समुद्र में घोंघे-सीप भी होते हैं । समाज में अनेक समस्याएँ हैं जहाँ घिनौनी और पवित्र सभी प्रकार की परम्पराएँ पनपती और बढ़ती हैं । अनाथालयों और विधवाश्रमों में हमें आज वेश्यालयों के दर्शन होते हैं तथा बाबाजियों की कुटियों में सराय के । ये चित्र अपने यथार्थ रूप में 'बूँद और समुद्र' की शोभा हैं । गोमती किनारे की बाबाजी की कुटिया में समाज-सेवा के नाम पर पाप का नग्न प्रदर्शन होता है ।

उपेन्द्रनाथ अश्क ने 'गिरती दीवारें' नामक उपन्यास में चेतन नामक युवक की कहानी लिखी है । यह भी आत्मचरितात्मक कहानी ही है । चेतन की माता एक परम्परावादी बुढ़िया है । चेतन नामक युवक मध्यवित्तवर्गीय समाज का प्रतिनिधि है । जब चेतन मास्टरी छोड़कर लाहौर चला जाता है तो वहाँ के जीवन, रहन-सहन और समाज-व्यवस्था से परिचित होता है । वहाँ का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक और आज की समस्याओं को उभरे रूप में प्रस्तुत करता है कि किस प्रकार एक-एक मकान में दस-दस आदमी रहते हैं; बिना पत्नी वालों को मकान-मालिक मकान भी किराये पर नहीं देते हैं । लेखकों की समस्याएँ और उनका शोषण तथा प्रकाशकों से सम्बन्धों की बड़ी गाथा इस उपन्यास में है । बड़े-बड़े प्रोफेसर और लेखक किस प्रकार नवोदित लेखकों की कृतियों पर अपना अधिकार जमा लेते हैं तथा धनिक लोग धन के मूल्य पर एक शब्द न जानते हुए भी भारी लेखक बन जाते हैं, इसका वर्णन इस उपन्यास में है । चेतन के मन की स्थितियों और वितृष्णाओं का भी वर्णन है जो अनिच्छापूर्वक की हुई शादी के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है ।

धर्मवीर भारती और प्रभाकर माचवे भी इसी वर्ग में आते हैं जिन्हें सामाजिक यथार्थ को चित्रित करना पड़ा है। भारती ने 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' नामक दो उपन्यास लिखे हैं। 'गुनाहों का देवता' का नायक चन्दर और नायिका सुधा एक-दूसरे को प्यार करते हैं। एक विद्यार्थी है तो दूसरी उसके प्रोफेसर की पुत्री—उस प्रोफेसर की जो उसे अपने पुत्र के समान मानता है। आदर्शवादी युवक चन्दर लड़की को प्यार करता है किन्तु आदर्शवादी भी इस कोटि का है कि उस बात को जुबान पर नहीं लाता और देखते ही देखते सुधा पराई होकर चली जाती है। उसका आदर्शी मन जहाँ एक ओर अपनी प्रिय को खोकर शक्तिशाली बना रहना चाहता है और सुधा के आदर्शवादी प्रेम के सहारे आजीवन चला जाना चाहता है, वहाँ दूसरी ओर शीघ्र ही वह अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठता है। उसकी गुप्त वृत्तियाँ उभर आती हैं। जितना ही वह मन में पीड़ा को दबाना चाहता है, उतनी ही वह भड़कती है और वासनाएँ उसे पागल बना देती हैं। अपने अहं और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के कारण वह बहुत व्यथित होता है। वह उनकी तृप्ति के लिए इधर-उधर अपने चारों ओर दौड़ता है और प्रयत्न करता है। फल इसका होता है गुनाहों पर गुनाहों का करना। सुधा को उसकी दयनीय स्थिति का जब पता चलता है तो अपने चन्दर के लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाती है। उसका यह आत्मसमर्पण का दृश्य अत्यन्त ही कारुणिक है। इस उपन्यास में अव्यावहारिक आदर्शवाद की पोल खोली गई है तथा समाज के भावुक युवक और युवतियों की वर्गीय नैतिकता की असफलता का पूर्ण चित्रण किया गया है। यद्यपि यह कहानी दमित काम-कुण्ठाओं का वर्णन करती है, फिर भी समाज की अन्य मान्यताओं का पर्दाफाश हो जाता है जो ध्वंसोन्मुखी हैं और जो आज नहीं तो कल अवश्य ही मिट जायँगी।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में कहानी कहने की एक प्राचीन परम्परा का आश्रय लेकर गाँव की सात दोपहरियों में सात कहानियाँ कही गई हैं, जिन्हें यदि अलग-अलग पढ़ा जाय तो कहानी का आनन्द उठाया जा सकता है और एक साथ मिला कर पढ़ने पर उपन्यास का। कहानियाँ एक दूसरे से मिली हुई हैं, माणिक मुल्ला के माध्यम से। प्रेम की मार्क्सवादीय विवेचना स्वीकार की गई है और बताया गया है कि प्रेम समाज-निरपेक्ष और व्यक्तिगत नहीं है वरन् वह तो सदैव आर्थिक-व्यवस्था के अनुरूप चलता है। इसके मुख्य पात्र जमुना, तन्ना, सत्ती, महेश्वरदयाल तथा माणिक मुल्ला आदि पात्रों द्वारा मध्यवर्ग के सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। जमुना मध्यवर्ग की आर्थिक तथा पारिवारिक समस्याओं की प्रतीक है। विवाह, परिवार और प्रेम की आज

की खोखली मान्यताएँ सड़ गई हैं और वे जल्दी से जल्दी ढह जायेंगी। बदलते हुए समाज और उसकी नई बनती हुई मान्यताएँ प्राचीन ढाँचे में फिट नहीं हो सकती हैं, उन्हें तो समाज को बदल कर ही अपने मूल रूप में स्थापित किया जा सकता है। सामाजिक वैषम्य और वर्ग-संघर्ष तब तक नहीं मिट सकता, जब तक कि प्रगतिशील तत्वों के आधार पर समाज की मान्यताएँ क्रियात्मक स्वरूप धारण नहीं कर लेतीं। जमुना और तन्ना का स्वाभाविक प्रणय यदि विवाह के रूप में बदला जा सकता तो कितना अच्छा होता। आज भारत के शिक्षित समुदाय के अधिकांश युवक और युवतियाँ झूठी और थोथी वंश-परम्पराओं और दहेज की समस्याओं का शिकार हो रहे हैं। युवकों को मनपसन्द युवतियों के स्थान पर कुल-मर्यादाशील अवांछनीय पत्नी मिलती हैं और शिक्षित और सुसंस्कृत पति के स्थान पर एक घिनौना और ब्लैक मार्केटियर सेठ या कोई चार सौ बीस। दोनों में कोई साम्य नहीं और प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सारा जीवन एक ट्रेजेडी बनकर रह जाता है। जीवन-साथी का प्रश्न अर्थ-व्यवस्था पर आधारित होकर एक मजाक बनकर रह गया है। आज के जागरूक बौद्धिक युवक और युवतियों को इस परम्परा और भ्रष्टाचार के प्रति जिहाद बोलना चाहिए और जो शिक्षा तथा मर्यादाशीलता हमें असत्य, कुत्सित और ह्रासशील के प्रति आक्रामक नहीं बनाती उससे क्या लाभ ? हम दिल में यह समझते हैं कि ये प्रथाएँ बुरी हैं, किन्तु चिपके उन्हीं से रहते हैं। यह हमारी कायरता और बौद्धिक दिवालियापन है और इसका कारण कहीं बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं, यह तो हमारी बुर्जुआ मान्यताओं का ही परिणाम है।

भारतीजी के उपन्यासों में कहानी कहने की नई कला के दर्शन तो होते हैं किन्तु कथानक की गठन की दृष्टि से कोई विशेष सफलता उन्हें नहीं मिल सकी है। उनके उपन्यासों में एकसूत्रता और संगठन की कहीं-कहीं कमी खटकती है।

प्रभाकर माचवे ने 'परन्तु', 'एकतारा' आदि उपन्यास लिखे हैं। 'परन्तु' उपन्यास उनकी कला का नमूना हो सकता है, जिसमें एक व्यक्ति की कथा आद्योपान्त चलती है। इसमें पूँजीपतियों की धनलिप्सा और शोषण का सुन्दर चित्र है तथा साथ ही चित्र का दूसरा पहलू भी है जिसका शोषण होता है--- वे मजदूर और बेकस नारियाँ जो अपनी मजबूरी के कारण इनके सामने झुकने को तैयार हो जाती हैं। ऐसे ही दो पात्र हेमवती और सरजू पाण्डे की कहानी इस उपन्यास में कही गई है। हेमवती गाँव की एक विधवा कन्या है जो अपना समय काटने के लिए कलकत्ते में अपने मामा के यहाँ चली आती है। कलकत्ते में

सरजू पाण्डे अपने मालिक बूढ़े सेठ के लिए नई नवेलियाँ जुटाने का कार्य करता है। उसकी नौकरी इसी पर आधारित है, अतः वह इस घृणित काम को भी पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए करता रहता है। उसका आश्रयदाता सेठ लक्ष्मीचन्द आर्थिक विषमता के शिकार पुरुषों और नारियों को कम से कम पैसों में खरीदता रहता है। वह हेमवती को नौकरानी के रूप में पाकर जितने पैसे देता है उससे अधिक का तो काम ले लेता है, और उसके नारीत्व से खिलवाड़ मुनाफे में करता है। आर्थिक वैषम्य की चरम परिणिति हेमवती रोजी चले जाने के डर से इस घृणित और इच्छा विरुद्ध अत्याचार को भी अस्वीकार करने में असमर्थ रहती है। सूरज पांडे इसे बुरा समझता है और फिर भी उसी में लगा रहता है। यही इस व्यवस्था का अभिशाप है और इस उपन्यास की भूल संवेदना जो बदलते हुए युग के प्रहरियों के लिए खुली चुनौती है।

उदयशंकर भट्ट का 'नये मोड़' उपन्यास भी अपने ढंग का एक सुन्दर उपन्यास है। उन्होंने इस उपन्यास के नायक 'प्राणनाथ' में मध्यवर्गीय व्यक्तित्व की स्थापना की है। वह नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है और स्वयं इसे अपने से ही प्रारम्भ करना चाहता है। वह बौद्धिक है और अनेक ग्रन्थों से अर्जित पुस्तकीय ज्ञान उसके पल्ले है, किन्तु उस ज्ञान को वह पचा नहीं पाता—व्यावहारिक स्वरूप प्रदान नहीं कर पाता। वह साम्यवादी मानवतावाद का हिमायती है और उसका तार्किक समर्थन भी करता है, किन्तु इसके पीछे उसकी अनुभूति नहीं वरन् व्यावहारिक बुद्धि है। इस युग में आकर कथानक अधिक बौद्धिक और सूक्ष्म होते चले जा रहे हैं जो आज की चेतना के अधिक गुम्फित स्वरूप की अभिव्यक्ति के अनुरूप ही हैं।

कुछ नये उपन्यासकारों की विवेचना के बिना यह विवेचन अधूरा ही रहेगा। डा० देवराज का 'पथ की खोज' एक नवीन उपन्यास है जो आकर्षक और दार्शनिक तो है किन्तु कथानक की दृष्टि से दोषपूर्ण है। इसका नायक चन्द्रनाथ सामाजिक मान्यताओं और सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। वह साधना से प्रेम करता है और करता चला जाता है और इसे कभी भी अनुचित नहीं समझता, यद्यपि यह चित्रण असम्भव की सीमा तक जा पहुँचा है। इसमें यौन-प्रश्नों के साथ-साथ सामयिक समस्याओं को भी स्पर्श किया गया है किन्तु इस प्रेम-व्यापार के आर्थिक आधार पर प्रकाश नहीं डाला गया है। इससे अन्य सामाजिक विषमताओं और वैवाहिक समस्याओं पर भी प्रकाश पड़ता है, जैसे अनमेल विवाह आदि।

सरस्वतीसरन 'कैफ़' का 'ऊँची-नीची राहें' एक मार्क्सवादी उपन्यास है जिसमें वर्तमान मार्क्सवादी युवकों की मनोवृत्ति का वर्णन है। इस उपन्यास

का नायक रमानाथ एक कम्यूनिस्ट है, जिसका जीवन-दर्शन, आदर्श, रहन-सहन, आचार-विचार आदि एक आदर्श कम्यूनिस्ट के से हैं। जिस प्रकार गाँधीवादी आदर्श का प्रतीक 'रंगभूमि' का सूरे है वैसा ही मार्क्सवादी आदर्श का प्रतीक रमानाथ है। वह समाज से तिरस्कृत है और निर्धन भी, किन्तु उसमें परिस्थितियों से जूझने का उत्साह है। वह उच्च आदर्शों का पालन करता है और आदर्श-पालन हेतु अपने दल की उपेक्षा तक सहता है। सेक्स के प्रश्न के सामने वह झुक जाता है। इस उपन्यास में सेक्स और सस्ता रोमांस न होता तो उपन्यास अच्छा सिद्ध होता। यथार्थ के नाम पर लेखक प्रकृतवादी यथार्थ को भी स्वीकार करके रात को शराब पीकर वेश्या के कोठे पर लड़ाई करना, पत्नी के रहते हुए एक विधवा के साथ रतिक्रीड़ा करना और दिन में किसी नर्स को पकड़ कर उसका चुम्बन लेना आदि वर्णन बड़ी सफाई और निर्भीकता के प्रदर्शन हेतु कराता है। मार्क्सवाद का उद्देश्य सभ्यता और संस्कृति को भुलाकर यौन विकृतियों के इशारे पर आँख मींच कर चलना मात्र तो नहीं है, जैसा कि इस उपन्यास में दिखाया गया है।

श्रीराम शर्मा का 'नींव का पत्थर' मजदूर आन्दोलन पर आधारित है। इसमें पूँजीपतियों और मजदूरों की समस्याओं और संघर्षों का वर्णन है। यह तो उपन्यास के प्रारम्भ से ही मालूम हो जाता है कि युग की मुख्य मान्यता के अनुसार लेखक की सहानुभूति मजदूरों के साथ है किन्तु चित्रण की सफलता के लिए उभय पक्षीय चित्रण निष्कपटता के साथ होना चाहिए, जैसा कि यहाँ नहीं हो सका है। यह वर्गवाद को उभार कर सामने रखता है। इसमें वर्गवादी संघर्ष अपनी चरम सीमाओं को पहुँचाया गया है। यदि इस उपन्यास में लेखक अधिक तटस्थ और संयमशील होता तो उपन्यास और भी सुन्दर हो जाता।

कुमारिल देव का 'बन्धन मुक्त' उपन्यास भी एग्रेसिव उपन्यासों की कोटि में आता है और उसी कोटि के उपन्यासों से उसने प्रेरणा ग्रहण की है। लेखक वर्तमान से सन्तुष्ट नहीं है और कुछ नया लाने के लिए प्रयत्नशील है, किन्तु वह अभी अनिर्णीत अवस्था में पड़ा हुआ है। उसे स्वयं पथ का ज्ञान नहीं है, तब फिर भला दूसरों को मार्ग दिखाना कैसे सम्भव है? इसी प्रकार का एक और उपन्यास 'पतन का अन्त' है जिसे ओमप्रकाश एम० ए० ने लिखा है। इसमें सामाजिक विषमता और मजदूर संगठन का वर्णन है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि यथार्थवादी और मार्क्सवादी उपन्यासों के कथानक यथार्थ जीवन की समस्याओं और यौन प्रश्नों से ही बनाये गये हैं। इन उपन्यासों में प्रेम, सेक्स-प्रश्न, विवाह आदि प्रथाओं का सर्वत्र और यथेष्ट

वर्णन है। आज का समाज इन सामाजिक प्रथाओं और संस्थाओं को बदलती हुई परिस्थिति में नये रूप में देखना चाहता है और प्रश्नों को नये जीवन दर्शनों की मान्यतानुसार प्रस्तुत करना चाहता है।

आलोच्य काल में ऐतिहासिक उपन्यासों की बाढ़-सी आई है। राधाचरण गोस्वामी की परम्परा, जो प्रेमचन्द काल में वृन्दावनलाल वर्मा में ही सिमट गई थी, इस काल में फूट चली है। प्रसादजी ने इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों को नाटक के माध्यम से प्रस्तुत किया। उपन्यास का उद्देश्य मानवीय संवेदनाओं का विस्तार करके भावनाओं और विचारों के बीच एक नया सामंजस्य उत्पन्न करने का प्रयत्न है। जीवन के चिरन्तन सत्यों का उद्घाटन उपन्यासकार करता है। इतिहास का उद्देश्य भी प्रायः यही है, किन्तु उसकी दिशाएँ भिन्न होती हैं। इतिहास और उपन्यास का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उपन्यास में तिथि और घटनाओं के अतिरिक्त सब कुछ सत्य होता है और इतिहास में तिथि और घटनाओं के अतिरिक्त सब कुछ असत्य होता है। उपन्यास में सम्भाव्य की कसौटी नहीं रहती जबकि उपन्यास में रहती है। प्राचीन काल में इतिहास और कथा में कोई अन्तर नहीं था; जैसाकि उपन्यास की पूर्व पीठिका में बताया गया है। प्राचीनकाल में सारे शास्त्र एक रूप थे। साहित्य, दर्शन, कला और विज्ञान में कोई भेद नहीं माना जाता था। धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ ही साथ यह भेद अधिक स्पष्ट होता चला गया। आज इतिहास और कथा के तत्वों में मौलिक अन्तर आ गया है। इतिहास तिथियों, घटनाओं तथा परिणामों का ठीक-ठीक वर्णन उपस्थित करता है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास के अन्तर्गत तिथियों, घटनाओं आदि की यथार्थता पर इतना जोर नहीं दिया जाता, जितना कि तत्कालीन परिस्थिति, समाज-व्यवस्था, राष्ट्रीय और धार्मिक परम्पराओं आदि का रखा जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास में कोई उद्देश्य निहित होता है और उपन्यास की रचना उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होती है, जबकि इतिहास निरुद्देश्य घटना-संघटन है। इतिहास के पात्र यथार्थ होते हैं और उनके चरित्र की घटनाएँ जैसी यथार्थ में होती हैं वैसी ही दिखाई जाती हैं, जबकि उपन्यास में उपन्यासकार के उद्देश्य की पूर्ति प्रधान लक्ष्य होता है जिसे पात्रों के माध्यम से उपन्यासकार पूरा करता है। घटनाएँ भी उन पात्रों की इष्ट विशेषताओं की अभिव्यक्ति की सहायक होती हैं। इतिहासकार अतीत के चित्रण के समय वर्तमान पर दृष्टि नहीं रखता, जबकि ऐतिहासिक उपन्यासकार की दृष्टि वर्तमान समाज-व्यवस्था और आदर्शों पर ही रहती है। वह अपने उपन्यास के माध्यम से वर्तमान समाज को अतीत में की हुई त्रुटियों

और खामियों से परिचित करा देना चाहता है, जिससे आज का समाज अधिक सुखी और सुसंस्कृत हो सके।

ऐतिहासिक उपन्यास के कथानक की कुछ अनिवार्य विशेषताओं का वर्णन अपेक्षित है। ऐतिहासिक उपन्यासकार को अतीत काल का सजीव और मार्मिक चित्रण करना चाहिए। यथार्थवादी ऐतिहासिक उपन्यासकार को प्रत्येक युग की वास्तविकता को ढूँढ़ना चाहिए। जिस साहित्य में जो युग जितनी पूर्णता और वास्तविकता के साथ चित्रित हो जाता है, वह साहित्य उतना ही अमर—युग-युग का—और श्रेष्ठ सिद्ध होता है। शेक्सपियर आज भी इसलिए अमर है कि वह अपने युग का है तथा सारा युग उसमें प्रतिबिम्बित हो उठा है। घटनाओं और परिस्थितियों के ऐसे चित्रण ऐतिहासिक उपन्यास को कमजोर बना देते हैं, जिनमें आज का युग अतीत के माध्यम से बोलने लगता है और उसे प्रत्येक पाठक स्पष्ट देखता है। इस दृष्टि से राहुलजी के उपन्यास दर्शनीय हैं जिनमें प्रागैतिहासिक पात्र भी बीसवीं शताब्दी की भाषा बोलता है।

इतिहास को ऐतिहासिक उपन्यासकार बदल सकता है या नहीं? यह एक प्रमुख प्रश्न है जिस पर इधर काफी विवाद चला है। प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा के अनुसार इतिहास को मोड़ा नहीं जा सकता[1] और उपन्यास में इतिहास का ही समर्थन हो सकता है, जबकि राहुलजी आदि विद्वानों की मान्यता है कि इतिहास हो या समाज, हमें तो उसका माध्यम ही स्वीकार करना है और अपनी बात कहनी है। अतः उसमें अपनी आवश्यकतानुसार आवश्यक परिवर्तन और संशोधन करने का लेखक का अक्षुण्ण अधिकार है। कलापक्ष में मजबूती और निखार तथा प्रभावोत्पादकता उतनी ही अधिक आ सकेगी, जितना कि ऐतिहासिक आधार ठोस होगा। यशपाल और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास इसके सुन्दर और सफल उदाहरण हैं। लेखक को अपनी दृष्टि पूर्वाग्रह-मुक्त रखनी चाहिए। उसकी दृष्टि में जितनी निष्पक्षता और तटस्थता होगी, उपन्यास में उतनी ही शक्ति आ जायगी। इतिहास के जो तथ्य आज उपलब्ध हैं, उनकी कसौटी पर हम इन कृतियों को परखते हैं और इस प्रक्रिया में जो कृति जितनी सफल सिद्ध होती है, उसका मूल्य उतना ही अधिक आँका जाता है। ऐतिहासिक संगति के निर्वाह होने तक उपन्यासकार कल्पना का प्रयोग कर सकता है। शुक्लजी ने भी बताया है कि औचित्य की सीमा का उल्लंघन ऐतिहासिक उपन्यासकार

---

१. लेखक की वर्माजी के साथ आगरा में हुई बातचीत (नवम्बर १९५८)।

की असफलता होगी ।[१] ऐतिहासिक उपन्यासकार की कला की कसौटी यदि एक ही शब्द में कही जाय तो कहा जा सकता है जिस उपन्यासकार ने युग की वास्तविकता को जितने सच्चे अर्थ में समझ लिया है, वह उतना ही सफल उपन्यासकार है ।

ऐतिहासिक उपन्यासों में तीन प्रकार से सत्य का भ्रम कराया जाता है । पहिले प्रकार के वे ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें ऐतिहासिक पात्रों की योजना करके ऐतिहासिक-सत्य की उपलब्धि कराई जाती है । दूसरे प्रकार के उपन्यासों में पात्र तो कल्पित हो सकते हैं, किन्तु घटनाएँ ऐतिहासिक और इतिहास द्वारा मान्य तथा सुप्रसिद्ध होती हैं । और तीसरे प्रकार के उपन्यासों में पात्र और घटनाएँ दोनों काल्पनिक हो सकते हैं, किन्तु वातावरण, भाषा, रीतिरिवाज, वस्त्राभूषण आदि सभी उस काल के प्रस्तुत किये जाते हैं और उनके माध्यम से ऐतिहासिकता की रक्षा और निर्वाह किया जाता है । इन उपन्यासों में से सभी को ऐतिहासिक-उपन्यास कहा जाता है और कहा जा सकता है ।

ऐतिहासिक उपन्यास का कथानक उसी काल का लिया जा सकता है जिस काल का इतिहास या सभ्यता के उपकरण पाये जाते हैं; क्योंकि जिस काल की कोई ऐतिहासिक खोज नहीं हुई है और इतिहास की कसौटी ने जिन तथ्यों और घटनाओं को स्वीकृत नहीं किया है, उनका इतिहास नहीं लिखा जा सकता और यदि लिखा भी जायगा तो उसमें कल्पना का प्राधान्य ही होगा । उसे ऐतिहासिक नहीं माना जा सकेगा क्योंकि उसे इतिहास-सिद्ध प्रयोग बताने वाली इतिहास रूपी कसौटी ही नहीं है । ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहास-विहीन काल का चित्रण करके उसे ऐतिहासिक कहने का अधिकार नहीं है क्योंकि वह साहित्य स्रष्टा है इतिहासकार नहीं ।

ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहासवेत्ता से अधिक विद्वान होना चाहिए । इतिहासकार तो केवल तथ्यों के प्रति उत्तरदायी होता है, जबकि

---

१. "किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बाबर के सामने हुक्का रखा जायगा, गुप्तकाल में गुलाबी और फिरोजी रंग की साड़ियाँ, इत्र, मेज पर सजे गुलदस्ते, झाड़-फानूस लाये जायँगे, सभा के बीच खड़े होकर व्याख्यान दिये जायँगे, और उन पर करतल ध्वनि होगी, बात-बात में धन्यवाद, सहानुभूति ऐसे शब्द तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना ऐसे फिकरे पाये जायँगे तो काफी हँसने वाले और नाक-भौं सिकोड़ने वाले मिलेंगे ।" ('हिन्दी साहित्य का इतिहास' : आचार्य शुक्ल, पृ० ५३७-३८ ।)

उपन्यासकार को इतिहासकार के कर्त्तव्य के अतिरिक्त कलाकार के कर्त्तव्य 'ऐतिहासिक-औचित्य' का भी ध्यान रखना पड़ता है। हिन्दी के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि हैं तथा कुछ अन्य उपन्यासकारों में डॉ० रांगेय राघव, धर्मेन्द्रनाथ, चन्द्रशेखर, रणवीर, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, रघुवीरशरण मित्र, बेनीप्रसाद वाजपेयी, गोविन्दवल्लभ पन्त आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा ने गढ़ कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, कचनार, अमरबेल, मृगनयनी, झाँसी की रानी और माधवजी सिंधिया आदि उपन्यास लिखे हैं। इनमें मृगनयनी, झाँसी की रानी आदि की विशेष प्रशंसा हुई है।

'झाँसी की रानी' (१९४६) शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के माध्यम से १८५७ की भारतव्यापी क्रान्ति की कहानी है। इस युग की समीपता के कारण इसकी ऐतिहासिकता को समझना असम्भव नहीं है। सब कुछ स्पष्ट और तथ्य पुष्ट है। अंग्रेज इतिहासकारों ने झाँसी की रानी के चरित्र को गिराने की चेष्टा की है और उन्होंने लिखा है कि उनका जनरल रोज से युद्ध करने का कारण उनकी राष्ट्रीय भावना और स्वातन्त्र्य की उत्कट ललक नहीं थी, वरन् उनके दत्तक पुत्र को अंग्रेजों द्वारा अस्वीकार किया जाना था। वर्माजी देश के अन्य अनेकों देशभक्तों के समान इसको स्वीकार न कर सके और प्रबल जन-भावना को प्रतिबिम्बित करने के लिए उन्होंने वर्तमान 'झाँसी की रानी' उपन्यास लिखा। यह उपन्यास चार भागों में विभाजित है, जिसमें प्रामाणिक साक्ष्यों का सहारा लेकर वर्माजी ने लक्ष्मीबाई के चरित्र की व्याख्या उपस्थित की है। लक्ष्मीबाई के हृदय में बचपन से ही अंग्रेजों के प्रति घृणा और परतन्त्रता के प्रति विद्रोह की भावनाएँ उभर रही थीं। वे विवश होकर नहीं लड़ी थीं वरन् स्वेच्छा से स्वतन्त्रता के संग्राम में देश की मुक्ति के महान् यज्ञ की आहुति देकर अमर हो गईं।

इस उपन्यास का कथानक और राष्ट्रव्यापी आन्दोलन को लेकर चलता है। इस उपन्यास में कहानी (प्लॉट) की प्रधानता है, न कि अन्य तत्त्वों की। अन्य तत्त्व कहानी की पूर्णता के सहायक हैं। उपन्यास के प्रथम भाग (उषा के पूर्व) में उपन्यास के पात्रों का पूर्वपरिचय दिया गया है। इसमें रानी के पति गंगाधरराव के पूर्वजों का इतिहास, झाँसी राज्य की स्थापना का वर्णन और राजा गंगाधर राव के सम्बन्ध में सभी प्रकार की वैयक्तिक तथा सामाजिक जानकारी दी गई है। 'उदय' (द्वितीय भाग) में रानी के

बचपन की घटनाएँ, उनकी शिक्षा-दीक्षा और देश-प्रेम की भावनाओं का चित्र है। आगे चलकर उनका गंगाधरराव से विवाह होता है। विवाह के कुछ समय पश्चात् उनके गर्भ से एक पुत्र का जन्म होता है। पुत्रोत्सव के अवसर पर भारी खुशियाँ मनाई जाती हैं, किन्तु कुछ समय पश्चात् पुत्र मर जाता है। राजा और रानी दोनों की सहमति से दामोदर राव को गोद लिया जाता है। इसके पश्चात् वह महान् घटना होती है जिससे लक्ष्मीबाई को अपने जौहर दिखाने का अवसर मिलता है, अर्थात् राजा गंगाधर राव की मृत्यु हो जाती है। इस अवसर पर अंग्रेजों की बन आती है और वे झाँसी की रानी को व उनके पुत्र की वैधता को अस्वीकृत कर देते हैं तथा अंग्रेजी फौजें झाँसी पर अधिकार कर लेती हैं। इस अंश में रानी की लोकप्रियता तथा आने वाली महान् क्रान्ति के प्रयत्नों का सुन्दर वर्णन किया गया है। तृतीय अंश 'मध्याह्न' में गदर की पूर्वपीठिका का वर्णन प्रारम्भ होता है। विभिन्न सैनिक छावनियों में धीरे-धीरे असन्तोष की अग्नि भड़कने लगती है। रानी भावी युद्ध के लिए सेना का संगठन करने लगती है और उसमें उसे अपूर्व सफलता मिलती है। धीरे-धीरे विद्रोह प्रारम्भ होता है और झाँसी की सैनिक छावनी में भी क्रान्ति हो जाती है। रानी सैनिक सहायता से झाँसी पर पुनः अधिकार कर लेती है और वहाँ के शासन-सूत्र का संचालन करने लगती है। इस शासन काल में सागरसिंह जैसे भयंकर डाकू पकड़े जाते हैं। झाँसी पर नत्थेखाँ चढ़ाई करता है और पराजित होकर मुँह की खाता है। अंग्रेजी फौजें झाँसी पर आक्रमण करने के लिए जनरल रोज के नेतृत्व में झाँसी की ओर बढ़ने लगती हैं। अन्तिम अंश 'अस्त' में अंग्रेजी फौजों का झाँसी पर आक्रमण, किले की मोर्चेबन्दी तथा युद्ध का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। युद्ध-काल में रानी की हिम्मत, युद्ध-संचालन, लाघव तथा अन्य गुण स्पष्ट होते हैं। झाँसी के स्त्री-पुरुष भी वीरतापूर्वक अपना बलिदान करते हैं। किन्तु अन्त में झाँसी की पराजय के साथ अंग्रेजों की लूटमार प्रारम्भ हो जाती है। रानी झाँसी छोड़कर कानपुर की ओर बढ़ने लगती है। पेशवा की सेना की सहायता से वह कालपी में अंग्रेजों से भयंकर युद्ध करती है और उस युद्ध में अंग्रेजों को पराजित कर देती है। ग्वालियर पर पेशवा का अधिकार होने के कारण अंग्रेजी फौजें आक्रमण करती हैं। युद्ध करते-करते रानी घायल हो जाती है और बाबा गंगाराम की कुटी में आकर देश के नाम पर अपने प्राण-विसर्जन कर देती है।

कथानक के गठन की दृष्टि से इस कथा को सफल कहा जा सकता है, क्योंकि नाटकीय तत्त्वों का पूर्ण समावेश इस कथावस्तु में है। कथा प्रारम्भ

होकर उत्तरोत्तर विकसित होती चली गई है और पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचकर धीरे-धीरे अन्त की ओर अग्रसर होती है। रानी के जन्म के साथ उपन्यास प्रारम्भ होना है और मृत्यु के साथ समाप्त। यह उपन्यास भी जीवन-चरित्र की विशेषताओं से युक्त है और प्रेमचन्दजी की उपन्यास की कसौटी पर खरा उतरता है।

आलोच्यकाल में वृन्दावनलाल वर्मा ने अंग्रेजों के इस ऐतिहासिक कथन को चुनौती दी कि झाँसी की रानी का युद्ध करना तो परिस्थिति की मजबूरी थी, क्योंकि उसके दत्तक पुत्र को अंग्रेजी ने अस्वीकृत कर दिया था और झाँसी के राज्य पर अंग्रेजों ने कब्जा कर लिया था। वर्माजी अपने उपन्यास में इसे राज्य-क्रान्ति का स्वरूप प्रदान किया है और सारा प्रयत्न महान् राजनीतिक महत्त्व रखता है। देश के राष्ट्रीय विचारों वाले सभी सामन्त और देशी राजा इसमें सम्मिलित थे। आज-कल की खोजों और इतिहास के भुलाये हुए पृष्ठों में बिखरी सामिग्री से आज यह सिद्ध हो चुका है कि १८५७ का आन्दोलन केवल 'सिपाही-विद्रोह' न था, जैसा कि अंग्रेजों ने प्रचारित किया था, वरन् यह तो भारत देश के परतन्त्र स्वदेशप्रेमियों को अपने ऊपर से विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने का देशव्यापी और सशक्त, किन्तु कुछ देश के गद्दारों की गतिविधियों के फलस्वरूप असफल, स्वतन्त्रता आन्दोलन था। आज इस पृष्ठभूमि पर रखकर देखने से ज्ञात हो जाता है कि वृन्दावनलाल वर्मा ने इस उपन्यास के द्वारा कितनी बड़ी चुनौती को स्वीकार किया और उसका कितना सुन्दर, कलापूर्ण तथा प्रभावोत्कर्षक और इतिहासमान्य उत्तर दिया।

कुछ स्थलों को छोड़कर सभी स्थानों पर कला का पूर्ण उत्कर्ष दिखाई देता है। जहाँ वर्माजी केवल इतिहास के पीछे पड़े हैं अथवा ऐतिहासिकता की प्रधानता स्वीकार करके चले हैं, वहीं उनकी कला कमजोर हो गई है। उन्होंने इस बात की पूरी-पूरी चेष्टा की है कि ऐतिहासिक तथ्य कहीं भी भ्रष्ट न होने पाये। इस उपन्यास में राष्ट्रीयता का पूर्ण विकास प्रदर्शित किया गया है जिसमें असंख्य नाना जैसे वीरों और लक्ष्मीबाई तथा मुन्दर जैसी नारियों ने योगदान किया था। इतिहास के दूसरे पहलू का भी चित्रण है, जिसमें पीरअली और और दूल्हसिंह जैसे अनेक देशद्रोही और विश्वासघाती आते हैं, जिन्होंने देश के हित और स्वतन्त्रता को सदैव अपने स्वार्थ और अवसरवादिता की बलिवेदी पर होम दिया था, अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो तथा हिन्दू-मुस्लिम आदि की दुरंगी नीतियों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सारी घटनाएँ और परिस्थितियाँ यथार्थवादी हैं। जहाँ उपन्यास के साथ यथार्थ का घना सम्बन्ध है, उसमें ऐतिहासिक उपन्यास का निर्माण तो बिना यथार्थवादी दृष्टि-

कोण के हो ही नहीं सकता है । इस उपन्यास में १८५७ का पूरा विद्रोह साकार हो उठता है ।

'मृगनयनी' (१९५०) वर्माजी के ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रमुख है । इसमें कला की अपेक्षा इतिहास की प्रधानता है । इस उपन्यास में भी जीवनी के तत्त्व ही मिलते हैं । मृगनयनी की जीवनगाथा इस उपन्यास का विषय है और इसका नाम मृगनयनी समीचीन है । इस उपन्यास में ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (जिनका राज्यकाल सन् १४८६ से १५१६ था) की पत्नी मृगनयनी का वर्णन है । मृगनयनी एक साधारण परिवार की पुत्री थी और उसका बचपन ग्रामीण बालिकाओं के समान था । उसके बचपन की इन सभी घटनाओं आदि का पूरा-पूरा चित्र इस उपन्यास के प्रारम्भ में है । मृगनयनी धीरे-धीरे बढ़ती जाती है और आयु के साथ ही साथ उसके चरित्रिक-गुणों का विकास होता जाता है । उपन्यासकार अपनी नायिका में वह सभी गुण दिखा देता है जिनके विकसित स्वरूप पर एक आदर्श नारी-चरित्र निर्मित हो सकता है ।

रानी की जीवनी की घटनाएँ बहुत बड़ी और व्यापक नहीं हैं। उपन्यास-कार ने उसमें तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश बड़ी ही खूबी से कर दिया है और सारा इतिहास, जिसका सम्बन्ध तत्कालीन ग्वालियर राज्य या राजा मानसिंह तोमर से है, इस उपन्यास में स्थान पा गया है । 'राई' नामक गाँव के किसान की कन्या जिसका नाम 'निन्नी' था, रानी बनकर महल में आती है । गूजर पुत्री के नाम का महल 'गूजरी-महल' आज भी ग्वालियर में बना हुआ इतिहास और रोमांस के मिश्रण की सार्थकता प्रतिपादित कर रहा है । इसमें मृगनयनी की कथा कल्पना पर आधारित है और शेष घटनाएँ इतिहासानुमोदित हैं ।

मृगनयनी के अतिरिक्त जिस 'लाखी' नामक नारी पात्र का वर्णन इस उपन्यास में है, वह मृगनयनी की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी और स्वाभाविक है । लाखी एक अहीर-कन्या है; उसके अन्दर एक नारी में होने वाले सभी गुण और दोष मौजूद हैं । उसमें सामाजिक मनोरागों जैसे भय, क्रोध, घृणा, प्रेम आदि का सुन्दर समावेश है । वह लाखी, जो शिकार के समय शेर का सामना करने से भी नहीं हिचकती, मुसलमानों के गाँव पर आक्रमण के समय की कल्पना से ही भयाभिभूत हो जाती है । यह अत्यन्त ही स्वाभाविक और स्त्रियोचित है । 'अटल' के साथ उसका प्रणय अत्यन्त ही स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है । लाखी मृगनयनी की बचपन की सहेली है । मृगनयनी रानी होकर भी उस बचपन की सहेली को भुला नहीं

पाती और उसको वही सम्मान और प्रेम देती है जो होना चाहिए था। यहाँ चाहे मृगनयनी के चरित्र की यथार्थवादिता पर चोट पड़ती हो, किन्तु लाखी के चरित्र की शक्ति बढ़ जाती है। आज के समय की कुछ समस्याओं और आदर्शों का सुन्दर समावेश इस उपन्यास में किया गया है। मानवतावादी दृष्टिकोण होने के कारण वर्माजी की मृगनयनी पैरों में सोने के आभूषण इसलिए नहीं पहनती कि उसकी सखी लाखी को समाज ने इसका अधिकार नहीं दिया है। वर्तमानकालीन अशिक्षित नारी के चरित्र की हीनताओं की कमी प्राचीन इतिहास के पन्नों में निहित पात्रों के काल्पनिक चरित्रों द्वारा वर्माजी ने करदी है।

महमूद बघर्रा जैसे पात्रों का समावेश करके कुछ रहस्य और इतिहास की नवीन खोजों का आग्रह भी वर्माजी ने दिखाया है। बघर्रा के सम्बन्ध में अनेक व्यक्तियों ने उनसे अनेक अवसरों पर तथा पत्रों द्वारा प्रश्न किये हैं। वर्माजी इतिहासानुमोदित प्रमाण देकर इस उपकथानक की यथार्थता सिद्ध करते हैं, किन्तु यह प्रासंगिक-कथानक आधिकारिक कथा से इस प्रकार सम्बद्ध नहीं है कि उसका समावेश आवश्यक होता। मृगनयनी का एक प्रेमी (रूप-लोभी) माना जा सकता है और मृगनयनी के रूप-सौन्दर्य का प्रभाव उसके माध्यम से दिखाना उपन्यासकार का ध्येय हो सकता है, किन्तु इसे अन्य साधनों से भी दिखाया जा सकता था। इस प्रकार की कुछ कमजोरियाँ इस कथानक में खोजी जा सकती हैं, किन्तु इनमें इतिहास की कमी कहीं खटकती नहीं है।

वर्माजी के उपन्यासों में देश-काल और तत्कालीन परिस्थितियों आदि का बहुत ही सुन्दर चित्र मिलता है। वर्माजी ने होली, त्यौहार, सामाजिक और धार्मिक पर्व आदि को अपने उपन्यासों में स्थान देकर सजीवता उपस्थित कर दी है। वेशभूषा, नाचरंग आदि का भी उपयुक्त स्थानों पर सम्यक् समावेश किया गया है। आंचलिक तत्त्वों का सुन्दर समावेश वर्माजी के ऐतिहासिक उपन्यासों की एक ऐसी विशेषता है जो हमें अंग्रेजी के महान् ऐतिहासिक उपन्यासकार सर वाल्टर स्कॉट की स्मृति दिला देती है। इस दृष्टि से इन दोनों महान् उपन्यासकारों में भारी सादृश्य है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'वैशाली की नगरवधू' भी एक सुप्रसिद्ध उपन्यास है। इसमें बौद्धकालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्र है। इस उपन्यास में ईसा पूर्व ६०० से ५०० की घटनाओं का वर्णन है। इसमें गान्धार से लेकर सुदूरपूर्व में मगध तक बसे हुए अनेक गणतन्त्रों की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ऊहापोहों का सुन्दर और विस्तृत चित्रण किया गया है। उस काल में वेश्याएँ समाज का एक प्रभावशाली और राजनीतिक कूट-

नीतियों का केन्द्रस्थल होती थीं, इसका प्रमाण यह उपन्यास प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास में वर्णित छोटे-छोटे राज्यों में से लिच्छिवियों के वज्जीसंघ की राजधानी वैशाली की। इस संघ में आठ कुल सम्मिलित थे जिनके नाम विदेह, लिच्छवि, दात्रिक, वज्जी, उग्र, भोज, एक्ष्वाकु और कौरव हैं। वैशाली नगर उस समय के पूर्ण सम्पन्न नगरों में से था, जहाँ वैभव और राजनीति अपने कौशल दिखाया करते थे। सामन्तों और सेठियों के पुत्र दिन-रात मद और विलासिता में डूबे रहते थे। वैभव की जब अधिकता होती है तो व्यर्थ का दम्भ और कलाप्रियता आदि का विकास होता है। राजनीतिक षड्यंत्र सत्ता को प्राप्त करने तथा जनता में अधिक प्रसिद्धि और यश प्राप्त करने के लिए किये जाते । एकछत्रधारी शासक लोकतन्त्रों की शक्ति को क्षीण करके साम्राज्य स्थापन के स्वप्न देखते और उन्हें पूरा करने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद सभी प्रकार की नीतियों का सहारा लेते हैं। विषकन्याओं का प्रयोग इसमें कराके इस प्रकार के अनेक षड्यंत्रों का सूत्र-संचालन किया गया है। तत्कालीन मनोवृत्ति और वातावरण के चित्रण में चतुरसेन शास्त्री को पर्याप्त सफलता मिली है। इस उपन्यास को दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग की कथा इस प्रकार है—

इस संघ का यह नियम था कि इस प्रदेश की सबसे अधिक सुन्दरी कन्या को किसी व्यक्ति विशेष से शादी करने की आज्ञा नहीं दी जाती थी, वरन् उसे जनपद-कल्याणी या नगरवधू (वेश्या) बनाया जाता था और इसमें उसकी इच्छा या अनिच्छा को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। वज्जीसंघ के सामन्त महानामन की पालित कन्या, जिसे उन्होंने एक आम्रकुन्ज में पाया था तथा जिसका नाम आम्रपाली रख दिया था, अपने काल की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी युवती थी। उसके सौन्दर्य की प्रशंसा धीरे-धीरे उसकी आयु के साथ-साथ फैलती चली गई और गणतंत्र ने एक दिन यह निश्चय कर ही दिया कि अम्ब-पाली को वैशाली की नगरवधू बनना होगा। अम्बपाली को बदले में वैभव और ऐश्वर्य माँगने का अधिकार मिल गया था। उसने सप्तभूमि प्रासाद, नौकोटि स्वर्णभार और प्रासाद के समस्त साधन और वैभव प्राप्त कर लिये थे। इतना सब होते हुए भी अम्बपाली को नगरवधू बनने की अपेक्षा किसी की प्रेयसि बनना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता था। अतः वैशाली के इस विकृत कानून के प्रति उसके हृदय में भयंकर घृणा भर रही थी और वैशाली शासन और नगर के प्रति भी ऐसे ही भाव थे। हर्षदेव, जिसको उसने पत्नी बनने का वचन दे दिया था, अत्यन्त दुःखी था और अपने जीवन को इस प्रकार त्रस्त और अस-फल होते देखकर वह वैशाली नगर ही त्याग चुका था। उसने निर्णय कर

लिया था कि किसी न किसी प्रकार वैशाली के शासन को समाप्त करके ही दम लूँगा। आम्रपाली यद्यपि सभी प्रकार के राजसी विलासों और वैभवों से घिरी हुई थी, फिर भी उसने यत्नपूर्वक अपने कौमार्य की रक्षा की, किन्तु उसका यह प्रयत्न इसलिए और कठिन था कि इस काल में भी उसे नगर के श्रेष्ठिपुत्रों और सामन्तपुत्रों की विलासिता और मनोरंजन की सामिग्री बनना पड़ता था।

राजगृह मगध साम्राज्य की राजधानी था। इस साम्राज्य के सम्राट् बिम्बिसार थे। महाअमात्य वर्षकार चतुर, बुद्धिमान और भयंकर कूटनीतिज्ञ थे। वर्षकार की कूटनीति इतनी भयंकर थी कि वैज्ञानिक आचार्य शाम्बव्य काश्यप की मारक औषधियों एवं विषकन्या कुण्डनी की सहायता से बिना युद्ध के ही मगध की सीमा का विस्तार होता जा रहा था। आर्या मातंगी का पुत्र सोम भी तक्षशिला विश्वविद्यालय से शस्त्र एवं शास्त्रों में पारंगत होकर लौट चुका था। आर्या मातंगी बिम्बिसार के पिता के पूज्य गुरु गोविन्द स्वामी की कन्या थी, जिन्हें मरते समय उसके पिता आठ साल का छोड़ गये थे। वर्षकार गोविन्द स्वामी का ही अवैध पुत्र था, किन्तु यह तथ्य परम गुप्त बना हुआ था। युवती मातंगी के साथ वर्षकार और बिम्बिसार दोनों का अवैध सम्बन्ध था, मातंगी को ही यह ज्ञात था कि सोम बिम्बिसार और बर्षकार में से किसका पुत्र है। वैशाली की अम्बपाली बर्षकार के औरस से उत्पन्न मातंगी की पुत्री थी—इस तथ्य से बर्षकार भी परिचित था। बर्षकार की योजनानुसार सोम और कुण्डनी के ही कौशल से चम्पा पर विजय और वहाँ की राजकुमारी की रक्षा हुई थी।

कौशल के सम्राट् प्रसेनजित थे। यद्यपि वह वृद्धि थे, फिर भी उनकी भोगलिप्सा कम नहीं हुई थी। प्रसेनजित का एक पुत्र था जिसका नाम विदूडम था; वह दासी जाया नन्दिनी से उत्पन्न था, उसका अपमान उसकी ननिहाल के शाक्यों ने कर दिया था और उच्च कुल में उत्पन्न आर्यों के प्रति उसके हृदय में भारी प्रतिहिंसा की अग्नि जल रही थी। अपने पिता के प्रति भी उसके हृदय में सुन्दर भाव न थे, किन्तु वह कुछ भी करने में तब तक असमर्थ था, जब तक कि कौशल के सेनापति बन्धुल मल्ल जैसे स्वामिभक्त और वीर योद्धा थे। महाराज प्रसेनजित को नित नई नारियों की चाह बनी रहती थी। गान्धार के राजा की पुत्री कलिंगसेना पर आजकल उनकी निगाह पड़ चुकी थी, जिसे माँगकर वह एक नवीन विवाह रचाने की तैयारी कर रहे थे। संयोगवश चम्पा राजकुमारी की दासी बनकर श्रावस्ती के महल (महालय) में पहुँच जाती है, किन्तु कुण्डनी और सोम उसके उद्धार को अपने सारे प्रयत्नों का केन्द्र बना बैठते हैं। अर्हत महावीर के आदेशानुसार कुमार विदूडम ने राज-

नन्दिनी को मुक्त करा दिया । प्रसेनजित का पुत्र विदूडम सोम की सहायता से तथा आचार्य अजित के सम्बल की कूटनीति द्वारा अपने पिता को राज्यभार से मुक्त करके देश से निकालने में समर्थ हो गया, उसने स्वयं राज्य को सम्भाल लिया और स्वयं राजा बन बैठा । प्रसेनजित का प्रिय और स्वामिभक्त सेनापति इस विदूडम के प्रयत्न का विरोधी होने के कारण मारा गया । यद्यपि चम्पा की राजकुमारी और सोम एक दूसरे को प्रेम करते थे और वे एक दूसरे से विवाह भी करना चाहते थे किन्तु अर्हत महावीर की इच्छा ऐसी नहीं थी और उसका परिणाम यह हुआ कि राजनन्दिनी को विदूडम की पत्नी बनाने के लिए प्रयत्न आरम्भ हो गये । सोम और कुण्डनी इसके पश्चात् लौटकर मगध को चले जाते हैं ।

प्रथम खण्ड की कथा यहीं समाप्त हो जाती है । दूसरे खण्ड की कथा में अम्बपाली को प्रमुखता प्राप्त हो गई है और सारा कथानक उसी के साथ प्रवाहित होने लगता है । इस खण्ड की कथा इस प्रकार है—

वैशाली गणराज्य के अन्दर मधुपर्वोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था । मधुपर्व की रानी वैशाली की नगरवधू होती थी । सब लोग वन में जाकर आखेट करते थे । युवराज स्वर्णसेन उस समय अम्बपाली पर आसक्त थे । युवराज स्वर्णसेन के साथ अम्बपाली भी आखेट के लिए वन में गई । वहाँ सिंह का सामना होने से पूर्व उसकी दहाड़ सुनकर स्वर्णसेन का घोड़ा भागने लगा । स्वर्ण-सेन उसे रोकने की भारी चेष्टा करने पर भी असफल रहा । उस काल में भी स्वर्णसेन अम्बपाली की ओर ही देखता रहा । उसने देखा कि सिंह अम्बपाली के घोड़े पर चढ़ बैठा है । अम्बपाली जैसी कोमल नारी उसका प्रतिरोध करने में कैसे समर्थ हो सकी होगी, इसकी कल्पना करके वह अम्बपाली की मृत्यु का निश्चय करके लौटा । इसी बीच देववशात् सोमप्रभ, जो मगध के सैनिकों को साथ लेकर वैशाली की ओर अपने साम्राज्य (मगध) की सीमाओं को बढ़ाने की इच्छा से आरहा था, अम्बपाली की रक्षा करने में समर्थ हो गया है। वैशाली की नगरवधू (अम्बपाली) उसके इस वीरोचित कार्य पर प्रसन्न होकर अपने हृदय को दे बैठी । राजनीतिक घटनाचक्र कुछ इस प्रकार बदलता है कि मगध सम्राट् बिम्बिसार अपने अमात्य वर्षकार से भी असन्तुष्ट हो गये और वर्षकार को अपनी रक्षा तथा नीति साफल्य के लिए वैशाली नगर की शरण लेनी पड़ी । सम्राट् बिम्बिसार की दृष्टि वादरायण के आश्रम में परमसुन्दरी अम्बपाली पर पड़ चुकी थी । उसने वादा भी किया था कि निकट भविष्य में ही वह वैशाली पर आक्रमण करेगा तथा वहाँ की सेना और गणराज्य को समाप्त करके आम्रपाली को ले जायगा और उसे मगध साम्राज्य की साम्राज्ञी

के प्रभावशाली और उच्च पद पर आसीन कर देगा। आम्रपाली का यह मोह ही बिम्बिसार और उनके अमात्य बर्षकार के मतभेद का कारण बना। अमात्य बर्षकार बड़ा कूटनीतिज्ञ था और चाहता था कि पहिले वैशाली पर आक्रमण न किया जाय; किन्तु सम्राट् को आम्रपाली के बिना दिनरात चैन न था। वह तो येन केन प्रकारेण वैशाली को समाप्त कर आम्रपाली को अपनी अंकशायिनी बनाना चाहते थे। इसी मतभेद का परिणाम यह हुआ कि बर्षकार को राज्य छोड़ कर वैशाली की शरण लेनी पड़ी। सम्राट् तो इस विरोध के हटने की राह देख ही रहे थे। उसके हटते ही वैशाली पर आक्रमण हो गया। सोमप्रभ को सेनापति बनाया गया। अवसर मिलते ही बिम्बिसार आम्रपाली के महल में प्रविष्ट हो गये। उन्हें आम्रपाली का मोह उधर खींच ले गया। इसी बीच मगध के सैनिकों ने सोचा कि उनके सम्राट् मारे गये हैं। सोमप्रभ ने वैशाली का विनाश करना भारी वेग से प्रारम्भ कर दिया और अवसर अत्यन्त निकट था कि वैशाली का पतन हो जाता, तभी सम्राट् बिम्बिसार ने आम्रपाली के महल से सूचना भेजी कि वह अपनी इच्छा से ही आम्रपाली के महल में चले गये थे। इस समाचार को सुनकर सोमप्रभ ने युद्धबन्दी का आदेश प्रचारित कर दिया। महासेनापति ने सम्राट् की सेवा में आत्मसमर्पण कर दिया, किन्तु सम्राट् ने उसे क्षमा नहीं किया और उसे द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारा। सोमप्रभ सम्राट् से द्वन्द्व-युद्ध करता है और इसी बीच आम्रपाली आकर सोमप्रभ से (जो आम्रपाली को चाहता था) सम्राट् के प्राण की भिक्षा माँगती है। सोमप्रभ उसकी बात मान लेता है और सम्राट् को बन्दी बनाकर मगध भेजकर, आम्रपाली को वापिस वैशाली भेज देता है। अपनी माँ मातंगी से जब उसे यह तथ्य ज्ञात होता है कि बिम्बिसार उसका पिता है तो सोमप्रभ को भारी पश्चात्ताप होता है और वह कारागार में जाकर सम्राट् के चरणों में नतमस्तक हो जाता है।

सोम सम्राट् से क्षमा माँगता है। स्थिति ठीक हो जाने पर वैशाली से मगध की सन्धि हो जाती है और वैशाली के कारागार में पड़ा हुआ वर्षकार उससे मुक्त हो जाता है। वर्षकार को पुनः मगध का महामन्त्री बनाया जाता है। सम्राट् जब वैशाली में नगरवधू आम्रपाली के भवन में गये थे और आम्रपाली से जब उन्होंने प्रणय-याचना की थी तो उसने उनसे वचन ले लिया था कि तुम्हारे औरस से उत्पन्न पुत्र ही मगध का भावी सम्राट् होगा। जैसे ही आम्रपाली के पुत्र का जन्म होता है, वैसे ही वह उसे मगध भेजने में सफल हो जाती है। मगध सम्राट् अपने वचन के अनुसार उसे मगध का राजकुमार और भावी सम्राट् घोषित कर देते हैं। यहाँ कथा समाप्ति की ओर तीव्रता

से अग्रसर होती है। उसी रात में वैशाली में भगवान बुद्ध का पदार्पण होता है और इतिहास प्रसिद्ध घटना घटती है कि तथागत नगरवधू का भोज स्वीकार कर लेते हैं। तथागत को अपने यहाँ भोजन कराके आम्रपाली भेंटस्वरूप अपना समस्त वैभव उनके चरणों में समर्पित कर देती है तथा स्वयं काषाय धारण कर भिक्षुणी बन जाती है। वैशाली से जब वह चलने लगती है तो तो देखती है कि सोमप्रभु भी काषाय धारण करके उसका अनुगामी बन चुका है। असफल प्रेमी की परिणति वैराग्य में होती है और यहीं कथानक समाप्त हो जाता है।

कथानक की सफलता की दृष्टि से इसमें काफी वैविध्य और गुम्फन है। यद्यपि आम्रपाली को घेरकर कथा चलती है, फिर भी कहीं कहीं प्रासंगिक कथाएँ प्रमुख बनकर चलने लगती हैं और आधिकारिक कथा पीछे पड़ जाती है। कुछ प्रासंगिक कथाएँ अनावश्यक रूप से भी घुसाई गई हैं जिनका आधि-कारिक कथा से या तो सीधा सम्बन्ध नहीं है या अनावश्यक हैं; जैसे महाराज उदयन का आकाश मार्ग से आम्रपाली से मिलने आना तथा आम्र-पाली का प्रसिद्ध नृत्य। विम्बिसार और आम्रपाली का वादरायण आश्रम में मिलन। गौतमबुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन और महावीर के उपदेशों के लिए ढूँढ़कर अवसर निकाले गये हैं। आम्रपाली का असफल प्रेमी हर्ष वीतीमय नगरी में बुढ़िया का नियुक्त पुत्र बनकर उसकी विधवा पुत्रवधुओं से सन्तान उत्पन्न करता है। चम्पारण्य में कुण्डनी शम्बरासुर के अन्य असुरों का मृत्यु चुम्बन लेकर संहार करती है, आदि, आदि।

श्री त्रिभुवनसिंह 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' में इस उपन्यास के सम्बन्ध में लिखते हैं कि उपन्यासकार ने तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियों के चित्रों को अति स्पष्ट रूप में उभार कर रखने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास के द्वारा इस बात पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है कि उस काल में नगर कम और गाँव अधिक थे। वे ग्राम अधिकांशतः सम्पन्न भी थे।

देश के अन्दर मुख्यतः दो प्रकार की शासन-प्रणालियाँ विद्यमान थीं। देश के कुछ भागों में राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली थी, जिसमें कौशल के प्रसेनजित और मगध के सम्राट् विम्बिसार के अत्यन्त सुदृढ़ राज्य थे। इन राज्यों की मूल प्रेरक शक्ति वैदिक संस्कृति थी, जिसके अनुसार शासन करना आर्य लोग अपना जन्मजात अधिकार समझते थे। इस काल में क्षत्रियों का दर्जा ब्राह्मणों से कुछ ऊपर था, किन्तु ब्राह्मण अपने को जन्म से ही महान् मानते थे। इसका फल यह हुआ कि ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच परस्पर

स्पर्द्धा के भाव स्पष्ट लक्षित होते हैं। सम्पूर्ण देश के अन्दर ब्राह्मणों का भीतरी षड्यन्त्र चलता दिखलाई पड़ता है। प्रायः वे सभी उसी साम्राज्य की शक्ति के समर्थक थे, जिसमें उनकी इच्छा का प्राधान्य हो। राजाओं के मन्त्री प्रायः ब्राह्मण थे जो अधिक से अधिक शासन-सूत्र को अपने हाथों में बनाये रखने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार पौरोहित्य तथा मन्त्रित्व दोनों के द्वारा देश की सारी की सारी सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था पर ब्राह्मणधर्म का एक मात्र प्रभाव स्थापित करने की योजनाएँ नित्य बनती थीं, जिनसे देश का वातावरण अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा था।

इन राज्यों के अतिरिक्त बहुत से गणराज्य स्थापित थे। इनमें वैशाली का गणराज्य सबसे अधिक प्रभावशाली था। इस राज्य के अन्तर्गत और भी गण थे। इन गणों और राज्यों में प्रायः संघर्ष होता रहता था। इस संघर्ष का मूल कारण यह था कि ब्राह्मण लोग राजाओं को अश्वमेध यज्ञ करने के लिए उकसा कर राज्य की सीमाओं का इसलिए विस्तार चाहते थे कि उनके धर्म का प्रचार हो, क्योंकि जितने गणराज्य थे वे आर्येतर थे। आर्यों के अतिरिक्त सारे देश में अनार्य थे। आर्य अत्यन्त विलासी मनोवृत्ति के थे और इस विलास-लिप्सा की तृप्ति के लिए अनार्य बालाओं का उपयोग किये जाने के फलस्वरूप जो संकर वर्ण बढ़ रहा था, उसे आर्य अपने में मिलाने को तैयार नहीं ये। इसका परिणाम यह हो रहा था कि उनकी संस्था, शक्ति और आर्यों के प्रति उन के हृदय का रोष नित्यप्रति बढ़ता जा रहा था। वह आर्यों से बदला लेने के लिए अवसर की खोज में रहते थे। आर्यों की सामाजिक व्यवस्था संकर वर्ण के प्रति अपनाये गये दृष्टिकोण के फलस्वरूप धीरे-धीरे प्रतिक्रियावादी बनती जा रही थी और उसमें से प्रगतिशील तत्त्वों का निरन्तर ह्रास हो रहा था।

गणराज्यों की व्यवस्था उस समय किस प्रकार होती थी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'वैशाली की नगरवधू' में इसका बहुत ही सजीव और सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। गणपति की स्थिति आज के लोक सभा के अध्यक्ष जैसी है। किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर मतदान लेने की जो प्रणाणी उस समय विभिन्न रंगों की शलाकाओं के माध्यम से थी, आज की प्रजातन्त्रीय विधान सभाओं में भी किसी न किसी प्रकार वैसी ही है। कहीं-कहीं शलाकाओं का प्रयोग किया जाता था, तो कहीं विभिन्न घरों में प्रवेश कर जाने की प्रथा थी, और कहीं-कहीं स्वर के द्वारा 'हाँ' अथवा 'नहीं' करके भी मत प्रकट किया जाता था। उपन्यासकार ने इस ओर कोई संकेत अपने उपन्यास में नहीं दिया है कि गणराज्यों के इन सम्माननीय सदस्यों का निर्वाचन कैसे

होता था, जो सारी व्यवस्था के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी होते होंगे। उन गणराज्यों की कार्य-पद्धति का लेखक ने बड़ा ही स्पष्ट वर्णन किया है कि राज्य के सभी कार्यों के विशेष अधिकारी और कर्मचारी नियुक्त थे। उदाहरण स्वरूप न्याय विभाग के अन्तर्गत क्रमशः राजा, गण, विनिश्चय, महामात्र, व्यावहारिक, सूत्रधार, अष्टकुल आदि थे, जहाँ अपराधी को ले जाया जाता था। महत्वपूर्ण और तत्कालीन निर्णयों के लिए आठ या नौ व्यक्तियों की एक व्यवस्था-समिति चुनी जाती थी। लिच्छिवियों के संयुक्त राज्य में जिन आठ कुलों के गण थे, उनमें प्रत्येक कुल से एक प्रतिनिधि लेकर आठ जनों की यह व्यवस्था परिषद् नियुक्त की जाती थी, जो सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था करती थी। इस व्यवस्था में लगता है कि सभी कुलों से समान प्रतिनिधित्व होता होगा। प्रतिनिधियों की संख्या आज के संघीय शासन के समान जन-संख्या पर आधारित न होकर गणों की संख्या पर आधारित होगी। नागरिकता जन्म से होती थी। बीच में उसे प्राप्त करना सम्भव नहीं था। जो जन्म से इस नागरिकता को प्राप्त करता था, उसी को उस राज्य की व्यवस्था में भाग लेने का अधिकार होता था—इसका उपन्यास की एक घटना से प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। जिस समय सम्राट् बिम्बिसार से मतभेद होने पर उसका मंत्री बर्षकार मगध छोड़कर वैशाली में आ गया, तो उसने वैशाली के गण संघ को अपनी सेवाएँ प्रस्तुत करनी चाहीं, किन्तु गण-परिषद् ने उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया।

आज के समान उस समय भी राजनीतिक शरण चाहने वालों को शरण दी जाती थी, वरन् उनकी सुरक्षा और भरण-पोषण का भी पूरा-पूरा प्रबन्ध किया जाता था—जिस प्रकार कि तिब्बत के धार्मिक और राजनीतिक नेता दलाई लामा को भारतीय सरकार ने शरण दी है और उनकी पूर्ण सुरक्षा और अन्य आवश्यक व्यवस्था-व्यय को वहन करना भी स्वीकार किया है। आज चाहे इसके राजनीतिक कारण भी हों, किन्तु उस समय तो शरणागत-रक्षा की धार्मिक भावना की ही प्रधानता रही होगी।

लेखक ने जहाँ पर गणराज्यों के चित्रण में अधिक सहानुभूति दिखलाई है, वहीं पर उसने ईमानदारी के साथ राजतन्त्रीय प्रजा के सुखमय जीवन के प्रति ईर्ष्याभाव भी प्रकट किया है। उस समय तक गणों में जितनी व्यवस्था स्थापित की जा सकती थी, वह अत्यन्त अपर्याप्त थी। नियमों का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था। जनशक्ति के आधार पर बहुत से अनुचित नियमों का पालन लोगों से कराया जाता था। जैसे वैशाली का उस समय अत्यन्त ही एक अधिकृत नियम यह था कि उस समय की जो सबसे अधिक

सुन्दर कन्या होती थी, उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी वेश्या-जीवन ग्रहण करना पड़ता था। उसे नगरवधू की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। वह किसी एक व्यक्ति की परिणीता होकर नहीं रह सकती थी, वल्कि उसके ऊपर सम्पूर्ण गण के नागरिकों का समान अधिकार था। प्राचीन काल के इतिहास में इस प्रकार और भी 'राजनर्तकी' तथा 'देवदासी' आदि स्त्रियों का वर्णन आया है, परन्तु इनकी स्थिति उनसे सर्वथा भिन्न है। 'नगरवधू' का स्थान उस समय के समाज में आज की वेश्याओं का सा न था। वह सम्पूर्ण गण में सर्व श्रेष्ठ, सर्व सम्मानित एवं सबसे अधिक ऐश्वर्यशालिनी महिला के रूप में स्वीकार की जाती थी। उसके प्रत्येक संस्कार राज्य की ओर से मनाये जाते थे। परन्तु जीवन में धन, वैभव, विलास एवं सम्मान ही सब कुछ नहीं, हृदय भी कोई वस्तु है, जिसके सामने सभी नगण्य हैं। नारी जीवन में एक बार और एक व्यक्ति को प्यार करती है। इसके अतिरिक्त उसका प्यार, प्यार नहीं होता, वरन् वह उत्पन्न परिस्थितियों से समझौता मात्र होता है—सौदा होता है—व्यापार होता है। इसी नियम के कारण आम्रपाली को 'हर्षदेव' को छोड़कर, जिसकी कि वह 'वाग्दत्ता' पत्नी हो चुकी थी, सबके विलास और भोग की वस्तु—नगरवधू, जिसका अपना निज का जीवन ही नहीं होता, बनना पड़ा।

गण अत्यन्त दुर्बल थे। राज्यों का सारा का सारा धन थोड़े से सेठों और साहूकारों के हाथों में इकट्ठा हो गया था। इन सेठों की सहानुभूति और सहयोग गणतन्त्रों के साथ न होकर साम्राज्यों के साथ रहना स्वाभाविक ही था, जैसा कि आज के गणतन्त्रों में भी पूँजीवादी सेठ साम्राज्यवादी हो चला है और राष्ट्र के साथ द्रोह करके विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों से षड्यन्त्र करता हुआ गुपचुप गठबन्धन कर लेता है। वह भीतर ही भीतर धन की शक्ति के बल पर राजनीतिज्ञों को खरीदता है और राजनीति को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता रहता है। वह देश और समाज के स्वार्थों की चिन्ता नहीं करता और निजी स्वार्थों की बलिवेदी पर राष्ट्रीयता तक का सौदा करने को तैयार रहता है। वह वर्णव्यवस्था और धर्म का सबसे बड़ा समर्थक होता है, क्योंकि असामाजिक तत्त्वों की हिमायत करने में इनसे उसे सहायता मिलती है। शासन की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती रहती है और साधारण जनता का उस पर से विश्वास उठ जाता है। इस अवसर पर या तो विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियाँ राष्ट्र पर आक्रमण कर देती हैं और देशी धनिकों की गुप्त सहायता के फलस्वरूप सफल हो जाती हैं। अब या तो साम्राज्यवादी शासनचक्र घूमने लगता है अथवा जनता के कुछ क्रान्तिकारी और

राष्ट्रवादी नेता फौज की सहायता लेकर क्रान्ति कर देते हैं और फौजी शासन लागू हो जाता है। ठीक यही परिस्थितियाँ उस समय थीं, जिन्होंने गणतन्त्रों के ह्रास तथा साम्राज्यों की स्थापना में अपना योगदान किया।

राजतन्त्र वाले राज्यों में भी सेठ धनी थे और इतने विलासी थे कि पैदल न चलने के कारण तलवों में रोएँ तक जम आये थे। ये सेठ बिम्बिसार जैसे सम्राटों से मिलने के लिए भी केवल सातवीं से चौथी मंजिल तक उतर सकते थे। इन साम्राज्यों के सेठों में तथा गणतन्त्रों के सेठों में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इतना ही अन्तर था कि साम्राज्यवादी सेठों का सम्पूर्ण धन-भण्डार राजा की सहायता के लिए जहाँ खुला रहता था, वहाँ गणों के धनकुवेर गणों की सहायता के लिए एक स्वर्णकण भी देने के लिए तत्पर नहीं थे। उनकी प्रजा कहीं-कही दाने-दाने के लिए तड़प रही थी; क्योंकि दस्यु बलभद्र के साथियों ने जब आम्रपाली के महल को लूटना आरम्भ किया तो उन लोगों ने स्वर्ण नहीं, केवल खाने के लिए अन्न ही लिया। वे वैशाली के ही निवासी थे, किन्तु भूख और अन्य प्रकार के शोषण के फलस्वरूप दस्युदल में सम्मिलित हो गये थे। यही सब कमजोरियाँ थीं जो गणों में व्याप्त थीं और गणराज्यों को धीरे-धीरे जर्जरित करती हुई साम्राज्यवाद की ओर ले जा रही थीं।

आज के समान उस काल में भी गणों की प्रजा के अन्दर राज्य-तन्त्रात्मक राज्यों की प्रजा की अपेक्षा जीवन अधिक दिखाई पड़ता है। राज्यों की प्रजा के अन्दर मुख्यतः दो प्रकार के वर्ग दिखाई पड़ते हैं। एक तो ऐसे लक्ष्मीपतियों का वर्ग था, जिसे अपने भोग-विलास से फुर्सत ही नहीं थी कि वह समसामयिक परिस्थितियों पर सोच सके, और दूसरा वर्ग ऐसे साधारण लोगों का था जिसमें सोचने-विचारने की क्षमता ही नहीं थी। वह चुपचाप राजाज्ञा का पालन करता हुआ किसी प्रकार अपना जीवन काट रहा था। परन्तु उनके सामने कम से कम भूखों मरने की समस्या नहीं थी। यही कारण है कि जितने भी ऊहापोह हमें इन क्षेत्रों में दिखाई पड़ते हैं, वे केवल राजधानी में ही अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले राजन्यवर्ग तथा राजकर्मचारियों में ही दीखते हैं। सभी गणों तथा राज्यों की सरकारें अपनी वैदेशिक नीति व्यवस्थाओं में विशेष सतर्क एवं पटु थीं। प्रत्येक सरकार के जासूसी विभाग अत्यन्त कुशल थे। ये विभाग ही उन सरकारों की सफलता और रक्षा के विश्वस्त शक्तिस्रोत थे। जासूसी कार्यों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक सफल समझी जाती थीं। मगध राज्य की प्रमुख जासूस एवं विजयदात्री 'कुण्डनी' थी। अमात्य बर्षकार प्रभंजन नाई आदि जासूसों के साथ ही वैशाली

में आने के कारण अपने षड्यन्त्र का जाल भलीभाँति बिछा सका। वैशाली गणराज्य के एक प्रमुख अधिकारी जयराज का मगध में जाकर जासूसी कार्य करना तथा वहाँ की सारी पोल का पता लगा लेना ही, उस विभाग की कार्य-क्षमता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जब हम मोहन मंत्रणा के समय वैशाली गण-राज्य के मन्त्रियों के भाषण सुनते हैं, जिनमें उन लोगों ने वैशाली में आये छद्मवेशी मागधों का विवरण प्रस्तुत किया था, तो निःसन्देह उनकी कार्य-क्षमता पर हमें सन्तोष होता है। लेखक ने इस उपन्यास में इस प्रकार की राज्य-व्यवस्थाओं का अत्यन्त सजीव चित्र उपस्थित किया है।

उपन्यास की कथा का सम्बन्ध अनेक राज्यों एवं राजन्य वर्गों से होने के कारण इसके अन्दर तत्कालीन सभी सामाजिक एवं धार्मिक रूपरेखाएँ सिमट कर आ गई हैं। उस समय तक आर्यों के अन्दर वर्ण-व्यवस्था को अत्यन्त महत्व मिल चुका था। चार वर्णों में ब्राह्मण और क्षत्रिय तो प्रमुख थे, किन्तु शेष दोनों वर्णों की अवस्था शोचनीय हो चली थी। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने इतर जातियों को अपनी सेवा और भोग-विलास के लिए तो अपना लिया था, किन्तु उनसे उत्पन्न सन्तानों को अपने कुल तथा गोत्र से च्युत कर रखा था। इस नवीन वर्ग की एक सबल और क्रान्तिकारी जाति बनती जा रही थी, जिसने शीघ्र ही आर्य राज्य-वंशों को हत-प्रभ कर दिया। मगध का राज्य-कुल स्वयं संकर था। प्रसेनजित के रनिवास में अधिकतर निम्न कुल की ही स्त्रियाँ थीं। उनके दासी पुत्र विदूडम ने ही इन्हें सिंहासन-च्युत कर दिया। शूद्रों को उच्चवर्ण की स्त्री का अधिकार नहीं था, किन्तु उनकी सुकन्याएँ उच्चवर्ण के उपभोग के लिए चली जाती थीं। फलस्वरूप उन्हें अपने लिए राक्षसों, द्रविड़ों तथा दस्युओं आदि से स्त्रियाँ जुटानी पड़ती थीं। आर्यों के अन्दर अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों ने घर कर लिया था, जिसके कारण भारत खण्ड में प्रसेनजित जैसे ही कुछ सड़े-गले घमण्डी और अकर्मण्य राजा रह गये थे। सम्पूर्ण राज्य-सत्ताएँ संकरों के हाथ में चली जा रही थीं।

ब्राह्मणों ने यज्ञों को प्रधानता दे रखी थी, जिनकी आड़ में नाना प्रकार के अनाचारों को वृद्धि हो रही थी। बछड़े, बैल, भेड़ आदि पशुओं से गवा-लम्भन अनुष्ठान किया जाता था। कामिनी और कादम्ब का व्यापक प्रयोग दिखलाई पड़ता है। प्रायः सभी मांस खाते थे। भैंसे का मांस ही प्रायः प्रयोग में लाया जाता था। दासों की प्रथा जोरों पर थीं। यज्ञ के समय राजा द्वारा पुरोहित को तथा राजा के व्याह के समय अन्य रानियों द्वारा राजा को अनेक सुन्दरी दासियाँ भेंट की जाती थीं। दासियों का क्रय-विक्रय ठीक आज के पशु-विक्रय के समान ही था। शास्त्रीजी ने एक स्थान पर दासों की हाट

का बड़ा जीवन्त चित्र खींचा है। दासों की हाट में एक बूढ़े ब्राह्मण ने आकर कहा—

'एक दासी मुझे चाहिए।'

'देखिए इतनी दासियाँ हैं। यवनी चाहिए या दास ?'

'दासी।'

'तब यह देखिए।'

उसने एक तरुणी की ओर संकेत किया। वह चुपचाप अधोमुखी बैठी रही। ब्राह्मण ने साथ के दास से कहा—

'देख नाक, दाँत देख, सब ठीक-ठाक है ?'

ब्राह्मण के क्रीतदास ने मुँह में उँगली डालकर दाँत देखे और निश्शंक वक्षस्थल में हाथ डालकर, वक्ष टटोल कर और शरीर को जगह-जगह टटोल कर दबाकर देखा और फिर हँसकर कहा—

'काम लायक है, मालिक खूब मजबूत है।'

इन दृश्यों में सजीवता और पूर्ण वर्णनात्मकता है जिससे सारा दृश्य स्पष्ट हो उठता है।

यह मानव-स्वभाव है कि वह भूत को वर्तमान से सदैव अच्छा समझता है। मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता है नारी। इस कसौटी पर कसें तो हमें आज के युग में वही कमजोरी अपनी चरम सीमा तक पहुँची हुई मिलती है। पत्नी रहते दूसरा ब्याह करना, पर-स्त्री-गमन तथा अनेक पत्नियों का पति बनना किसी दृष्टिकोण से अनुचित, अवैध और असामाजिक नहीं माना जाता था। महान् शास्त्रज्ञ एवं सम्राट् बिम्बिसार के पिता के गुरु तथा शिशुनागवंश को आर्य धर्म में प्रतिष्ठित करने वाले गोविन्द स्वामी जैसे महापुरुष ने भी अन्य व्यक्ति की स्त्री से सम्भोग करके वर्षकार को जन्म दिया था। इस प्रकार मातंगी और वर्षकार एक ही पिता से जन्मे भाई और बहिन थे। अज्ञात में वर्षकार ने मातंगी का उपभोग किया, जिससे आम्रपाली का जन्म हुआ और वह मातंगी सम्राट् बिम्बिसार से भी नहीं बच पाई। आम्रपाली की माँ का उपभोग करने वाले बिम्बिसार आगे चलकर आम्रपाली का भी उपभोग करते हैं। आर्यों के एकमात्र सम्राट् प्रसेनजित के महल में भेड़-बकरियों की भाँति सभी जाति की कुमारियों और युवतियों का मेला लगा रहता है। यह ऐसा युग था जब विलासिता अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी, मदिरा के पनाले बहते थे और पशु-बलि-रक्त से आर्यावर्त्त की भूमि लाल हो रही थी। इसके परिणामस्वरूप इस काल में अनुकूल वातावरण पाकर 'अहिंसा परमो धर्म' मानने वाले बौद्ध और जैन धर्मों की पताका फहराने लगी।

ऐतिहासिक तथ्यों में पाई जाने वाली नीरसता को दूर करने के लिए लेखक ने कुछ चमत्कार उत्पन्न करने वाली घटनाओं की कल्पना की है। बीच-बीच में प्रेम-प्रसंगों के आ जाने के कारण उपन्यास में चलने वाले ऐतिहासिक नीरस कथानकों से पाठकों को कुछ देर के लिए मुक्ति मिल जाती है और फिर ऐतिहासिकता के विस्तृत सागर को तैर कर पार करने की क्षमता आ जाती है। रुचि में परिवर्तन होने से औत्सुक्य और रसात्मकता की अभिवृद्धि हो उठती है। उपन्यास का प्राण सजीव हो उठता है और पाठकों का मस्तिष्क फिर से ताजा हो जाता है। उपन्यासकार चमत्कार उत्पन्न करने की धुन में घटना-औचित्य और प्रभाव की अन्विति की सीमाओं का उल्लंघन कर गया है। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि खत्री-कालीन किसी ऐयारी-जासूसी उपन्यास की रोमांचकारी पुस्तक पढ़ रहे हैं, जिसमें पात्रों के नाम इतिहास से उठाकर रख दिये गये हैं। उपन्यास की अधिकांश घटनाएँ तो सतर्कता के साथ सँवारी गई हैं, किन्तु कुछ घटनाओं में अनौचित्य आ गया है। प्रसिद्ध प्राचीन कला-शास्त्री आचार्य अरस्तू ने अपने अमर ग्रन्थ 'पोयटिक्स' में लिखा है कि कलाकार को वास्तविक सत्य की अपेक्षा सम्भावित सत्य का ही अधिक ध्यान रखना चाहिए। सत्य की दो श्रेणियाँ करते हुए इन्होंने कहा है कि यह आवश्यक नहीं है कि जिस सत्य का हम वर्णन कर रहे हैं वह आँखों देखा हुआ सत्य हो, वरन् वह ऐसा सत्य हो जिसे देखकर या सुनकर दर्शक या श्रोता यह विश्वास करलें कि हाँ, ऐसा हो सकता है। जो घटनाएँ चाहे इतिहासानुमोदित हों, किन्तु जिन पर विश्वास उत्पन्न कराना उपन्यासकार के लिए सम्भव न हो सके, उन्हें कदापि अपने उपन्यास में स्थान नहीं दिलाना चाहिए। उपन्यासों के अन्दर सम्भावित सत्य को ही यथार्थवादी दृष्टिकोण से स्वीकार किया जा सकता है; तर्क और सम्भावना से परे की घटनाओं का ऐतिहासिक उपन्यासों में कोई मूल्य नहीं है। वैशाली के अन्दर किसी दैवी प्रकोप का वातावरण उत्पन्न करने के लिए प्रभंजन नाई को, वर्षकार का छलिया परिव्राजक बना देना तथा कुण्डनी द्वारा राजकुमारी षोडशी और यक्ष-कुमारी का अभिनय कराकर तथा नन्दन साहु द्वारा चण्डाल मुनि का चरण स्पर्श कराकर तथा वैशाली नगर निवासियों के मन में विश्वास जमाकर भय उत्पन्न कराने की सफल योजना बनाना सम्भावित सत्य हो सकता है, परन्तु छाया-पुरुष का आकाश मार्ग से आकर अम्बपाली के सामने वीणा बजाना और पुनः उसी प्रकार चला जाना अत्यन्त ही अस्वाभाविक और असम्भावित सत्य है। इन घटनाओं से 'वैशाली की नगरवधू' की ऐतिहासिकता का वातावरण तथा प्रभाव की अन्विति असंदिग्ध नहीं रह पाती है।

राक्षसों के नगर का वर्णन और कुण्डनी द्वारा सरलता से उनका विनाश कर देना, अत्यन्त ही निकृष्ट कोटि का अयथार्थ है। नगर में प्रवेश कराने का ढंग तथा राजकुमार विदूडम का बन्दीगृह आदि तिलस्मी तहखानों का स्मरण दिलाते हैं। सोमप्रभ का बन्दी का पता लगा लेना तथा उसमें घुसकर युद्ध करने की कला का ज्ञान अवश्य ही उपन्यासकार को खूनी घटना-प्रधान तथा ऐयारी उपन्यासों से मिला होगा। कुछ ऐसी घटनाओं तथा बातों को लेखक कह जाता है जिसकी उसने कोई भी पूर्व-योजना नहीं की है, जिससे उन पर पाठकों का विश्वास नहीं जम पाता। प्राचीन काल में विष-कन्याओं का प्रसंग अवश्य आया है, परन्तु जिस प्रकार कुण्डनी बार-बार सर्पदंशन कराती है, उस प्रकार का कोई भी प्रसंग कहीं भी नहीं मिलता। एक आश्चर्य की बात और हुई कि विष-कन्या को मारने वाला भी एक व्यक्ति न जाने कहाँ से यकायक आ टपका। भद्रनन्दी के रूप में कुण्डनी के पास वह व्यक्ति नियमानुसार सौ स्वर्ण मुद्राएँ देकर जाता है और एक चुम्बन मात्र से उस विष-कन्या का काम तमाम हो जाता है।

इस उपन्यास का निर्माण साभिप्राय जान पड़ता है। सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ लेने पर तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का ज्ञान तो हो ही जाता है, इसके अतिरिक्त ब्राह्मण-धर्म के ह्रास और जैन और बौद्ध धर्मों के उत्पन्न होकर अभिवृद्धि प्राप्त करने का क्रमिक-विकास और उनकी समस्त गतिविधियाँ स्पष्ट हो उठती हैं। ब्राह्मणों की धार्मिक निरंकुशता और अत्याचारों ने बौद्ध धर्म को पनपने का अवसर दिया। जब ब्राह्मण यह कहते हों—

'अरे काणे चाण्डाल ! तू हम ब्राह्मणों के सम्मुख वेदपाठी ब्राह्मणों की निन्दा करता है। याद रख, हमारा बचा हुआ यह जलपान भले ही सड़ जाय और फेंकना पड़े, पर तुझ निढंग चाण्डाल को एक कण भी नहीं मिल सकता।' तब भला बौद्ध धर्म का प्रचार क्यों न हो ? किस प्रकार राजाओं और लक्ष्मी-पतियों ने इस धर्म को स्वीकार किया तथा किस प्रकार सारनाथ में आकर भगवान बुद्ध ने अपनी शिष्य-परम्परा का विस्तार करते हुए काशी ऐसे धार्मिक केन्द्रों में अपने यश-वैभव का प्रतिष्ठापन किया, इन सभी सत्यों का सजीव चित्रण इस ऐतिहासिक उपन्यास की एक बड़ी विशेषता है। अन्त में यह मत अम्बपाली जैसी अनिंद्य सुन्दरीबाला को, जिसके समक्ष जीवन भर सेठ पुत्र, सामन्त पुत्र और सम्राट् तक झुकते रहे, अपनी ओर अपनी पूर्णता के साथ आकर्षित करता है। वह इस आकर्षण से अपने को रोकती नहीं और न कोई सीमा ही उसे रोक पाती है। अपने सर्वस्व समर्पण के साथ ही अपने उस चिरसंचित और

बहुरक्षित शरीर को भी तथागत की सेवा में प्रस्तुत करके भिक्षुणी बन जाती है। सोमप्रभ का भिक्षु हो जाना उन परिस्थितियों में बिलकुल सम्भव लगता है, क्योंकि उसके सभी मंसूबे ध्वस्त हो चुके थे और सामाजिक मान्यताएँ तथा उच्चाभिलाषाएँ समाप्त हो चुकी थीं। उसकी प्रिय अम्बपाली जब काषाय धारण कर चुकी थी, तो फिर संसार में लिप्त रखने का कौन सा आकर्षण था जिसका सहारा पकड़ कर वह अपने को निराश्रित अनुभव न करता।

हमें इस स्वीकृति से हिचकना नहीं चाहिए कि ऐतिहासिक उपन्यासों में आचार्यजी का स्थान चोटी के कलाकारों में है, किन्तु कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन अतिरंजनापूर्ण भी है। आज के जागरूक और बुद्धिवादी पाठक के गले वे बातें ज्यों की त्यों नहीं उतर पाती हैं। सब कुछ मिलाकर कहा जा सकता है कि हिन्दी के ऐतिहासिक-उपन्यास जगत को शास्त्रीजी ने एक अपूर्व देन दी है जो उन्हें उच्चकोटि के उपन्यासकारों में स्थान दिलाने में समर्थ है।

आलोच्यकाल के ऐतिहासिक उपन्यासों की शृंखला की एक सबल कड़ी यशपाल की 'दिव्या' है। ऐतिहासिक उपन्यासकार के पूर्वाग्रह से मुक्त होकर तथा ईमानदारी के साथ तत्कालीन समस्याओं के चित्रण में पूर्ण सामर्थ्य दिखानी चाहिए। उसे वादों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए तथा इतिहास की घटनाओं और पात्रों को आज के प्रश्नों और आज के वादों की मीमांसा का साधन नहीं बना लेना चाहिए। यशपाल यद्यपि मार्क्सवादी हैं, फिर भी 'दिव्या' में उन्होंने यथेष्ट तटस्थता और कला की आतमा की सुरक्षा और पूर्वाग्रहमुक्तता का सुन्दर परिचय दिया है और इसका परिणाम यह हुआ है कि 'दिव्या' हिन्दी के अपनी कोटि के उपन्यासों में एक सुन्दर कृति बन गई है।

'दिव्या' में बौद्धकालीन संस्कृति-युग की कुछ शाश्वत समस्याओं का सफल अंकन किया गया है। ये समस्याएँ यद्यपि इस विशेष काल की भूमिका में ही उपस्थित की गई हैं किन्तु ये हैं सार्वकालिक और सार्वदेशिक। इस उपन्यास का नामकरण 'वैशाली की नगरवधू' के समान नायिका के नाम पर रखा गया है। उपन्यास की नायिका 'दिव्या' मद्र साम्राज्य के धर्मस्थ महापंडित देवशर्मा की प्रपौत्री है। 'मधुपर्व' के इतिहासानुमोदित पर्व पर 'मराली' नृत्य करके दिव्या ने 'सरस्वती पुत्री' का सम्माननीय पद प्राप्त कर लिया था। दास पुत्र पृथुसेन भी उसी अवसर पर ब्राह्मण और यवन कुमारों के साथ प्रतियोगिता करके सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी घोषित किया गया था। उसकी इस विजय के फल-स्वरूप उसे कुमारी दिव्या ने पुष्प-मुकुट पहनाया। उसी दिन कुमारी दिव्या की शिविका में कंधा लगाने के कारण गण संवाहक आचार्य प्रवर्द्धन के पुत्र आर्य रुद्रधीर द्वारा पृथुसेन अपमानित भी हुआ। धर्मस्थ के महल में न्याय की भीख

माँगता हुआ पृथुसेन आया और उसके प्रति दिव्या का आकर्षण और भी विकसित तथा पुष्ट होता गया—धीरे-धीरे वे एक-दूसरे को प्रेम करने लगे। समय-समय पर जब भी अवसर मिलता दिव्या किसी न किसी प्रकार पृथुसेन से मिल लेती थी और इस प्रकार उनका प्रेम मंजिष्ठा-राग की सीमा को पहुँच गया। अन्त में पृथुसेन को सेनापति बनाया गया और युद्ध के लिए वह जब जाने के लिए तैयार होकर दिव्या से मिला तो दिव्या अब तक की सभी मर्यादा की सीमाएँ तोड़ बैठी और पृथुसेन ने उसके कौमार्य-व्रत को भंग कर दिया।

समय ने पृथुसेन को विजय और दिव्या को गर्भ की पूर्णता एक साथ ही प्रदान की। दिव्या पृथुसेन से मिलने को बहुत व्यग्र और तृषित थी, किन्तु पृथुसेन पर अब गणपति की पुत्री सीरा का पूरा-पूरा नियंत्रण हो चला था, अतः उसने दिव्या को उससे मिलने न दिया। दिव्या समाज और लोकापवाद से बचने के लिए अधिक व्यथित और आतुर थी। इस काल में उसके मस्तिष्क का सन्तुलन ठीक न रहा और अपनी माता के साथ घर से निकल पड़ने में सफल हो गई। एक दास व्यापारी ने उसे फाँस कर मथुरा में बेच दिया। मथुरा में उसके गर्भ से पुत्र उत्पन्न हुआ। जिस ब्राह्मण के हाथों दिव्या को बेचा गया था वह बड़ा भारी अत्याचारी और असह्य मानसिक यंत्रणा देने वाला था। दिव्या उस कष्ट से भारी परेशान थी और मुक्त होने के लिए वहाँ से भागने के प्रयत्न में सफल हो गई। उसके स्वामी को इसका पता चल गया और पीछा किया गया। आपत्ति से बचने के लिए वह नदी में कूद पड़ी। नदी में उसका बच्चा तो मर गया, किन्तु वह स्वयं रत्नप्रभा नामक एक वेश्या ने बचा ली। अब वह रत्नप्रभा के साथ रहने लगी और उसका नया नाम अंशुमाला रख दिया गया। वह नाचने-गाने का कार्य करके यश और धन अर्जित करने लगी और दिनों-दिन उसकी कीर्ति फैलने लगी।

सागल में रुद्रधीर को देश निकाला हो चुका था। प्रेस्थ ने वह राजनीतिक और कूटनीति-प्रधान चालें चली थीं कि पृथुसेन और गणपति की पुत्री सीरा विवाह-बन्धन में बँध चुके थे। सागल के यवनों से बदला लेने की भावना से सज्जित होकर, देश निकाले की अवधि की समाप्ति पर, रुद्रधीर पुनः सागल लौट कर आया तथा दिन-रात इस योजना में तल्लीन रहने लगा।

शरद पूर्णिमा के दिन राजनर्तकी मल्लिका के यहाँ एक भारी समारोह आयोजित किया गया। सभी यवनों को आमंत्रित करके खूब मदिरा पिलाई गई। जब वे शराब के नशे में धुत हो गये तो पूर्व निश्चित योजनानुसार सबको मार डाला गया। पृथुसेन को भी मारने की योजना थी, किन्तु वह

बौद्धभिक्षु का वेश धारण करके बच निकला। उत्तराधिकारिणी को खोजते-खोजते मल्लिका मथुरा पहुँची। मथुरा जाकर उसने समारोह के लिए वस्त्राभूषणों से सजी हुई दिव्या को प्राप्त करने में सफलता पाई। पान्थशाला में पहुँचने पर उसे ज्ञात हुआ कि आचार्य रुद्रधीर, भिक्षु पृथुसेन तथा चार्वाक के मत को मानने वाला मारीश तीनों से उसकी भेंट हुई। आचार्य ने उससे कहा—

'देवी तुम्हारा स्थान नर्तकी वेश्या के आसन पर नहीं। तुम कुलकन्या हो, तुम्हारा स्थान कुलवधू के आसन पर कुलमाता के आसन पर है। आचार्य रुद्रधरि देवी को आचार्य कुल की महादेवी के आसन पर स्थान देने के प्रयोजन से उपस्थित हैं। देवी अपना आसन स्वीकार कर आचार्य को कृतार्थ करो।'

दिव्या ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—

'आचार्य, कुलबधू का आसन, कुलमाता का आसन, कुलमहादेवी का आसन दुर्लभ सम्मान है। यह अकिंचन नारी उस आसन के सम्मुख मस्तक झुकाती है। परन्तु आचार्य, कुलमाता और कुलमहादेवी निरादृत वेश्या की भाँति स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर नहीं, ज्ञानी आचार्य, कुलवधू का सम्मान, कुलमाता का आदर और कुलमहादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रय मात्र है। वह नारी का सम्मान नहीं। वह भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है। आर्य, अपने अस्तित्व का त्याग करके ही नारी वह सम्मान प्राप्त कर सकती है। ज्ञानी आर्य, जिसने अपना अस्तित्व त्याग दिया वह क्या पायेगी ? आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी दीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी। स्वत्वहीन हो वह जीवित नहीं रहेगी।'

उसी समय भिक्षु ने पुकारा—

'आर्ये, मैं तथागत का सेवक भिक्षु पृथुसेन समाज से प्रताड़ित नारी को तथागत की शरण में, ग्रहण करने को उपस्थित हूँ।............देवी संसार का कोई दुःख निर्वाण के आनन्द को क्षुब्ध नहीं कर सकता। देवी, संसार के पीड़ित समाज से प्रताड़ित बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में शान्ति पाते हैं। देवी, उस अपार करुणा की शरण ग्रहण करो।'

कम्पित स्वर में दिव्या ने प्रश्न किया—

'भन्ते भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है ?'

धीर स्वर में भिक्षु ने उत्तर दिया—

'भिक्षु का धर्म निर्वाण है। नारी प्रवृत्ति का मार्ग है। भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है।'

दिव्या बोली—

'भन्ते अपने निर्वाण-धर्म का पालन करें। नारी का धर्म निर्वाण नहीं सृष्टि है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दें।"

पूर्व देश से आये पथिक ने भिक्षु के समीप आ पुकारा—

'मैं......मारिश, देवी को राजप्रासाद में देवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता। मारिश देवी को निर्वाण के चिरन्तन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता। वह संसार के सुख-दुःख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है। वह संसार के धूलधूसरित मार्ग का ही पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में सन्तोष की अनुभूति दे सकता है।........सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।"

भूमि पर बैठी दिव्या ने भित्ति का आश्रय छोड़ दोनों बाहु फैला दिये। उसका स्वर आर्द्र हो गया—

'आश्रय दो आर्य!'

यशपाल के इस उपन्यास की आलोचना करते हुए त्रिभुवनसिंह लिखते हैं कि यशपाल इतिहास को पूजा और अन्धविश्वास की वस्तु नहीं मानते बल्कि उनके अनुसार इतिहास विश्वास की नहीं विश्लेषण की वस्तु है। इतिहास मनुष्य का अपनी परम्परा में आत्मविश्लेषण है। इस उपन्यास के अन्दर यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि अतीत एकमात्र स्वर्णिम कल्पना की ही वस्तु नहीं, उसमें भी आज की भाँति रक्त और मांस के पुतले निवास करते थे। उनमें भी मानव सुलभ सभी गुण और दोष विद्यमान थे। उस समय भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो अपने थोड़े से सुख और वैभव के लिए बड़े से बड़ा अपकार करने में भी संकुचित नहीं होते थे। सम्भवतः सर्वप्रथम 'दिव्या' में ही तत्कालीन समाज के वर्गपरक स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यह दिखलाने की चेष्टा की गई है कि अतीत स्वर्ग नहीं था वरन् इस वर्ग मूलक समाज-व्यवस्था में जन-समुदाय का अधिकांश जीवन की सुख-सुविधा से वंचित था और 'इतर जनों' के जीवन का मूल्य अभिजातयवर्ग के सुख का उपकरण बनने मात्र में था।

हिन्दी के कुछ श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकारों में हमें दिखाई देता है कि वे ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय पात्रों और घटनाओं को तो इतिहास से ले लेते हैं, परन्तु कथानक के निर्माण में उनकी कल्पना का विलास इतना

बढ़ जाता है कि वातावरण, आचार-विचार तथा वेष-भूषा और परम्परा आदि का तत्कालीन स्वरूप विकृत होकर उपहासास्पद हो जाता है। 'दिव्या' के सम्बन्ध में इस प्रकार की आपत्ति प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। जहाँ तक उसकी ऐतिहासिकता का प्रश्न है, उसके कथानक और पात्र सभी कल्पित हैं। उनका प्रणयन किसी भी ऐतिहासिक घटना के आधार पर नहीं किया गया है, बल्कि उपन्यासकार ने अपनी कल्पना के बल पर कहानी का निर्माण किया है। जिस काल में कथानक की कल्पना की गई है, उसके यथार्थ ऐतिहासिक वातावरण तथा देश-काल आदि के चित्रण में उपन्यासकार को अद्‌भुत सफलता प्राप्त हुई है।

ऐतिहासिक उपन्यासों की दो कोटियाँ हो सकती हैं—शुद्ध ऐतिहासिक तथा इतिहासाश्रित। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास की घटनाओं, पात्रों और परिस्थितियों का पूर्ण विवरण और अंकन रहता है। इतिहासाश्रित उपन्यासों में वैसा व्यापक प्रयोग नहीं होता। वहाँ तो प्रच्छन्न रूप से देश-काल का उल्लेख मात्र रहता है। इतिहास वहाँ पृष्ठभूमि भर का काम देता है। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्तर्गत वृन्दावनलाल वर्मा की 'झाँसी की रानी', प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'बेकसी का मजार', प्रसादजी की 'इरावती' आदि की गणना की जा सकती है। इतिहासाश्रित उपन्यासों में भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' और यशपाल की 'दिव्या' आ जाती हैं। शुद्ध इतिहास का आधार लेकर सफल उपन्यासों की रचना हिन्दी में नहीं हो सकी है। वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल और प्रताप नारायण श्रीवास्तव वस्तुतः इतिहास के विद्वान नहीं। इतिहास इनके लिए एक आधार मात्र रहता है, जिस पर ये साहित्यिक कृति का प्रासाद निर्मित करते हैं। इतिहास के विद्वान थे बंगला के राखालदास बंद्योपाध्याय और उनके उपन्यासों में ही इतिहास अपने शुद्ध रूप में आ सका है। आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्होंने इतिहास की घटनाओं को अपनी प्रतिभा से इस प्रकार अनुप्राणित कर दिया है कि कृति की सारी सजावट में औपन्यासिकता का स्रोत बह चलता है। जैसा अभी कहा गया, हिन्दी में कोई ऐसा उपन्यास-कार हुआ ही नहीं जो इतिहास को उपन्यास बना देता। श्री सत्यकेतु विद्या-लंकार के 'चाणक्य' को इस प्रकार का एक प्रयास कहा जा सकता है। जहाँ तक 'दिव्या' का प्रश्न है, वह इस तरह की रचना है ही नहीं। यशपाल ने स्वयं भी कहा है कि 'दिव्या' इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है।

कृतिकार यदि अपनी कृति के लक्ष्य अथवा प्रतिपाद्य के विषय में कोई संकेत दे दे तो इससे आलोचक का कार्य अपेक्षाकृत आसान हो जाता है। 'दिव्या' को शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि से भिन्न इतिहासाश्रित उपन्यासों के अन्तर्गत रखने में हमें यशपाल के उक्त स्पष्टीकरण से सहायता तो मिली ही है, 'दिव्या' के प्रति किसी प्रकार का अन्याय हो सकने की सम्भावना भी मिट गई है; इसी कारण लेखक ने 'दिव्या' के प्राक्कथन में जो कतिपय अन्य बातें कही हैं, वे भी विचारणीय हैं।

यशपाल ने 'दिव्या' के प्राक्कथन में अपने जीवन-दर्शन से सम्बन्धित एक बात कही है। वे लिखते हैं कि मनुष्य केवल परिस्थितियों को सुलझाता ही नहीं, वह परिस्थितियों का निर्माण भी करता है। वह प्राकृतिक और भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन करता है, सामाजिक परिस्थितियों का वह स्रष्टा है। इसे पढ़कर हमें भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' में अंकित उस जीवन-दर्शन की स्मृति हो आती है, जिसमें वे बार-बार कहते और प्रतिपादित करते पाये जाते हैं कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है, कर्त्ता नहीं। अतः अनेक समानताओं के रहते हुए भी 'चित्रलेखा' और 'दिव्या' की यह सबसे बड़ी विषमता है।

'दिव्या' के प्रतिपाद्य के विषय में लेखक का अपना विचार है कि पुरुष से बड़ा है—केवल उसका अपना विश्वास और स्वयं उसका ही रचा हुआ विधान। अपने विश्वास और विधान के सम्मुख वह विवशता अनुभव करता है और स्वयं ही उसे बदल भी देता है। इसी सत्य को अपने चित्रमय अतीत की भूमि पर कल्पना में देखने का प्रयत्न 'दिव्या' है। लेखक ने इस सत्य को देखने के लिए जिस चित्रमय अतीत की भूमि का आधार लिया है, वह है भारत का बौद्धकालीन युग।

बौद्धकालीन युग का आधार लेकर लिखा हुआ एक और उपन्यास "वैशाली की नगरवधू" आचार्य चतुरसेन शास्त्री का लिखा हुआ उपलब्ध है। उसका कथाकाल 'दिव्या' से यथेष्ट पूर्व का है। शास्त्रीजी के उपन्यास के समाज की व्यवस्था 'दिव्या' से काफी भिन्न है। दोनों के बीच समय की जितनी दूरी है, उतनी ही मात्रा में देश-काल में भी भेद आना स्वाभाविक है। समय के साथ समाज-व्यवस्था में परिवर्तन आना स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य है। बौद्धकालीन युग के प्रारम्भ में धार्मिक मत-मतान्तरों का भेद इस सीमा तक पहुँच चुका था कि इसे लेकर नित्य अशोभनीय घटनाएँ हुआ करती थीं, किन्तु जातीय भेद-भाव का रूप इतना उग्र नहीं था, जितना कि आगे चलकर हो गया। इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि इतर

जाति के लोग इतने दबे हुए थे कि सोच ही नहीं सकते थे कि समाज में उनका कोई स्थान है अथवा हो सकता है अथवा होना चाहिए। ब्राह्मण और क्षत्रिय दो कुलीन कही जाने वाली जातियाँ अपने वैभव की सीमा पर थीं। परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, अपनी ही भूलों और त्रुटियों के कारण कुलीन कही जाने वाली जातियों का स्वाभाविक ह्रास होता गया, जिससे इतर जातियों को भी सर उठाने का मौक़ा मिला। समाज में इस प्रकार की व्यवस्था के आ जाने के कारण घोर प्रतिक्रिया का आरम्भ हुआ। एक ओर ऊँची जातियों के अन्दर वर्णाश्रम धर्म को पालन कराने की प्रबल महत्वाकांक्षा थी, तो दूसरी ओर इतर जाति के लोगों के भीतर उसे समूल नष्ट कर देने की कामना। 'दिव्या' के अन्दर कथानक का सारा प्रसार इसी संघर्ष को लेकर हुआ है। पहले कहा गया है कि लेखक ने समाज का वर्गपरक स्वरूप चित्रित करना चाहा है। लेखक ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि शोषित वर्ग (दास आदि) अपनी दयनीय स्थिति को लेकर अत्यन्त क्षुब्ध थे।

लेकिन हमें यह स्मरण रखना होगा कि उस समय लोगों में न आज की सी वर्ग चेतना थी और न आज के से वर्ग-संघर्ष की तीव्रता। हमें यहीं पर लेखक की कलात्मक प्रतिभा और उसकी ऐतिहासिक यथार्थवादिता के प्रति जागरूकता का परिचय प्राप्त होता है, जहाँ वह इतिहास के साथ न्याय करता जान पड़ता है। किसी पूर्वाग्रह को अतीत के किसी काल विशेष पर आरोपित करके भी सम्भावित त्रुटियों से बच निकलना रचनाकार की अद्भुत कल्पनात्मक अनुभूति और सृजनात्मक शक्ति तथा प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है। 'दिव्या' की सफलता का यही रहस्य है।

जिस सामाजिक संघर्ष को 'दिव्या' के अन्दर लेखक ने उभारकर रखना चाहा है उसका चित्रण एक मात्र गणराज्य में ही सम्भव था, क्योंकि राजतन्त्र शासन-प्रणाली के अन्तर्गत इस प्रकार की अनेक समस्याओं के उठने का प्रश्न ही सम्भव न था। गणराज्यों पर प्रायः उच्च कुल के लोगों का अधिकार था। इतर जाति के लोग शासन-कार्य में सक्रिय भाग न ले पाते थे। मैंने ऊपर कहा है कि इतिहास को देखने की उपन्यासकार की अपनी एक विशेष दृष्टि रही है। उसने अपनी रचना सोद्देश्य की है। शोषण का एकमात्र आधार उस समय की वर्ण-व्यवस्था थी। मिथोद्रस की विजय, मिलिन्द के काषाय ग्रहण के पश्चात् मद्र में गणराज्य का स्थापना हुई, और गणराज्य में स्वाभाविक रूप से श्रेष्ठवर्ण कुलों को छोड़कर और कुल भी आ गये थे, जो वर्ण-व्यवस्था के नितान्त प्रतिकूल था। मद्र के अभिजात वर्ग की अधिकार प्राप्ति की स्पर्धा मिथोद्रस के पूर्व चले आते उच्चवर्ण कुलों के लिए कष्टदायिनी थी और यही

तत्कालीन सामाजिक संघर्ष का स्वरूप था । इसी कारण बौद्ध धर्म के प्रति भी उनके मन में स्पर्धा के भाव थे, क्योंकि बौद्ध धर्म के प्रभावों को नष्ट करके ही वे अपनी सामाजिक मान्यताएँ स्थापित कर सकते थे। जिन ऐतिहासिक मान्यताओं के ऊपर उसने जमकर प्रहार किया है, निश्चय ही उसे वे अमान्य हैं । वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को योग्यता के अनुसार अवसर दिलाने के पक्षपाती हैं । उस समय गणराज्य के प्रमुख स्थान पर नियुक्तियाँ तो योग्यता के आधार पर की जाती थीं किन्तु वे एक निश्चित समाज तक ही सीमित थीं ।

मधुपर्व के अवसर पर विद्यालयों से अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा प्राप्त कर लौटे हुए विद्यार्थियों का प्रदर्शन कराने की व्यवस्था थी, जिसका निर्णय करने के लिए गण के सदस्य उपस्थित रहते थे । उनकी सम्मति से गणपति प्रतियोगता में उत्तीर्ण छात्रों के नाम घोषित करता था, जिसके अनुसार उन्हें राज्य के प्रमुख पदों पर नियुक्त किया जाता था । उसी दिन एक और उत्सव मनाया जाता था, वह था कला-प्रदर्शन का । कला में सर्वश्रेष्ठ 'सरस्वती पुत्री' का सम्मान पाने वाली लड़की उस दिन के निर्णीत सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी को पुष्प मुकुट पहनाती थी । प्रथा के अनुसार दिव्या ने दास-पुत्र पृथुसेन को, जो उस दिन का सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी घोषित किया गया था, पुष्प मुकुट पहनाया । दास कुल में जन्म लेने के कारण दिव्या की शिविका में कंधा लगाने से वंचित पृथुसेन रुद्रधीर द्वारा अपमानित किया गया जिसकी घोर प्रतिक्रिया ने षड्यन्त्र को आगे बढ़ाया । उसने दिव्या द्वारा धर्मस्थ से न्याय की भीख माँगी और उसे उचित न्याय भी मिल गया । अभिजात्य वर्ग के लोगों की इच्छा के विरुद्ध भी रुद्रधीर को दो हजार दिन के निष्कासन का दण्ड भोगना ही पड़ा ।

इस घटना से प्रतीत होता है कि उस समय न्याय का पालन बड़ी ही कड़ाई के साथ कराया जाता था और न्याय-व्यवस्था के सामने सबको झुकना पड़ता था । वर्णीय भेद-भाव इतना उग्र रूप धारण करता जा रहा था कि न्याय-व्यवस्था से ही उसकी समस्या हल नहीं हो पा रही थी । पृथुसेन ने अपने पराक्रम और अवसर से लाभ उठाकर सत्ता तो हथिया ली किन्तु रुद्रधीर के साथी शान्त नहीं थे और हम देखते हैं कि रुद्रधीर के लौटते ही षड्यन्त्र का एक महान् संगठन गणराज्य को इतर जाति के शासन से मुक्त कर वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की पुर्नस्थापना करने के लिए तैयार हो गया ।

उस समय शासन और समाज में कला को विशेष महत्त्व दिया जाता था । गण के अन्दर राजनर्तकी का उतना ही सम्मान था जितना कि गणपति का । आजकल समाज की जैसी धारणा वेश्याओं के प्रति है वैसी उस समय न थी । यद्यपि राजनर्तकी मल्लिका की स्थिति नगरवधू की सी है, फिर भी वह इससे

यथेष्ट भिन्न है। उसे जो सम्मान प्राप्त था, वह वेश्या का सम्मान नहीं कहा जा सकता। राजनर्तकी की स्थिति इस काल में वैसी नहीं थी जैसी कि इसके पूर्व वैशाली आदि गणों में पाई जाती है। गणराज्य की किसी भी सर्वसुन्दरी कन्या को विवश होकर नगरवधू का सा जीवन स्वीकार नहीं करना पड़ता था, जैसा कि अम्बपाली को करना पड़ा था। राजनर्तकी ही कला, सुन्दरता और अन्य आवश्यक योग्यताओं का ध्यान रखती हुई अपनी उत्तराधिकारिणी की घोषणा करती थी। वर्ण-व्यवस्था का बन्धन इतना कड़ा था कि कोई भी अभिजात्य कुल की कन्या वेश्या-जीवन स्वीकार नहीं कर सकती थी। दिव्या ने अपने स्वाभाविक आकर्षण से अद्भुत प्रेम के कारण युद्ध में जाते समय पृथुसेन को विवाह के पूर्व ही अपना शरीर समर्पण कर जो गर्भ धारण किया था, वह उसकी लज्जा का कारण हुआ। युद्ध से लौटे विजयी पृथुसेन पर गणपति की पुत्री सीरा का पूर्ण नियन्त्रण हो जाने के कारण दिव्या उससे मिल भी न सकी, जिससे उसे विवश होकर घर छोड़ना पड़ा और जीवन के अनेक भयंकर उतार-चढ़ाव देखने को बाध्य होना पड़ा। मल्लिका ने जब उसे अपनी उत्तराधिकारिणी के रूप में स्वीकार करना चाहा तो अभिजात्य-वंश के लोगों ने उसका प्रबल विरोध किया कि द्विज-कन्या कभी भी वेश्या-जीवन धारण नहीं कर सकती। इससे यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि वर्णाश्रम धर्म के नियम यथेष्ट कड़े थे, किन्तु इसके मूल में अभिजात्य वर्ग का स्वार्थ ही निहित था। वर्ण-व्यवस्था की इस कठोरता और पालन कराने में दृढ़ता का आशय यह था कि ब्राह्मण इतर वर्णों से श्रेष्ठ बने रहें और उनकी सामाजिक मर्यादा तथा रक्त में कोई दोष न आ सके। द्विजों की श्रेष्ठता का रहस्य यह था कि यदि सामाजिक आचार-विचारों में इतर वर्ग भी द्विज वर्ग की समानता में आ जायें तो द्विजों के विशेषाधिकारों पर चोट की सम्भावना हो सकती थी। इसी कारण से मल्लिका दिव्या को अपने आसन पर न बिठा सकी। यदि एक बार उसने महासेनापति पृथुसेन की उच्छृङ्खलता के कारण 'मधूलिका' को खो दिया था तो दूसरी बार वह आचार्य रुद्रधीर के प्रबल विरोध से, जिसके पीछे शासन की शक्ति थी, दिव्या से भी हाथ धो बैठी।

जैसा कि बताया जा चुका है, इसका कारण यही था कि पवित्र द्विज कुल की कन्या को राजनर्तकी के पद पर आसीन करना अभिजात्य वर्ग की कुलगरिमा के विरुद्ध था, और आचार की परम्परा के विरुद्ध साधारण जन की भाँति आचरण करना अपने अधिकारों और स्वार्थों को ही छोड़ देना था।

उपन्यासकार ने तत्कालीन वेश-भूषा आदि के चित्रण में अत्यन्त सतर्कता से काम लिया है। लेखक की चित्रण की कलात्मक प्रतिभा इतनी

प्रौढ़ है कि हम आज से शताब्दियों पीछे के भारत में उसके साथ विचरण करने लग जाते हैं। लोग विभिन्न अवसरों पर विभिन्न वस्त्राभूषण धारण करते थे तथा वर्ण और जाति के अनुसार लोगों के विशिष्ट वस्त्राभूषण भी थे। "अभिजात्य पुरुष और कुल-स्त्रियाँ पर्व के योग्य और अपने वर्ण और वंशस्थिति के अनुकूल वस्त्राभूषण धारण किये थीं। ब्राह्मण स्वर्ण के तार से कढ़े उष्णीय से सिरे के केशों को बाँधे थे, उनके मस्तक पर श्वेत चन्दन का खौर था। क्षत्रिय स्वर्ण खचित शुभ्र वस्त्र धारण किये थे, उनके कानों, कण्ठ, भुजा और कलाइयों पर रत्नजटित आभूषण थे, चुस्त अँगरखा। श्रेष्ठियों के वस्त्र बहुमूल्य परन्तु ढीले-ढाले। गण-परिषद् के सदस्य कन्धों पर आजानुकेशरी कंचुक धारण किये थे।"

देश के अन्दर बौद्धों के मठ स्थापित थे जिन पर शासन का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था। उनके अन्दर एकमात्र शासन धर्माधिकारियों का ही था, जिसमें शरण पाये व्यक्ति को किसी अन्य पिछले अपराध के कारण दण्ड नहीं दिया जा सकता था। बौद्ध भिक्षु अपने धार्मिक नियमों के अनुसार ही वस्त्र धारण करते थे।

समाज में नारी और पुरुष के बीच इतना दुराव-छिपाव नहीं था। यौन पवित्रता को भी उस काल में इतना महत्व नहीं दिया जाता था। एक प्रकार से कामिनी और कादम्ब का व्यापक प्रयोग ही होता था। अभिजात्य कुल के लोगों द्वारा इतर जाति की स्त्रियों का भोग एक परम्परा के रूप में चला आ रहा था, जिसके अनेक उदाहरण इतिहास में भी मिल जाते हैं। राजनर्तकी के उद्यान में सर्वसाधारण के जमघट का उल्लेख तो इतिहास में मिलता है किन्तु शरद पूणिमा को जो रास मल्लिका के प्रासाद में कराया है वैसे रासों का वर्णन इतिहास में प्रायः नहीं मिलता है। आज की पश्चात्य सभ्यता में जिस प्रकार स्त्री और पुरुष मिलकर पर-पुरुष के साथ भी रास करते पाये जाते हैं, वैसे 'बाल डान्स' की प्रथा भारत में कभी नहीं रही। यौन स्वच्छन्दता का प्रमाण इतिहास में भले ही मिल जाय, किन्तु पति के सामने पत्नी और भाई के सामने बहन का हाथ पकड़ने वाले की गर्दन पर रक्तरंजित खड्ग होता था। भारतीय संस्कृति के अन्दर कभी थी, ऐसी छूट थी यह अत्यन्त संदिग्ध है, जैसी कि यशपाल ने दिखाई है।

समाज के अन्दर वैयक्तिक समानता का अत्यन्त अभाव था। मानव का मानव के प्रति भी कितना तिरस्कार हो सकता है, इसकी पराकाष्ठा उस समय की दास प्रथा के अन्तर्गत हो चुकी थी।

उस समय की दासप्रथा भारतीय संस्कृति की यश-पताका पर ऐसा

काला धब्बा है जिसका कोई उत्तर ही नहीं दिया जा सकता और जिसे कभी भी धोया नहीं जा सकेगा। दासों के साथ स्वामियों का जो व्यवहार उस समय था वैसा व्यवहार आज के मानव समाज का पशुवर्ग के प्रति भी नहीं है। उपन्यासकार को इस घृणित प्रथा ने इतना द्रवित कर दिया है कि जब भी उसने तत्कालीन गणराज्यों के परस्पर व्यापार सम्बन्धों का वर्णन किया है, वहाँ इन दास-दासियों के विक्रय को ही प्रधानता देना उचित समझा है। प्रत्येक गण-राज्य की मुद्रा दूसरे से भिन्न होती थी और उन गणराज्यों में आपस में व्यापार तो होता था किन्तु उसकी जिस पद्धति का वर्णन यशपाल ने किया है वह आधुनिक काल की 'फौरेन एक्सचेंज' पद्धति से अप्रभावित नहीं कही जा सकती। आज के संसार में जिस प्रकार वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है और उसके लिए एक सामान्य-मूल्य निर्धारित कर लिया जाता है, वैसा ही उस काल में दिखाया गया है। दासों का क्रय-विक्रय भी इसी पद्धति से होता था।

प्रतूल, जो दास-दासियों का थोक व्यापारी है, दिव्या को व्यापारी भूधर के हाथ इसलिए बेच देना चाहता है कि इस गर्भिणी स्त्री दासी का सौन्दर्य दिन-दिन घटता जायगा, जिससे भविष्य में लाभ की सम्भावना भी जाती रहेगी। परन्तु भूधर का अनुभव भी उससे कम नहीं था। प्रतूल जब दासी की प्रशंसा करता हुआ भूधर को फँसाने की चेष्टा करता हुआ कहता है--

"क्या तुम उसके अवयवों का लास्य तथा उसका चम्पाकली सा वर्ण नहीं देखते? गर्भिणी होने के कारण मलिन है तो क्या, यह नहीं देखते कि एक मूल में दो जीव पा रहे हो।"

तो उसने स्पष्ट कह दिया—

"मित्र! वही सब देख रहा हूँ। गोधन और अश्वधन नहीं, मनुष्य का ही व्यापार करता हूँ। उसकी जाति देखते हो······पर्यंक पर पली है, द्विज कन्या है मित्र! गर्भिणी·······और वह भी प्रथम गर्भ, तिस पर भी दीर्घ यात्रा। यदि फिसल गई तो बीस मुद्रा भी गई।"

मानवता का इससे बड़ा पतन और क्या हो सकता है! पशुओं की भाँति सवा सोलह आने ठोक-बजा कर मनुष्यों का क्रय-विक्रय होता था। भूधर के घर से पुरोहित चक्रधर के घर जाने पर दिव्या की जो भयंकर दुर्दशा हुई, वह मानवता के पाप की अत्यन्त करुण कहानी है। दूध के लोभ में लोग गाय के बछड़े को भी जीवित रखना चाहते है, परन्तु दासियों के पुत्रों का मूल्य उन बछड़ों के बराबर भी नहीं था। गाय बछड़े को स्तन देने के पश्चात् ही स्वामी को दूध देती है, परन्तु दासी के शरीर पर तो पूर्ण दायित्व क्रेता का

ही होता है । पुरोहित पत्नी ने दिव्या के पुत्र को इसलिए बेच देने का प्रस्ताव किया कि वह उसके लिए अपने दूध की चोरी करती है; नारीत्व और मातृत्व का इससे बड़ा अनादर और क्या हो सकता है ? तत्कालीन समाज-शासन और धर्मस्थानों में अनेक वाह्याडम्बर तथा थोथी मान्यताएँ विद्यमान थीं, परन्तु उनकी जड़ में जो विष-कीट लगा था, उसकी ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया । राज्य दासी को आत्महत्या करने से रोक सकता है, उस पर स्वामी की सम्पत्ति को हानि पहुँचाने का आरोप लगा सकता है, समाज दास-दासियों का निर्माण कर सकता है, धर्मस्थान उसे अपनी शरण में लेने से पूर्व उससे पति अथवा स्वामी की स्वीकृति की माँग करता है, परन्तु सब मिलकर उसे रोक नहीं सकते । इसे रोकने के मूल में थी शोषण की वृत्ति, जिसे यशपाल ने ठीक प्रकार पकड़कर करारी चोट की है । इस एक मूल बिन्दु को सामने रखकर लेखक ने सारी ऐतिहासिक परिस्थितियों की विवेचना की है ।

जहाँ तक लेखक ने तटस्थ भाव से ऐतिहासिक सत्यों को चित्रित किया है, उसने आधुनिक समाज को एक अनुपम वस्तु प्रदान की है, परन्तु जहाँ कहीं उसका व्यक्तिगत आग्रह प्रधान हो उठा है, उसने हमें सम्भावित अनुभवों से वंचित रखा है । उपन्यास का एक पात्र 'मारिश' आरम्भ से अन्त तक मौलिकवादी दर्शन की व्याख्या करता जान पड़ता है । उपन्यासकार स्वयं कुछ न कहकर जो कुछ कहलवाना चाहता है, उसका माध्यम मारिश को चुनता है । कलात्मकता के कारण उपन्यास की एकसूत्रता में व्यवधान नहीं आने पाया है । दार्शनिकता का मेल लेखक तत्कालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों से नहीं करा सका है । यह साधारण पाठकों को भी खटकता है । जिस भोगवाद का समर्थन मारिश ने किया है, उस काल में उसकी गन्ध भी नहीं थी । जितने भी तत्कालीन दार्शनिक सिद्धान्त थे सभी मोक्ष को प्रधान स्थान देते थे । जीवन की स्थिरता की ओर लोगों का कुछ भी आकर्षण नहीं था, चाहे वह गौतम बुद्ध का निर्वाण हो या वर्णाश्रम का मोक्ष । चार्वाक ने भोगवाद का प्रतिपादन अवश्य किया था । उपन्यासकार भी मारिश को चार्वाक ही बताते हैं । मारिश के अनुसार दुःख की भ्रान्ति में भी जीवन का शाश्वत क्रम उसी प्रकार चलता है। वैराग्य की व्याख्या करता हुआ वह कहता है कि वैराग्य तो भीरु पुरुष की आत्म-प्रवंचना मात्र है। जीवन की प्रवृत्ति प्रबल और असंदिग्ध सत्य है । वह कला का कोई भिन्न अस्तित्व स्वीकार नहीं करता बल्कि उसे नारी की आकर्षण शक्ति का निखार मात्र मानता है । इस प्रकार नारी का प्रधान रूप उसकी दृष्टि में सामाजिक भोग ही है जिससे सृष्टि की परम्परा आगे चलती है । यों तो यह मनोविज्ञान का प्रश्न है कि नारी का वास्तविक स्थायी स्वभाव क्या है ? परन्तु ऐतिहासिक अर्जित

अनुभवों के आधार पर कहा जा सकना है कि उसका प्रेम जीवन में एक बार और एक व्यक्ति से न मालूम क्यों और कैसे हो जाता है। जिस मांसल प्रेम और सन्तान ने दिव्या को समाज के सामने कलंकित किया, उसे जीवन की 'अनेक दम घोट देने वाली दर्दीली गलियों से गुजरने के लिए बाध्य किया, वह किस प्रकार पुनः मारिश की व्याख्या से प्रभावित हो उसकी ओर आकृष्ट हो जाती है। उसने रुद्रधीर द्वारा दिया गया राजसी वैभव ठुकराया, पृथुसेन द्वारा दिये गये मोक्ष को लात मारी, जो अपनी ही भूलों और दिव्या के प्रति किये गये अपराधों के प्रायश्चित के फलस्वरूप भिक्षु हो गया था, जिसने जीवन के प्रथम उभार में ही एक दिन कहा था 'दिव्ये ! भय और त्रास से क्या लाभ ? जीवन के दो क्षण पूर्णता से जीकर साहस से जीवन समाप्त कर दें।' चला तो वह दिव्या को परितोष देने था और खोजने लगा उसमें स्वयं अपना ही आश्रय— कितनी विचित्रता है ! यहाँ वह अस्वाभाविकता और लेखक की कमजोरी सिद्ध हो जाती है कि वह अपने ऐतिहासिक और अन्य सामाजिक उपन्यासों में नारी पात्रों को ऐसे व्यक्तियों के सामने समर्पित करा देता है जो भोगवादी दर्शन में आस्था रखते हैं और उस समर्पण से पूरा-पूरा लाभ उठाने में नहीं हिचकते।

'दिव्या' की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि उसके पात्र द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद के सिद्धान्त को बखूवी समझते हैं और समय-कुसमय उसका उपयोग ही नहीं करते वरन् भाषण देने तक से नहीं चूकते। इस कमी की ओर डा० रांगेय राघव ने 'मुर्दों का टीला' की भूमिका में भी निर्देश किया है। यहाँ दास दास की और स्त्री सामान्य नागरिक की भाषा न बोलें तो अस्वाभाविकता आ जाती है। यद्यपि इस उपन्यास में युग-चेतना और तत्कालीन संस्कृति को उसके प्रामाणिकतम रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, किन्तु पात्रों के कथन और जीवन-दर्शन सम्बन्धी दृष्टिकोण आधुनिक तथा अस्वाभाविक हो जाने से 'यथार्थ का भ्रम' अप्रामाणिक हो जाता है और उससे उपन्यास की प्रामाणिकता और ऐतिहासिक यथार्थ को भारी चोट पहुँचती है।

कथानक का संघटन और जिज्ञासा का निर्वाह अबाध रूप से होता है। कहानी और उपन्यास की एक भारी विशेषता है 'किस्सा गोई'। जिस उपन्यास में यह तत्त्व प्रारम्भ से लेकर अन्त तक बना रहता है उसकी रसात्मकता और कौतूहल वृत्ति कम नहीं होती। पाठक उसे बीच में छोड़कर अन्य पुस्तक की ओर दृष्टिपात नहीं कर सकता। देश-काल का चित्रण भी पूर्ण ऐतिहासिक तथा तत्कालीन परिस्थिति का चित्र देने में समर्थ है।

कला के क्षेत्र में नीति और सिद्धान्त का स्थान गौण और परोक्ष है।

जब कोई 'वाद' कलाकार पर हावी हो जाता है तो कला पिछड़ जाती है और 'वाद' सामने आ जाता है। इससे काव्य का उद्देश्य भ्रष्ट होकर, वह 'प्रचार का साधन' बन जाता है। काव्य में कोई विचार—जीवन-दर्शन तो रहता है किन्तु वह कलात्मक छवि चित्रों के माध्यम से काव्य में स्थान पाता है, न कि रागात्मकता से विहीन होकर सीधे रूप में सामने लाया जाता है। काव्य सबसे पहले काव्य है, पीछे कुछ और। मम्मट ने इस उद्देश्य को 'कान्तासम्मितयोपदेश युजे' कहकर स्पष्ट किया है। गोर्की भी मानते हैं कि जिस कलाकार की अभिव्यक्ति में उसका उद्देश्य जितना गुप्त और परोक्ष होगा, वह कला उतनी ही सशक्त और अधिक प्रभावोत्पादिनी सिद्ध होगी और उसका प्रभाव भी पाठकों पर उतना ही अधिक पड़ेगा। इस कसौटी पर यदि 'दिव्या' को कसा जाय तो असफलता ही हाथ लगेगी। इन सीमाओं के होते हुए भी 'दिव्या' हिन्दी उपन्यासों में श्रेष्ठ पद की अधिकारिणी है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने वाणभट्ट के काव्य और 'कादम्बरी' आदि के आधार पर एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा है, जिसकी इन दिनों यथेष्ट चर्चा हुई है। सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह हुई है कि इस उपन्यास के प्रारम्भ में लेखक महोदय ने जो 'यथार्थ का भ्रम' उत्पन्न किया है उसके चक्कर में बड़े-बड़े आलोचक तक आ गये हैं और सामान्यजन तो इसे 'वाणभट्ट की आत्मकथा' का वास्तविक रूप समझ लेते हैं। उनकी जिज्ञासा की पूर्ण तृप्ति हो जाती है और कोई किसी प्रकार की शंका इस सम्बन्ध में नहीं रहती। मेरे एक मित्र ने इसे पढ़ा (इसे पढ़ने को उन्हें मैंने ही प्रोत्साहित किया था) और पढ़कर दो घंटे तक मुझसे तर्क करते रहे कि यह वास्तव में सच्ची आत्मकथा है, उपन्यास हो ही नहीं सकती और बोले "डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे बड़े विद्वान और नीरक्षीर विवेक युक्त समर्थ आलोचक इस प्रकार की मिथ्या और काल्पनिक बात कैसे लिख सकते हैं?" मुझे सुनकर हँसी आ गई। सम्भवतः उनका भ्रम अभी तक बना हुआ है और मेरे वहुत समझाने पर भी इस भ्रम को वह दूर नहीं करना चाहते। इस उपन्यास में इस बड़ी सफलता के अतिरिक्त अन्य अनेक सफलताएँ भी हैं। इसमें ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा की गई है। देश, काल, परिस्थिति, पात्र, घटनाएँ, दृश्य और शब्दावली सभी कुछ प्रामाणिक है और इसके प्रमाणों को खोजने के लिए अन्य ग्रन्थ खोजने की आवश्यकता नहीं है वरन् इसी ग्रन्थ के नीचे आवश्यक उद्धरण और प्रमाण दिये हुए हैं। ऐसा लगता है जैसे हिन्दी का वाणभट्ट ही लिख रहा हो। वाणभट्ट की शैली के गुण तक को अपनाने का प्रयत्न किया गया है। मध्ययुगीन भारत इस

उपन्यास के माध्यम से सजीव हो उठा है। हिन्दी में इस प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यास एक उच्च और महत्वाकांक्षी परम्परा के प्रतीक हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में कुछ अन्य सुन्दर उपन्यास भी लिखे गये हैं। इनमें रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला', राहुलजी का 'जय यौधेय' आदि आते हैं। 'मुर्दों का टीला' में जनतांत्रिक समस्याओं और मान्यताओं का सुन्दर वर्णन है। यशपाल में यद्यपि मार्क्सवादी सिद्धान्तों का आरोप मिलता है, जिससे ऐतिहासिकता अतिरंजनायुक्त और अयथार्थवादी प्रतीत होने लगती है, किन्तु यह बात राहुलजी के उपन्यासों में बहुत अधिक मिलती है। उनके पात्र तो धड़ाधड़ आज के मार्क्सवादी सिद्धान्तों की व्याख्या और स्थापना करते हुए दिखाई देते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों की शृंखला में १९१९ के दो महत्वपूर्ण प्रकाशनों का प्रमुख हाथ है। ये उपन्यास हैं—'शतरंज के मोहरे'[1] और 'कठपुतली के धागे'[2]। इन दोनों उपन्यासों की कथावस्तु प्रायः समान है। अवध की नवाबी को पृष्ठभूमि बनाकर १८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्राम का सुन्दर वर्णन इन उपन्यासों की कथा का आधार है। इन दोनों उपन्यासों में प्रथम स्वराज्य-क्रान्ति को केवल 'सिपाही-विद्रोह' न माना जाकर, उसे जनता की व्यापक और सुनियोजित योजना सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, जिसे अधिकांश देशी राजाओं, नवाबों और जनता के एक विशाल-भाग का सहयोग प्राप्त था। इस युग में जहाँ एक ओर सारा देश अंग्रेजों के शासन को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध हो चुका था, वहाँ दूसरी ओर लखनऊ की नवाबी अपनी पीनक में पड़ी ऊँघ रही थी। इन दोनों उपन्यासकारों को 'शतरंज के खिलाड़ी'[3] से प्रेरणा मिली है—यदि ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा। इन उपन्यासों में तत्कालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अवस्थाओं का ऐसा इतिहासानुमोदित और यथार्थवादी वर्णन किया गया है कि सारा अतीत हमारे सामने आज भी स्पष्ट हो उठता है। हमारे उस समय के समाज के सम्बन्ध और उस समाज का अन्तर्विरोध इतनी जागरूकता और सतर्कता के साथ अंकित किया गया है कि उसमें जागरूकता आगे आ गई है और कला पिछड़ गई है।

इन दोनों उपन्यासों में हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न का हल परोक्ष रूप से

---

१. अमृतलाल नागर (१९५९)।

२. आनन्द प्रकाश जैन (१९५९)।

३. प्रेमचन्द की लिखी प्रसिद्ध कहानी जिसमें अवध की नवाबी के ह्रासोन्मुखी युग की मनोवृत्ति का सुन्दर विवेचन है।

दिया गया है और बताया गया है कि धर्म हमारी राजनीति और अर्थनीति से बिलकुल अलग रखा जाना चाहिए, और जब तक ऐसा नहीं किया जायगा तब तक हम आगे नहीं बढ़ सकते ।

यद्यपि श्री अमृतलाल नागर इतिहास के एक गम्भीर विवेचक और यथार्थवादी दृष्टिकोण वाले हैं, फिर भी उनसे इतिहास की कुछ सामान्य भूलें हो गई हैं या सामान्य होने के कारण इन बातों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सका है। जैन का उपन्यास नागरजी के पश्चात् निकला है, अतः उस पर नागरजी के उपन्यास का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। दोनों उपन्यासों में विचित्र साम्य है कि भूलें भी एक सी तथा समान हैं ।

इन सारी कमियों के बावजूद भी हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक-उपन्यासांश यथेष्ट विकसित और वैविध्यपूर्ण होता चला जा रहा है और हमें आशा है कि शीघ्र ही हिन्दी में कुछ ऐसे स्थायी साहित्य-रत्नों का सृजन होगा जिनसे हिन्दी भाषा और साहित्य विश्व के उच्चतम साहित्यों में अग्रणी हो सकेगा ।

१७. आंचलिक उपन्यास

आंचलिक उपन्यासों की एक सुन्दर, स्वस्थ और नवीन परम्परा हिन्दी साहित्य की अपनी एक महत्वपूर्ण विशेषता है। आंचलिक उपन्यासों में किसी अंचलविशेष को स्वीकार करके उन्यासकार उसका यथार्थवादी चित्रण करता है। उस आँचल के निवासियों का रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज, जादू-टोना, राजनीतिक-धार्मिक दशा आदि का पूरा व्यौरा इन उपन्यासों में रहता है। आंचलिक उपन्यासों के प्रचलन से पूर्व भी यथार्थवाद का पुट देने के लिए किसी अंचल विशेष की भाषा, रीति-रिवाज आदि का प्रयोग उपन्यासकार किया करते थे; किन्तु यह वर्णन और इस प्रकार के उपन्यास आंचलिक उपन्यासों से स्पष्टत: भिन्न हैं। प्रथम प्रकार के उपन्यासों में आंचलिकता सामान्य तत्त्व होती थी जबकि दूसरे प्रकार के उपन्यासों में आंचलिकता ही प्रमुख तत्त्व होती है। यह अन्तर केवल प्रमुखता का ही माना जा सकता है।

आंचलिक उपन्यासों में कथासूत्र इतना व्यापक होता है कि राजनीतिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक आदि प्रश्नों की प्रमुखता नहीं रहने पाती है। जिस प्रकार राजनीतिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में क्रमश: राजनीति और इतिहास की प्रमुखता रखी जाती है और यदि अवकाश मिल जाता है तो अन्य तत्त्वों की ओर ध्यान दिया जाता है, उसी प्रकार आंचलिक उपन्यासों में इन तत्त्वों की ओर यथावसर ही ध्यान दिया जा सकता है। इसमें ऐसे पात्रों को स्थान दिया जाता है जो लोक संस्कृति के अधिकाधिक नजदीक और प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। इन तत्त्वों को उभारने के लिए सामान्य पात्रों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है, विशेष और असाधारण की ओर कम। मनोविज्ञान के आधार पर लिखे गये उपन्यासों के आधार कुछ असाधारण व्यक्तित्व होते हैं जो अस्वस्थ मनोदशाओं के प्रतीक और काम-कुण्ठाओं से युक्त होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के अन्तर्मन में पड़ी हुई कुण्ठाओं को सामने लाना इन उपन्यासकारों की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है। आंचलिक उपन्यासकार इन प्रणालियों में नहीं उलझता, क्योंकि उसके लिए असाधारण की अपेक्षा साधारण व्यक्तित्व ही अपनी ओर अधिक खींचते हैं। इन साधारण व्यक्तित्वों में सामान्य जीवन

के तत्त्व मिलते हैं और जन-जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले इन पात्रों में ही वह विशेषताएँ मिलतीं हैं, जिनका वर्णन करना आंचलिक उपन्यासकार का उद्देश्य होता है। आज के समाज में जहाँ अनेक गुम्फित प्रश्न हैं, उनमें से एक प्रश्न संस्कृति का भी है। संस्कृति के नाम पर जहाँ एक ओर अनेक दूषित और असन्तुलित भावनाएँ उभर और पनप रही हैं, वहाँ दूसरी ओर हम संस्कृति का नारा समय-कुसमय लगाकर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करना परम आवश्यक मान लेते हैं। आंचलिक उपन्यासों को हम किसी अंचल विशेष की संस्कृति का सरस और सुखद चित्रण मान सकते हैं, किन्तु इधर आंचलिक उपन्यासों के नाम पर केवल ऊपरी सामान्य और असाधारण परिस्थितियों, गीतों और कुछ कल्पित कहानियों अदि का व्यौरा किसी भ्रमणशील पात्र आदि के माध्यम से प्रस्तुत कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली जाती है—यह अनुचित है। आंचलिक उपन्यास लिखने के लिए यह परम आवश्यक है कि लेखक उस क्षेत्र की भाषा और समग्र जीवन-परम्परा के आन्तरिक पहलुओं से पूर्ण परिचित हो, किन्तु इस कोटि के उपन्यासों का हिन्दी में प्राय: अभाव ही है।

आंचलिक उपन्यासों की परम्परा का प्रारम्भ करने वाले उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द थे। उनका 'गोदान' बनारस के आस-पास के ग्रामीण-क्षेत्र का सुन्दर और गहरा चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें आंचलिक उपन्यास के यद्यपि सारे तत्त्व उपस्थित हैं, किन्तु प्रेमचन्द को एक नई विधा उपस्थित करने का मोह नहीं था और न वे हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में कोई वाद खड़ा करना चाहते थे। प्रेमचन्द के पश्चात् नागार्जुन ने बलचनमा, नई पौध और बाबा बटेसर-नाथ के द्वारा 'गोदान' की परम्परा को आगे बढ़ाया। इसका अभिप्राय है कि विषयवस्तु और वर्णन-क्षेत्र प्रेमचन्द के समान हैं—उसी परम्परा के हैं—न कि प्रेमचन्द से आगे के।

आंचलिक उपन्यासों की शृंखला का विकास और विवेचन 'मैला आँचल' (फणीश्वरनाथ रेणु) के साथ हुआ है। 'मैला-आँचल' को हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यास माना जा सकता है। इस उपन्यास का कथा-क्षेत्र पूर्णिया (बिहार) जिले का मेरीगंज गाँव है, जिसमें राजपूत, ब्राह्मण, यादव और कायस्थ आदि जातियाँ समूहों में निवास करती हैं। इस गाँव के समूह जातीयता आदि के आधार पर हैं—यद्यपि आर्थिक आधारों पर निर्मित कुछेक वर्गों का वर्णन भी मिलता है। किसान, जमींदार, महन्त आदि कुछ वर्गों की समस्याएँ और शोषण आदि का सुन्दर और सजीव वर्णन है, किन्तु वह उभर कर अपने यथार्थवादी रूप में नहीं आ पाया है। इस गाँव में जातिवाद का वैसा ही दौर-दौरा है, जैसा कि भारतवर्ष के किसी भी प्रान्त के गाँवों में मिल

सकता है। जातियों के आधार पर बने ये गुट सदैव एक-दूसरे को नीचा दिखाने और अपने अधिकार-क्षेत्र तथा शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करते रहते हैं। उनका दृष्टिकोण सीमित और घृणित है। उन्हें इस बात की कोई चिन्ता नहीं कि हमारे इस दृष्टिकोण से गाँव और इसके निवासियों का हित होगा या अहित, वे तो केवल अपने और अपने वर्ग के स्वार्थ से ऊपर उठ ही नहीं पाते हैं। व्यापक दृष्टिकोण का पूर्ण अभाव आज के भारतीय ग्रामीण-समाज की सबसे बड़ी विडम्बना है। जातिवाद को आधार मिला है आज की प्रजातान्त्रिक दलबन्दी से। राजनीतिक पार्टीबन्दी ऊपर से स्वीकृत है और गाँव में इसकी स्वीकृति का आधार राजनीतिक जागृति न होकर परस्पर का द्वेष और ईर्ष्याजन्य जातिवाद होता है। सामान्य जनता यह निर्णय नहीं कर पाती कि अनेक राजनीतिक पार्टियों और नेताओं में से कौन उनका वास्तविक शुभचिन्तक और सच्चा पथ-प्रदर्शक है? ग्राम-लीडरों में कांग्रेसी बालदेव, सोशलिस्ट कालीचरन और कम्यूनिस्ट डा० प्रशान्त हमारे सामने उपस्थित होते हैं। अज्ञान, गरीबी, रूढ़िवाद और अन्धविश्वासों में फँसी हुई जनता कटी पतंग के समान जिधर की हवा हुई उसी ओर झोंकों के साथ तीव्रता से दौड़ने लगती है। जिस जनता ने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में अँग्रेजों की गालियाँ, ठोकरें और गोलियाँ खाई थीं, वह आज भी इससे मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकी है—यही विडम्बना है। सभी राजनीतिक दल सुन्दर-सुन्दर वादे करते हैं किन्तु फल समान ही होता है—स्थिति ज्यों की त्यों रहती है—उसमें कोई परिवर्तन नहीं आ पाता। आन्दोलन के समय जो लोग धन-अर्जन कर रहे थे, स्वतन्त्रता मिलने पर वही उसके सबसे बड़े दावेदार बनकर सामने आ गये हैं और सामान्य जनता तथा वास्तविक कार्यकर्ता बहुत पीछे छोड़ दिये गये हैं। लेखक एक जागरूक कलाकार है, अतः उसका एक पात्र बावनदास इस नवनिर्मित भारत की दयनीय दशा पर बार-बार दुःखी होता दिखाया गया है। प्रेमचन्द के 'गोदान' के समान इस उपन्यास में भी ग्रामीण और नगर के जीवन का एक सुन्दर कन्ट्रास्ट प्रस्तुत किया गया है। लगता है जैसे एक ही दर्पण के ये दो पहलू हैं, जिनमें समानता के नाम पर वैभिन्य ही अधिक मिलता है। नगर के जीवन के सम्बन्ध में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण अन्यों की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी, स्वस्थ और अनुभव-युक्त था—जिसमें किसान की सहज-सज्जनता, मानवतावादी दृष्टिकोण तथा समाज के दायित्वों के प्रति स्वीकृतात्मक दृष्टिकोण का एकान्त अभाव पाया जाता है। देखकर दुःख होता है कि हम अधिक सभ्य होने के नाम पर असभ्य होते जा रहे हैं। प्रेमचन्दजी ने तस्वीर का एक ही पहलू प्रस्तुत किया, दूसरा पहलू उनके सामने स्पष्ट नहीं हो पाया था।

देश स्वतन्त्र नहीं हुआ था और किसान के टूटकर बने हुए मजदूर का राष्ट्र-निर्माणकारी स्वरूप अस्पष्ट था। उनका गोबर किसान का पुत्र है किन्तु गाँव को छोड़कर शहर में आ जाता है और शहर में मजदूरों की सभी बुराइयाँ सीख जाता है, किन्तु उसके उत्पादन सहयोग से होने वाली देश की आर्थिक मजबूती, आत्मनिर्भरता और राष्ट्रीय धन (पूँजी) का विदेशों को जाने से रुकना आदि दशाओं और दूरगामी परिणामों पर लेखक की दृष्टि नहीं जा सकी है। किन्तु इसके लिए प्रेमचन्द को दोष नहीं दिया जा सकता। ये उनकी नहीं वरन् उस युग की सीमा-रेखाएँ थीं। 'रेणु' इनसे अनभिज्ञ नहीं हैं और किसानों का अर्थ-नीति का सुन्दर विवेचन इस उपन्यास में है। तहसीलदार का आदर्शवादी हृदय-परिवर्तन लेखक की गाँधीवाद (सर्वोदय) में सुदृढ़ आस्था का प्रतीक है। तहसीलदार स्वेच्छा से अपनी सारी भूमि किसानों में वितरित कर देता है। आन्दोलनों के भिन्न-भिन्न स्वरूप, नारे और सिद्धान्तों व क्रिया-कलापों का ग्रामीण संस्करण हमें एकदम यथार्थवादी दृष्टि प्रदान करता है। हिन्दी में अनेक यथार्थवादी आलोचकों ने 'मैला आँचल' पर सतही, आदर्शवादी, अस्पष्ट नैतिकतावादी सामान्य चरित्र-चित्रण युक्त तथा प्रतिक्रियावादी आदि अनेक आरोप लगाये हैं। कोई कहते हैं कि इसमें सेक्स को प्रधानता दी गई है और नारी को जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुष की भोग्या माना है।

'मैला आँचल' अबतक लिखे गये तथाकथित 'यथार्थवादी' उपन्यासों से अधिक यथार्थवादी है क्योंकि उसने जीवन के स्वस्थ दृष्टिकोण को अपनाया है। विशिष्ट पात्रों की अपेक्षा साधारण और जनप्रतिनिधियों को प्रमुखता दी है। दूषित काम-कुण्ठाओं और केवल क्रान्तिकारियों के व्यभिचार युक्त (?) अड्डों और पारिवारिक उत्तरदायित्वविहीन अनैतिक प्रेम-व्यापार को मान्यता प्रदान नहीं की है। उसने बालदेव-लक्ष्मी, कालीचरन-मंगला, डा० प्रशान्त-कमला, सहदेव मिसर-फुलिया और रामदास-रामपियरिया आदि के जोड़ों द्वारा आज के समाज के बनते-बिगड़ते सम्बन्धों को स्पष्ट किया है और आज के समाज की विकृतियों—स्त्री-पुरुष के सभी प्रकार के सम्बन्धों—को अभिव्यक्ति प्रदान की है। प्रश्न उठाये गये हैं और उठाकर छोड़ दिये हैं उनका कोई जबरदस्ती का हल नहीं दिया है। इस उपन्यास से केवल उन्हीं को निराशा हुई है जो किसी असामान्य व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की गाथा की आश बनाये बैठे थे। लेखक का उद्देश्य किसी 'होरी' का निर्माण नहीं है, उसे तो किसी मेरीगंज को, जैसा कि वह है, उसी रूप में अपने पाठकों के समक्ष उपस्थित करना है। उसका नायक व्यक्ति न होकर वह अंचल और मेरीगंज गाँव ही है। गाँव भी न एकदम अच्छा है और न एकदम बुरा। वह अच्छा भी है और बुरा भी।

वहाँ के आदमियों में अच्छाइयाँ और बुराइयाँ एकत्रित हैं, इस यथार्थ चित्रण में वर्ग-संघर्ष का सुन्दर चित्रण हुआ है। वर्ग-संघर्ष धीरे-धीरे ग्रामीणों में भी उभरने लगा है। तहसीलदार द्वारा भूमि के वितरण से गाँव की समस्या सुलझी नहीं है वरन् यह तो यू० पी० और बिहार की जमींदारी प्रथा का नष्ट होने का प्रतीक है—वास्तविक समस्या तो सामने उपस्थित है, जिसका कि सामना करना है।

जो लोग 'रेणु' पर यह आरोप लगाते हैं कि प्रेमचन्द ने जिस आदर्शवाद को व्यर्थ समझकर 'गोदान' में छोड़ दिया था, उसी को 'रेणु' ने स्वीकार किया है, उनसे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे 'मैला आँचल' को पुनः एकबार पढ़ें (भय तो यह है कि ये आलोचनाएँ भी सम्भवतः बिना पढ़े ही लिखी गई हैं।) और देखें कि लेखक कहाँ हल देता है। वह तो केवल समस्याओं को उनके यथार्थवादी स्वरूप में प्रस्तुत करना है। उसने समझ लिया है कि—

"गरीबी और जेहालत इस रोग के दो कीटाणु हैं......"

अतः वास्तविक प्रश्नों का हल निकालना है। गरीबी और जेहालत का कोई हल लेखक प्रस्तुत नहीं करता, उसकी आस्था है कि इस समाज-व्यवस्था को बदलो और समाजवादी समाज-व्यवस्था की शीतल छाया में ही ये सारे प्रश्न हल हो सकते हैं। तहसीलदार का अपनी भूमि वितरित कर देना, इस बात का प्रतीक है कि आज के युग में जनता का इतना प्रबल प्रभाव बढ़ रहा है कि तहसीलदार जैसे व्यक्ति भी अपने को बदले बिना नहीं रह पायेंगे। आचार्य विनोबा भावे के भूदान-ग्रामदान-आन्दोलन ने आज सारे भारत में करोड़ों तहसीलदारों को सामने उपस्थित कर दिया है—क्या अब भी यह केवल आदर्श है ? आश्चर्य है वे कैसे यथार्थवादी हैं जो इसे भी यथार्थ नहीं मानते।

'मैला आँचल' की भाषा पर जो आरोप किया गया है उसमें कुछ तथ्य है। यदि प्रयुक्त प्रान्तीय-शब्दावली का अर्थ उसी पृष्ठ के नीचे पाद-टिप्पणियों में दे दिया जाता तो उससे पाठकों को अधिक सुविधा होती। इस सीमा के साथ ही उसमें अनेक लोक संस्कृति के प्रतीक विश्वासों, कथाओं, गीतों और उत्सव-उपासना विधियों आदि का जो मार्मिक वर्णन है उससे हम इस उपन्यास को इस आँचल का यथार्थवादी, सरस तथा हृदयग्राही सांस्कृतिक-इतिहास कहें यो अत्युक्ति न होगी।

आंचलिक उपन्यास परम्परा की दूसरी महत्त्वपूर्ण कड़ी उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' है। इस उपन्यास में बम्बई के निकट की मछुओं की बस्ती का जीवन सजीव रूप में चित्रित है। इसमें मछुआरों की भाषा,

रीति, नीति, व्यवहार, आचार, विवाह, और उससे पूव और पश्चात् के सम्बन्धों आदि पर प्रकाश डाला गया है। इस उपन्यास की यथार्थवादी दृष्टि बनते और बिगड़ते हुए समाज-सम्बन्धों की कहानी है। इसकी नायिका रत्ना एक मछुआरे की कन्या है। इस समाज में पुरुष का स्थान गृहस्थ में स्त्री के पश्चात् आता है। स्त्री प्रमुख और पुरुष की शासिका होती है। वह केवल घर पर बैठकर चौके-चूल्हे का काम ही नहीं करती वरन् नावों और जालों के साथ समुद्र से मछली पकड़वाने में सहायता करती है, नौकर रखती है—पकड़ी हुई मछलियों को बाजार भेजने की व्यवस्था से लेकर बिक्री के धन का सदुपयोग तक उसी के उत्तरादायित्व के अंग हैं। आज के समाज की यह विडम्बना है कि निम्न वर्ग निम्न मध्यवर्गीय, निम्न मध्यवर्ग उच्च मध्य-वर्गीय, उच्च मध्यवर्गीय उच्चवर्गीय और उच्च वर्ग अति उच्चवर्गीय सीमाओं में छलांग लगाने को उत्सुक है। जब अपने इस पवित्र मिशन में वह असफल हो जाता है तो उसकी चेतना तड़प उठती है। फलस्वरूप या तो वह विद्रोही हो जाता है अथवा टूट जाता है—बिखर जाता है और अन्त में अपने को समेटने में असमर्थ होकर अपने को लापरवाही के साथ परिस्थितियों के सामने समर्पित कर देता है और बहने लगता है। उसे प्रतीत होता है, जैसे उसमें कोई शक्ति नहीं है—उसे कुछ करना नहीं है—ऐसे ही बहते चले जाना है। रत्ना एक अर्द्ध शिक्षित युवती है जो अपने अध्ययन काल में अनेक सपने देखती है। नये फैशन से भरी हुई सभ्य नगरी के समाज का प्रतिष्ठित अंग बनकर वैभव और विलास का भोग करना चाहती है, किन्तु यथार्थ की ठोकर लगती है और उसका वह काल्पनिक महल ढह जाता है। थोड़ी देर के लिए वह अपने को भूल जाती है और धीरे-धीरे ठोकर सहने योग्य बनाकर परिस्थि-तियों से गठबन्धन कर लेती है। वह अपनी वस्तुस्थिति को भुला नहीं पाती और सभ्य समाज उस पर कोई दया नहीं दिखाता।

यह केवल रत्ना की कहानी नहीं, वरन् आज लाखों रत्नाएँ बम्बई तथा संसार के अनेक अंचलों में पड़ी तड़प रही हैं और तथाकथित सभ्य समाज देखता, हँसता और प्रगति के दौर में आगे बढ़ता चला जाता है। यह उपन्यास यथार्थवादी शैली में लिखा गया है, जिसमें भाषा और मुहावरे तथा भाव-प्रकाशन शैली आदि भी उस अंचल की विशेषताओं से युक्त हैं। इस उपन्यास में समुद्र के प्रति मछुआरों का प्रेम और परस्पर के सम्बन्ध आदि का ऐसा सहज और प्रभावोत्पादक वर्णन हुआ है कि अनेक स्थलों पर नोबल पुरस्कार-विजेता अमर उपन्यासकार हेमिंग्वे की अमरकृति 'सागर और मनुष्य' की स्मृति ताजा हो जाती है। वर्णनों की विपूलता और यथार्थवादी दृष्टि चिर

स्मरणीय है। लेखक ने अपनी पूरी-पूरी संवेदना इस दलित और असभ्य समाज के स्त्री-पुरुषों को दी है।

'मैला आँचल' में जो दोष थे, वे इस उपन्यास के गुण बन गये हैं। 'मैला आँचल' में कोई विशिष्ट पात्र नहीं था। इस उपन्यास की नायिका रत्ना के चारों ओर ही सारा कथानक घूमता है; किन्तु यह वर्णन एकांगी न होकर समग्र जीवन को (अपनी सीमाओं सहित) साथ लेकर चला है। जो देहाती और शहरी-जीवन का कन्ट्रास्ट 'मैला आँचल' में अस्पष्ट रह गया है, वह यहाँ अपनी विकसित स्थिति में स्पष्ट हो गया है। बम्बई जैसे नगर में भी दो जीवन-स्तर कितने एक दूसरे से भिन्न और खाद तथा गुलाब के सम्बन्ध से युक्त हैं। आज की सभ्यता थोथी समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व का नारा देती है। उसका हमारे यथार्थ जीवन से दूर का रिश्ता नहीं रह गया है। मानव व्यक्तित्व के दो रूप हैं—एक बाहरी आकर्षण रूप और दूसरा भीतरी घृणित और जघन्य मूर्ति। हम अपने को सुन्दर रूप में दिखाने का सर्वत्र प्रयत्न करते रहते हैं—और वास्तविकता को छिपाने का। 'सागर लहरें और मनुष्य' में व्यक्तित्वों के बाहरी खोलों को उतार कर भीतर का वर्णन कराया गया है। आंचलिक उपन्यासों में इसे प्रकाश-स्तम्भ कहा जा सकता है।

अमृतलाल नागर ने 'सेठ बाँकेमल' तथा 'बूँद और समुद्र' नामक दो आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। 'सेठ बाँकेमल' हास्य प्रधान है, जिसमें आगरे की भाषा में वहीं के लहजे में जवानी के दिनों की मस्ती, जिन्दादिली और 'तरकँटी' की सुन्दर-सुन्दर गप्पें सुनने को मिलती हैं। भाषा और कथा-शिल्प दोनों ही विलक्षण हैं। सेठजी दुकान पर बैठकर चौबेजी की कहानियाँ उन्हीं के पुत्र को सुनाते हैं। इन कहानियों में साधारण बातचीत का मजा आता है। बातचीत की यथार्थता को निभाने के लिए बीच-बीच में वह ग्राहकों से भी बातें करते और सौदेबाजी करके दुकान का काम भी करते जाते हैं। जीवन और कला का यह एक ऐसा सुन्दर समन्वय है, जिसे किसी भी दृष्टि से अस्वस्थ प्रयोग नहीं कहा जा सकता। सारा कथानक सेठजी के कुछ घण्टों की देन है। इस शैली में पात्रों को उनके सम्पूर्ण परिवेश में उपस्थित करने के लिए कम से कम अवकाश होता है, किन्तु नागरजी के उपन्यास में यह कमी नहीं आने पाई है। इस उपन्यास के माध्यम से एक भूतगर्भा संस्कृति और जीवन-दर्शन कलम-बन्द किया गया है जो ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तु सिद्ध होगा।

नागरजी का दूसरा और प्रतिनिधि-उपन्यास 'बूँद और समुद्र' है। इस उपन्यास में लखनऊ के चौक मुहल्ले की विविधा-संस्कृति के कुछ संश्लिष्ट चित्र दिये गये हैं। यद्यपि कथानक-केन्द्र लखनऊ से हटकर मथुरा-वृन्दावन

तक यात्रा कर आता है, किन्तु उसको थोड़ा ही स्थान मिला है। जिस प्रकार बूँद में समुद्र के दर्शन हो जाते हैं, उसी प्रकार 'चौक' में सारे भारत की सभ्यता और संस्कृति सिमट कर सामने आ जाती है। इसमें भारतीय जीवन की विशाल चित्रपटी पर कुछ रेखाएँ उभारी गई हैं, जो सीमाओं के भीतर होते हुए भी असीम का परिचय देने में समर्थ सिद्ध हुई हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने इस उपन्यास को 'महान्' विशेषण से विभूषित किया है।

'बूँद और समुद्र' पुरानी समाज-व्यवस्था के बनते-बिगड़ते और बदलते हुए भारतीय परिवार का महाकाव्य है। इस परिवार की धुरी है नारी। कितनी तरह की देवियाँ हैं इस उपन्यास में—ताई, जिसे पति ने छोड़ दिया है, जादू-टोनों में विश्वास करने वाली, मुहल्ले भर के लड़कों और बड़े-बूढ़ों की भी कौतुक का केन्द्र, कृष्ण की अनन्य भक्त, हिंसा और मानव-प्रेम (अथवा जीवात्मा से प्रेम) का अद्‌भुत सम्मिश्रण; नन्दो, जो घर में ही कुटनी का काम करती है; अतृप्त प्रेम से पीड़ित 'बड़ी'; नये फैशन और नई शिक्षा में दीक्षित पत्नियाँ; दमन की शिकार हिस्टीरिया से पीड़ित युवतियाँ; पुराने चाल की निष्ठावान किन्तु रूढ़िवादी कल्याणी; मुहल्ले की गन्दगी में सवेरे की हवा जैसी स्वावलम्बिनी वनकन्या। कहीं लाले की घरवाली 'एटमबम की तरह बीच चौक में फूटकर भभूती के घर को हिरोशिमा' बना देती है, कहीं नन्दो 'रणक्षेत्र में आकर गाण्डीव' टंकारती है। सिनेमा जाती हुई देवियाँ किसका कोट किस फैशन का है, इस पर टीका-टिप्पणी करती हैं और 'बेशुमार हतभागिनें किसी सन् के चलन का कोट नहीं पहने थीं।' वनकन्या की माँ और ताई में सौत का रिश्ता चलता है। उसकी भावी 'पई' है, 'प्रकृति का एक मजाक; ऐसी औरत जाहिर में औरत लगकर भी असल में बेमानी होती है।' कहीं गर्भवती विधवा शरीर में आग लगाकर जल मरती है। एक जगह युवती की लाश को कुत्ते घसीटते दिखाई देते हैं। मन्दिर के अन्दर अच्छे खासे मर्द देवियों का अभिनय करते हैं। इन सबकी बोली-बानी अलग, सबकी चरित्रगत शैली अलग। इनके साथ पुरुषों का वर्ग अपनी विशिष्ट मर्दानी संस्कृति के साथ चित्रित किया गया है। पीपल के नीचे का चबूतरा, हुक्के, नीम की दातुनें, अखबार, गजक और मूँगफली बेचने वाले, मक्खन की तारीफ, कोने पर पाँच-पाँच रुपए रख दो और भाग न दबे। कुल्फी की तारीफ, गोल दरवाजे में खरीदो और रानी कटरे में जाकर खाओ, और तारीफ ये कि जरा भी न गले। तीतरों को चराता हुआ परसोतम, सेक्रेटेरियट के बाबू गुलाबचन्द, लखनऊ की खास गाली को उपनाम की तरह अपने वाक्यों में जड़ने वाला मुकन्दीमल, मुहल्ले से लेकर विश्व तक की समस्याओं पर वाद-विवाद, कथा बाँचते हुए पंडितजी, राजा, डाक्टर,

लेखक, चित्रकार, साधू मुण्डे—उपन्यास में रेखाचित्रों की ऐसी समृद्धि है जैसी प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के दस उपन्यासों में न मिलेगी।

रेखाचित्रों का सौन्दर्य इस उपन्यास का एक विशिष्ट आकर्षण है। इन रेखाचित्रों में भीतर और बाहर का सुन्दर समन्वय है, जिसमें अनेक सादृश्यों आदि के माध्यम से सूक्ष्म निरीक्षण, व्यापकता और सरसता उत्पन्न करने के सफल प्रयास किये गये हैं। देखिए—

'कटी फटी पतंगों, मकड़ी के जालों, चिड़ियों, गिलहरियों और पीपली के दानों से लदा, अनगिनत इंसानों के चंचल मन-समूह-सा हरहराता हुआ घना पीपल कई सदियों से मुहल्ले का साथी है।'

इस उपन्यास में प्रदेश के भिन्न-भिन्न जनपदों के आये हुए व्यक्तियों की बोली का वैभिन्य देखने ही योग्य है। जितने पात्र हैं उतनी ही प्रकार की भाषा और शैली है। पुरानी चाल की खड़ी बोली का उदाहरण, जिसमें लल्लूलाल की भाषा के दर्शन हो सकते हैं—

'जो जिसकी-जिसकी समझ में आउत है वही करत हैंगे। कल को हमरे शंकर एमे पास करके अपसर होयेंगे........'

ब्रजभाषा का पुटपाक जिसमें देदिया गया है उस लखनौआ खड़ी बोली का रूप दर्शनीय है—

'निगोड़ी सबकी-सब मेरी छाती पे ही मूँग दलने आमें हैंगी ....'

पुलिसमैन की अंग्रेजी युक्त लखनौआ—

'कोतवाली को वैरलैस कर दिया हुजूर! मिर्जाजी अटैण्ड कर रहे थे हुजूर, तौन उन्होंने मिसैज दिया कि अस्पताल की गाड़ी भिजवाते हैं हुजूर!'

मुंशी सदासुखलाल की पंडिताऊ भाषा आज भी लखनऊ की सोभा बढ़ा रही है। कथावाचक पंडित आज भी उसी शैली का अनुसरण करते हैं—

'सूतजी बोलेम् कि हे जिजमान सुनौ, एक समय जो है सो, नारदजी वैकुण्ठलोक के बीच में लक्ष्मीपति विस्नू भगवान् के पास जाय के कहत भएम् कि........'

इस उपन्यास में लखनऊ में गाये जाने वाले नारियों के अनेक गीत यथार्थवादी दृष्टिकोण के पोषक हैं। नागरजी ने इस उपन्यास द्वारा आंचलिक उपन्यासों की परम्परा को अधिक पुष्ट और सुदृढ़ कर दिया है।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप' देहाती समाज और समस्याओं को प्रस्तुत करने वाला एक आंचलिक उपन्यास है। इस उपन्यास में हमारी समस्याओं को उठाया गया है और हमारे ग्रामीण जीवन को मुखरित करके योजनाबद्ध चित्र सँजोये गये हैं।

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का 'दीया जला दिया बुझा' उपन्यास में राजस्थानी वातावरण तथा वहाँ के जागीरदारों का विलासमय जीवन का चित्र खींचा गया है। राजस्थानी लोक-जीवन की संस्कृति के अभिन्न अंगों (जैसे गीतों आदि का) सुन्दर अंकन किया गया है। इसी प्रकार उत्कल के आदिवासियों पर तथा आसाम के आदिवासियों पर इधर कई आंचलिक उपन्यास लिखे गये हैं। बलभद्र ठाकुर ने कुल्लूघाटी (कश्मीर) की ग्राम्य संस्कृति का सुन्दर चित्रण 'आदित्यनाथ' में किया है। इस उपन्यास में पिछले दिनों हिन्दू-मुसलमानों के द्वेष के परिणामों तथा क्रियाकलापों का कश्मीर की निरीह और सीधी-सच्ची जनता पर क्या प्रतिक्रिया हुई थी, इसका भी सुन्दर विवेचन है।

१८. कतिपय नवीन उपन्यास

(१) झूठा-सच

"सच को कल्पना से रंग कर उसी जनसमुदाय को सौंप रहा हूँ जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढ़ने का साहस नहीं छोड़ता।"

यह है 'झूठा-सच' के लेखक यशपाल का समर्पण जो उन्होंने पुस्तक के प्रारम्भ में लिखना आवश्यक माना है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि वह वर्ग विशेष के नाम पर समस्त जनता के लिए लिख रहे हैं और जो सबके लिए लिख रहे हैं स्वाभाविक है कि उसने समाज को—उसके ज्वलन्त प्रश्नों को (यह दूसरी बात है कि विशिष्ट पात्रों एवं परिस्थितियों के माध्यम से ही इन्हें साहित्यिक रूप दिया जा सकता है) उनके बृहद् परिवेश में प्रस्तुत किया होगा।

उपन्यास से सर्वप्रथम माँग यह होती है कि वह मनोरंजक (मनः प्रसादन में समर्थ) होना चाहिए। इस वृहद् उपन्यास को मैं आद्योपान्त अत्यन्त रुचि के साथ पढ़ गया, कहीं 'बोरियत' नहीं हुई—इसे मैं इसकी सफलता के लिए पर्याप्त मानता हूँ। बीच-बीच में अनेक बार भावसंकुल और उत्तेजित हो उठा; बलपूर्वक अपने को रोक कर पहले अन्त तक एक बार पढ़ लेना आवश्यक समझा। यह स्थिति उपन्यास की शक्ति का मानदण्ड हो सकती है। मुझे लगा है कि यशपालजी कला की कसौटी के लिए परम्परागत प्रगतिशील सिद्धान्तों को ही स्वीकार करते हैं, किन्तु उनकी इस कृति की सीमा इन्हें नहीं ठहराया जा सकता। मुख्यतः उन्होंने निरन्तर विकसित होती हुई भारतीय लोक चेतना के आयामों को अनेक विध समेटने का प्रयास किया है। इसमें वे सिद्धान्तों से ऊपर उठकर कला के प्रति एकनिष्ठ रहे हैं, इसीलिए 'वादी' समीक्षकों को उतना परितोष नहीं हो पाया है जिसकी अपेक्षा वे अपने सिद्धान्त को साहित्य में रूपायित होते देखने के लिए करते हैं। 'झूठा-सच' सामान्य हिन्दी पाठक के जितना निकट आया है, व्यावसायिक समीक्षक ने उसे उतना

नैकट्य प्रदान करना असमीचीन माना है। इस यथार्थ स्थिति को स्वीकार करके ही हमें आगे चलना चाहिए।

हिन्दी उपन्यास परम्परा में क्लासिकों की शृङ्खला की एक अभिनव कड़ी के रूप में 'झूठा-सच' का महत्त्व स्वीकार किया जायगा। हिन्दी में क्लासिक की श्रेणी में आने वाले उपन्यास बहुत ही कम हैं और उनमें से भी यदि सामाजिक यथार्थ को आधार मानकर चलने वालों को अलग कर लिया जाय, तब तो यह संख्या और भी नगण्य सिद्ध हो जाती है। प्रेमचन्दजी को सामाजिक यथार्थ का महान् कलाकार माना जाता है। उनके उपन्यासों की परम्परा, जो 'गोदान' के रूप में अन्तिम आहुति पाकर धन्य हो उठती है, 'झूठा-सच' के रूप में अपना स्वरूप निर्णय करने में समर्थ सिद्ध हुई है।

'झूठा-सच' अपने दो खण्डों में विभाजन से पूर्व तथा पश्चात् के समाज को नायक मानकर चला है। टॉल्सटॉय के 'युद्ध और शान्ति' में जिस प्रकार कोई नायक नहीं है, यही बात इस उपन्यास के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। भारतीय समाज ही इसका नायक है। इसके तारा, जयदेव, कनक, गिल, अनाथ, नैयर, सूद, सोमराज, रावत, इसाक, असद, केलादेई, लाल्लो, कर्त्तारो, सन्तकौर, पीतमदेई, जीवाँ, रामबाया, रामलुभाया, शीलो, रतन आदि पात्र लाख-लाख भारतीयों के प्रतीक हैं। इस उपन्यास के सभी पात्र जहाँ एक ओर अपनी विशेषताओं को लेकर व्यक्त हैं, वहाँ दूसरी ओर वर्गगत भावनाएँ भी उनमें अपने उच्चतम रूप में विकसित हैं और उनकी यही विशेषता उन्हें 'टाइप' बनाती है। ये टाइप सहज, परिस्थितियों के अनुकूल स्वाभाविक, सच्चे तथा मनोविज्ञान की कसौटी पर खरे उतरने वाले हैं। इन पात्रों के माध्यम से आज के समाज को चित्रित करने का—ऐतिहासिक यथार्थ को मूर्त्त करने का प्रयत्न किया गया है, जो सफल सिद्ध हुआ है। लाहौर के मध्यवित्त वर्गीय समाज का रोना-धोना, शादी-विवाह, संस्कार-व्यापार, नौकरी-बेरोजगारी, विश्वास-मान्यताएँ, व्यक्ति और परिवार, परिवार और परिवार, परिवार और समाज, नवीन और प्राचीन, प्राचीन और प्राचीन के वैविध्यपूर्ण रङ्गीन चित्र ऐसी यथार्थवादी पृष्ठभूमि के साथ अङ्कित हैं कि उनकी समग्रता तथा संघर्ष एक दूसरे के पूरक बन गये हैं। इन चित्रों में भरे गये रंग इतने चटख हैं कि इन्हें सबसे अलग करके देखा जा सकता है। वे पूर्व परिचित तथा जाने-पहचाने लगते हैं। अनेक 'कनकों' के मुकद्दमे अदालतों में देखे जा सकते हैं तथा दर्जनों 'मर्सियाँ' व्यक्तिगत और समाजगत असन्तोष वैषम्य के मिटाने के प्रयत्न में अपने को बाँधती चली जा रही हैं। 'सूदों' और 'पुरियों' के समाज में ब्याज के साथ षड्यन्त्रों की प्रधानता आज किसी से भी छिपी नहीं है।

अनेक 'गिल' तपस्वी बन कर जीवन गुजार रहे हैं। उन्हें कोई नहीं पूछता, और पूछे भी क्यों? समाज में क्रान्ति लाने वाले उनके साथी भी तो उन्हीं हथकण्डों को अपना रहे हैं, जिनका कि वे विरोध करते हैं। प्रेमचन्द जहाँ भारतीय कृषक को धुरी मानकर चलते थे और उनकी समस्याएँ उनके आस-पास चक्कर लगाती थीं, वहाँ यशपाल शहरी मध्य वर्ग को केन्द्र में रखना पसन्द करते हैं। वे उच्च वर्ग तक जाते हैं और उतर कर निम्न वर्ग की 'थैया' भी छूते हैं, किन्तु टिकाव न ऊपर है न नीचे, टिकाव बीच में ही है—क्योंकि वे स्वयं इसी वर्ग के हैं एवं जिस राजनीतिक विचारधारा से वे अनुप्राणित हैं, उसमें भी क्रान्ति का वाहक यही मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी माना गया है। उस वर्ग के विश्वास, मान्यताएँ, कायरता, दृढ़ता, उच्चवर्गोन्मुखता, निम्नवर्गोन्मुख घृणा आदि विभिन्न परिस्थितियों द्वारा साकार हो गई हैं। घटना-प्रधान कह-कर पात्रों को उथला और मनोवैज्ञानिक गहराई-विहीन मानने वालों को यह विचार करना चाहिए कि इन घटनाओं तथा उनके मूल में घटना से सम्बन्धित पात्रों की प्रतिक्रिया क्या मनोविज्ञानपूर्ण विवेचन के लिए गहरी सामग्री से ओतप्रोत नहीं है? कनक के एक ओर पुरी है और दूसरी ओर गिल, पुरी ने भी कनक और उर्मिला का द्वन्द्व झेला है। तारा द्वन्द्वों का पुञ्ज है, उसमें ज्वार-भाटे आकर स्वच्छ हो गये लगते हैं, जिनके विस्तृत विवेचन तथा परी-क्षण की आवश्यकता है।

चित्रण की यथार्थ शैली यशपाल की शक्ति बन कर चमक उठी है। वे विस्तारवादी पद्धति के प्रतिकूल हैं। दो-चार संवेदनपूर्ण तथ्यों के आधार पर ही बड़े से बड़े चित्र देने की सामर्थ्य उनमें है। तारा जिस घर में बेहोशी की दशा में बन्द कर दी गई, वहाँ का चित्रण अत्यन्त सजीव तथा यथार्थ है—

"दीवार के नीचे से जाती हुई मोरी के समीप पुराना होकर फट चुके और मुड़ गये बादामी रङ्ग के टीन के बक्स का निचला भाग पड़ा था। उससे कुछ दूर उस बक्स का ढक्कन था। कनस्तर काटकर बनाये हुए, टूटे-फूटे बिना ढक्कन के दो डिब्बे भी पड़े थे। मिट्टी के बर्तनों, अमृतवानों, फटी हुई चटाइयों और रस्सी के टुकड़े जहाँ-तहाँ बिखरे थे, एक ओर पड़े आयने के दो टुकड़े धुँधली चमक दे रहे थे। फर्श की ईंटों की साँध में जगह-जगह गेहूँ, चावल या दालों के दाने दिखाई देने लगे। दो कोठरियों के किवाड़ भी गायब थे। सब ओर लूट और ध्वंस के चिह्न थे।"[1]

कथानक की कसावट पर चोटें की गई हैं तथा यह माना गया है कि

---

१. 'झूठा-सच' : वतन और देश, पृष्ठ ४९६।

इतने वृहदाकार ग्रन्थ में कुछ न कुछ शिथिलता स्वाभाविक है। अन्य मत हैं कि गिल और कनक की शादी करा दी जाती। पुरी का पतन अन्य प्रकार से दिखाया जा सकता था---तारा की उन्नति विशेष स्थिति है, उसे सामान्य कहना अन्याय है—तस्वीर का एक ही पहलू दिखाया है—दूसरे को छिपा दिया है, आदि-आदि।

कथाकार के सामने क्या स्वीकारें, क्या छोड़ें—यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहता है। वह कितने ही विशाल को ले, कितना ही अधिक संवेदनशील (suggestive) चुने, फिर भी चुने गये से असंख्य गुना शेष बचेगा, बचता रहा है—यही कला की अमरता को अक्षुण्ण रखता है—उसे कोई अस्वीकार कैसे कर सकता है? अपनी सीमाओं के भीतर यह चयन इतना पूर्ण और सार-गर्भित है कि प्रथम वाचन में हम आश्चर्यचकित हो उठते हैं। धीरे-धीरे जब कथा का जादू कम होता है तो समस्याएँ उभरती हैं और हमारा पीछा उसकी महानता से प्रयत्न करने पर भी नहीं छूट पाता है। यहाँ कथानक एक धारा है जो आगे बढ़ती हुई भी पीछे एक इतिहास बनाती आती है। इसका फाँट चाहे बहुत चौड़ा न हो, किन्तु गहराई बहुत है। हम जितने नीचे बैठते हैं ऊपर की गर्मी उतनी ही कम होती जाती है तथा शीतलता भरी सोद्देश्य सरसता हृदय में प्रवेश करती जाती है। सौन्दर्य, नीति और सत्य में साहित्य का आधार किसे माना जाय? यह प्रश्न उठाकर 'झूठा-सच' में इनका अन्वेषण किया गया है। इस निबन्ध का विषय यह नहीं है, किन्तु ये तीनों तत्त्व गहराई के साथ इनसे जुड़े हैं—इसे स्वीकार करने में सम्भवतः ही किसी को सङ्कोच होगा, क्योंकि इन सिक्कों का प्रचलित मूल्य न चुकाकर गहरा अर्थ भी लिया जाने लगा है। 'आनन्द' को साहित्य की कसौटी मानने वाले तो इसे पढ़कर रस-सिक्त हो उठने के कारण उच्चतम साहित्य की कोटि में रखेंगे ही—सामाजिक यथार्थ तथा ध्येयवादिता को आगे लेकर चलने वालों का तीर्थस्थान भी 'झूठा-सच' ही सिद्ध होता है। लेखक ध्येयवादी सोद्देश्यता को प्रमुखता देकर व्यंग्य को अस्वीकार करने का साहस नहीं जुटा पाता और कभी-कभी तो वह इस क्षेत्र में इतना अग्रसर हो उठता है कि सन्तुलन की सीमाओं का अतिक्रमण कर अतिशयोक्ति (exaggeration) को भी स्वीकार लेता है। यशपाल ने प्रथम को तो स्वीकार किया है (वह भी एक सीमा में), किन्तु द्वितीय को सदैव दुत्कारा गया है, यही कारण है कि इतिहास के लाखों पृष्ठ जिसे अस्पष्ट घोषित करेंगे, उसे ये दो खण्ड सजीव बनाये रखेंगे।

स्वाभाविकता एवं यथार्थ की रक्षा का सर्वोत्कृष्ट माध्यम इस गद्य महाकाव्य की भाषा तथा अभिव्यञ्जन शैली है। लाहौर की बाजारी, घरू,

विद्यालयी, निम्नवर्गीय, मध्यवर्गीय, उच्चवर्गीय, शासकी सभी प्रकार की बोलियों के नमूने स्थान-स्थान पर मोतियों की तरह जड़े हुए जगमगा रहे हैं। लोकगीतों में लोकसंस्कृति तथा जनभाषा का जो मधुर रूप दिखाई देता है, वह आज तो भारतवासियों के लिए अलभ्य ही कहा जा सकता है। बड़े नजदीक से देखकर तथा सहानुभूति के साथ अनुभव कर इसे न केवल मूर्तिमत्ता प्रदान की गई है, वरन् अमरत्व का वरदान भी दे दिया गया है। कथोपकथनों की सजीवता, पात्रानुकूलता तथा देश-कालानुमोदन की सहज स्वीकृति इतनी विपुल है कि किन्हीं भी दो पंक्तियों को इनका उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है।

'घ्यौ लेलो, घर का असली घ्यौ।' और भाव है उसका चार रुपये सेर।

इन चन्द शब्दों में ही सारा देश-काल कितनी गहरी व्यञ्जना के साथ पिरो दिया गया है। लाहौर के भोला पांधे की गली इतनी सजीव हो गई है कि इसे चित्रित किया जा सकता है, इसका मॉडल बनाया जा सकता है, (और यदि आयोजक चाहें) यहाँ पुनः बसाया जा सकता है। हाँ, यह कठिनाई होगी कि विभाजन में काम आये स्त्री-पुरुषों को पुनः वहाँ बसाना असम्भव होगा।

चित्रित समस्याओं में आर्थिक विषमता, नारी समस्या, पुरुष और नारी के विभिन्न रिश्ते, सामाजिक वर्गवाद, उभरती हुई नई शक्तियाँ (इसके साथ ही ह्रासशील परम्पराएँ भी) तथा मध्यवर्ग के अभाव अधिक महत्त्व पा गये हैं। हुआ यह सब इतने सहज रूप से है कि कलात्मकता अक्षुण्ण बनी रह सकी है—और यही इस उपन्यास की शक्तिमत्ता है। जिस प्रकार 'युद्ध और शान्ति' की मुख्य समस्य वेश्यावृत्ति है, उसी तरह इस उपन्यास ने आर्थिक परिप्रेक्ष्य में पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों पर बहुमुखी प्रकाश डाला है। इस उपन्यास का यह इंगित कि हम कहाँ खड़े हैं, स्पष्ट रूप से यह प्रदर्शित करने की क्षमता रखता है कि हमें कहाँ पहुँच कर किस प्रकार खड़ा होना है। 'सोया हुआ जल' तथा 'खाली कुर्सी की आत्मा' के 'समर्थक भी इसकी गौरव-गरिमा को अस्वीकार नहीं कर पाये हैं, यह दूसरी बात है कि वे इसमें अनास्था के भी दर्शन कर लें तथा धुरीहीनता की प्रेरणा भी उन्हें इसके पात्रों से मिल सके। (यद्यपि ये दोनों गुण [?] इसमें तनिक भी नहीं हैं।)

यह उपन्यास कुछ प्रश्न भी उठाता है, जिनका चिन्तन-मनन होना अनिवार्य है—

(१) परिस्थितियों की प्रमुखता व्यक्तियों से ऊपर दिखाना तो एक दृष्टिकोण विशेष माना जा सकता है, किन्तु परिस्थिति से समझौता कर लेने वाला कम्यूनिस्ट 'गिल' 'यथातथ्यवाद' से कुछ भी ऊपर उठ सका है। सामा-

जिक यथार्थवाद, जो भविष्य पर दृष्टि रख कर चलता है, विकासशील तत्त्वों को सामने लाता है, इस चरित्र द्वारा पोषित हुआ है ।

(२) पात्र विकासशील हैं यह तो स्तुत्य है, किन्तु उनमें व्याप्त असङ्गतियाँ मनोविज्ञान, औचित्य तथा आर्थिक संघर्षों के अनिवार्य प्रतिफलन के विपरीत पड़ती हैं, इसका औचित्य कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ?

(३) कभी-कभी यथार्थ कल्पना से भी विचित्र सिद्ध होता है । उत्तरदायित्व भी लेखक ने सच को कल्पना से रँगने का उठाया है; उसकी निष्ठा सच में है, किन्तु सत्य एकाङ्गी नहीं है । देश और समाज यदि प्रयत्नपूर्वक भी एक दिशा की ओर उन्मुख रहें, तब भी शेष दिशाएँ अछूती नहीं रह पाती हैं—यशपालजी की आस्था उतनी विस्तृत कहाँ बन पाई है जो इतनी फैल जाती । यथार्थ का रेला उन्हें एक ही ओर धकेलता चला गया है । इस हड़बड़ी में वे दूसरे किनारे पर उभरती हुई पौध को सूर्य की चकाचौंध में देख नहीं पाये हैं । यदि थोड़ा और ठहर कर तटस्थता के प्रति अधिक आग्रह के साथ देखने का प्रयत्न होता तो अनुभूतियों में अधिक गहराई आ जाना स्वाभाविक होता. तभी 'नटाशा' की प्रतिमूर्ति खड़ी हो पाती ।

(४) किन्तु जो कुछ समक्ष है, वह न हेय है और न नगण्य । हिन्दी उस पर गर्वित है । वह प्रेरक सिद्ध होगा, उन असंख्यों का जो भविष्य के गर्भ में निहित हैं ।

(२) चारु चन्द्रलेख

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'चारु चन्द्रलेख' एक गद्य महाकाव्य है । इस महाकाव्य का कथानक मध्यकालीन भारतीय समाज है । यद्यपि पाठक उपन्यास को पढ़कर यह कह सकते हैं कि उसमें चन्द्रलेखा और सातवाहन की कथा ही प्रमुख स्थान घेर कर चलती है और उन्हें नायिका तथा नायक के स्थान पर रखा जा सकता है, किन्तु यह ग्रन्थ इतनी सीमित संवेदना तथा संक्षिप्त दृष्टि लेकर नहीं चलता कि केवल सामान्य उपन्यासों की कसौटी सम्बन्धी दृष्टि के भीतर समा कर रह जाय । एक ओर जहाँ इसमें सातवाहन और चन्द्रलेखा की कथा है, वहाँ दूसरी ओर हठयोग, कुण्डलिनी योग, तांत्रिक योगाचार तथा नाथ और सिद्धों की साधना पद्धतियों की पृष्ठभूमि से उभरते हुए भक्ति तत्त्वों का इतिहाससम्मत तथा मनोवैज्ञानिक विकास इस क्रम से दिखाया गया है कि वह अनेक अर्थों का वाचक बन गया है । इस सम्बन्ध में ग्रन्थ के अन्त की टिप्पणी अत्यन्त व्यञ्जक है, जिसमें लिखा गया है—

"यह एक विचित्र बात है कि हर तान्त्रिक साधना का मनोवैज्ञानिक

अर्थ इस कथा में खोजा जा सकता है। जिन बातों का समाधान कथा में नहीं मिलता, उनकी व्याख्या आधुनिक ज्ञान के आलोक में हो जाती है। इल्मिशखाँ की समाधि के पास पाये गये अग्निगर्भ मिट्टी के ढेलों का रहस्य उस क्षेत्र में पाये गये केरोसिन और पैट्रोलियम की जानकारी से समाधेय हो सकता है। सीदी मौला के रसेश्वरी मत को आधुनिक युग के इलेक्ट्रॅन और प्रोटॅन के तोड़ने के प्रयत्नों से ठीक-ठीक समझा जा सकता है।"[1]

भक्ति के उदय के सम्बन्ध में जिन लोगों की यह धारणा है कि वह दक्षिण भारत की देन है तथा उस पर बङ्गाल के सहजिया सम्प्रदाय का ही व्यापक प्रभाव है, उन्हें इस उपन्यास द्वारा एक सर्वथा नवीन दृष्टि प्राप्त होगी। इस उपन्यास में यह दिखाने की सफल चेष्टा की गई है कि तन्त्र और योग की साधनाओं के असफल होने पर तथा देश की परिस्थितियों में मूल-भूत परिवर्तन के परिणामस्वरूप भक्ति का प्रामुख्य एक अनिवार्य उपलब्धि थी। इस सम्बन्ध में भिन्न मत हो सकते हैं और हैं भी, किन्तु अभी विचार के लिए यथेष्ट स्थान है और अब आशा यह हो चली है कि भारतीय भाषाओं में उपलब्ध साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इस विषय पर नवीन प्रकाश पड़ेगा।

यहाँ उपन्यासकार का दृष्टिकोण ऐतिहासिक यथार्थ के प्रति जागरूक रहकर उसे रागात्मकता प्रदान करना रहा है। ऐतिहासिक उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उसमें कुछ घटनाएँ अथवा नाम आदि कल्पित होते हैं तथा हो सकते हैं, शेष सब कुछ यथार्थ होता है। यह बात यहाँ भी लागू होती है। सातवाहन और चन्द्रलेखा ऐतिहासिक व्यक्तित्व हो सकते हैं, किन्तु इतने से ही उपन्यास की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता नहीं सिद्ध हो जाती। इसकी सबसे बड़ी सफलता यह है कि हमें मध्ययुगीन समस्त उत्तर-भारत मूर्तिमान होता हुआ दिखाई देता है। राजा, नवाब, सामन्त आदि शासक वर्ग; महाकवि चन्दबरदाई, जल्हण तथा जगनिक जैसे राज्याश्रय प्राप्त जनकवि; विद्याधर भट्ट, धीर शर्मा, बोधा प्रधान जैसे राज्याधिकारी तथा कूटनीतिज्ञ; नागनाथ, सीदीमौला, अक्षोभ्य भैरव, अमोघवज्र, भिसिलपाद आदि फक्कड़ मस्तमौला सन्त तथा तान्त्रिक योगी; नाटी माता, भगवती विष्णुप्रिया जैसी भक्त नारियाँ; मैना जैसी वीर, साहसी तथा निष्काम भाव से अपने साकार उपास्य देव के हित अपने को सर्वतोभावेन समर्पित करके निरन्तर कर्मसंलग्ना युवती; बघेला जैसा वीर सैनिक जो मृत्यु को हथेली पर रख कर जूझना

---

१. 'चारु चन्द्रलेख' का उपसंहार, पृ० ४३८।

अपना गौरव माने, एवं करनट जैसी जाति के पुरुष और स्त्रियों का संगठित होकर शत्रु का सामना करना और उसके भंभल जैसे सेवक, यह सब कुछ हमें 'चारु चन्द्रलेख' में मिल जाता है। सामाजिक यथार्थ के चित्रण में उपन्यासकार ने अपनी अद्‌भुत शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखा दिया है। उपन्यास इस मध्ययुगीन समाज की अनेक समस्याओं का संश्लिष्ट चित्र देता है। पुरुष और नारी के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए उस समय की ह्रासशील वृत्ति स्पष्ट की गई है—

"यह देश रसातल को जाने वाला है। जहाँ मिट्टी का दाम अधिक आँका जा रहा है, छिलके का मोल बढ़ गया है। पुरुष नारी को माँस पिंड समझ कर भुक्कड़ गिद्ध की तरह उस पर टूट रहा है। नारी भय से व्याकुल होकर अपना धर्म भूल गई है।"[1]

"जगन्नाथपुरी के मन्दिर में बहुत देवदासियाँ थीं। प्रायः किसी मनौती के अनुसार गृहस्थ भक्त अपनी बालिका या युवती कन्याओं को सजा-बनाकर देवताओं को समर्पित कर जाते थे। ये ही देवदासियाँ कहलाती थीं। इनका काम नाच-गान के द्वारा देवताओं की सेवा करना था।"[2]

मध्यकाल में चलने वाली अनेक प्रकार की हठयोग की तान्त्रिक साधनाओं तथा उस वातावरण का सजीव चित्र दिया गया है, जो उस समय सर्वाधिक प्रभावशाली तथा समस्त भारतीय जीवन को एक दिशा विशेष की ओर उन्मुख करने वाला तत्त्व था। उस काल में सामान्य व्यक्ति भी सिद्धि और अनुष्ठान के चक्कर में पड़ा रहता था। सामन्तों और राजाओं के सारे कार्यक्रम इस प्रकार की क्रियाओं से सम्बन्धित रहते थे। राजा और उनको राजनीति ने इन अनुष्ठानों तथा तान्त्रिक क्रियाओं का आश्रय लेकर चलने में अधिक सफलता प्राप्त करने का विश्वास किया था। इन अनुष्ठानों का वर्णन अत्यन्त व्यञ्जक तथा यथार्थवादी शैली में किया गया है। निम्न पंक्तियों का एक उदाहरण उपयुक्त सिद्ध होगा —

"मन्दिर में वृद्ध पुजारी मन्त्र जप रहे थे। उनके सामने एक छोटे तिकौने कुण्ड में अग्नि जल रही थी, जिस पर कढ़ाईनुमा पात्र में दूध रखा हुआ था। दूसरी ओर मन्दिर की सेविका घुटने टेक कर एक दृष्टि से कड़ाह के दूध को देख रही थी। पुजारी ने बुरी तरह अङ्ग मरोड़ा और एक बार भयावनी आवाज में ललकारने का-सा अभिनय किया। दूध उफनने लगा। वह

---

१. वही, पृ० २७८।
२. वही, पृ० २७९।

आग में भी गिरा। एक दुर्गन्धि का झोंका दरार छेद कर बाहर आया जिससे दोनों बालक कुछ विचलित हुए......सेविका को आवेश आया। शुरू-शुरू में तो वह अपने सारे अङ्गों को मरोड़ती-भर रही। पर एकाएक पुजारी की कड़ाके की ललकार से वह एकदम उत्क्षिप्त सी हो उठी। वह खड़ी हो गई। फिर उसका अद्भुत ताण्डव शुरू हुआ। नाचते-नाचते वह विवस्त्र हो गई। परन्तु इसमें मानो संज्ञा थी ही नहीं। पुजारी ने आग के पास मुँह रख कर ऊपर की ओर फूँक मारी और उससे जलती लपटों की लम्बी धारा ऊपर की ओर उठी। सेविका और भी उन्मत्त भाव से नाचने लगी। अब तक वह चुप थी। अब उसने विचित्र स्वर से चिल्लाना शुरू किया।"[1]

इस गद्य महाकाव्य की मुख्य कथा चन्द्रलेखा को लेकर चली है। चन्द्रलेखा के सम्बन्ध में लेखक को जो मुख्य कथा 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में मिली है और जिसके आधार पर उसने इसके सूक्ष्म तन्तुओं का ताना-बाना बुना है, उस कथा का मुख्य संवेद्य है बत्तीस लक्षण वाली रानी चन्द्रलेखा द्वारा पार्श्वनाथ के सामने रस-मर्दन कराना, जिससे कोटि वेधी रस बन सके। इससे सिद्ध है कि इस उपन्यास के द्वारा लेखक तत्कालीन परिवेश और उसमें व्याप्त यौगिक तथा यान्त्रिक सिद्धियों के योगदान को दिखाना चाहता है। इस काल की दशा का जो रूप सारे उपन्यास में स्पष्ट करने की जो चेष्टा की गई है, यदि उसे हम सूत्र रूप में जानना चाहते हैं तो लेखक की प्रारम्भिक पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं। उपन्यास के प्रथम अध्याय में ही वे लिखते हैं—

"भारतवर्ष के उत्तरी भाग पर पूर्ण रूप से तुर्कों का राज्य स्थापित हो गया था। दक्षिण में गोपाद्रि दुर्ग तक वे बढ़ आये थे और और भी आगे बढ़कर वे पैर जमाने की कोशिश में थे। परन्तु पूर्वी प्रदेश अब भी उनके आक्रमणों से बचा हुआ था। मेरे गुप्तचरों ने पूर्वी प्रदेश के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ दी थीं, वे अधिक उत्साह-वर्द्धक नहीं थीं। लोगों को बाहुबल की अपेक्षा तन्त्र-मन्त्र पर अधिक विश्वास था। नालन्दा के बौद्धविहार में अनेक प्रकार की वाममार्गी साधनाओं का अबाध प्रवेश हो गया था। मैंने सुना था कि वहाँ ऐसे-ऐसे सिद्ध विद्यमान हैं जो आसमान में उड़ सकते हैं, खड़ाऊँ पहन कर नदी पार कर सकते हैं, पेड़ की डाल पर त्रैलोक्य का भ्रमण कर सकते हैं, आकाश से आग की वर्षा कर सकते हैं और हुँकार मात्र से समस्त जगत में प्रलय की बाढ़ ला सकते हैं। मैं ठीक नहीं कह सकता कि ये बातें कहाँ तक सही हैं, परन्तु सोमेश्वर तीर्थ के कंथड़ी नाथ और उनके गुरुभाई सिद्ध घोड़ा चूली से

---

१. वही, पृ० ३२१-२२।

इस सम्बन्ध में बात करके मैंने जो कुछ समझा था, उससे मेरे मन में इन सिद्धियों के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा नहीं हुई थी। मैं ऐसा अनुभव करता था कि आपत्काल में इन सिद्धों से बहुत अधिक आशा नहीं की जा सकती। परन्तु मेरा मन इसलिए उद्विग्न हो गया था कि यदि कभी आक्रमण हुआ तो शस्त्र बल की अपेक्षा सिद्धों का मन्त्र बल उनकी अधिक सहायता करेगा। सर्वत्र एक प्रकार की शिथिलता और लापरवाही का बोलबाला था। इसके दुष्परिणाम की सम्भावना से मैं बहुत व्याकुल था।"[1]

इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक यथार्थ को बल देने वाले उपर्युक्त सभी तत्त्व हैं। इन तत्त्वों के आधार पर ही हम यह कह सकते हैं कि इस उपन्यास में भारतीय चेतना तथा प्राचीन संस्कृति का एक दस्तावेज सुरक्षित है। मध्ययुग में भारतवर्ष के सामन्त विदेशी आक्रमणकर्त्ताओं के सामने पराजित होते गये थे और उस पराजय के जहाँ अनेक अन्य कारण थे, वहाँ एक कारण यह भी था कि विदेशी तत्कालीन युद्ध विज्ञान आदि की नवीनतम शोधों से परिचित थे और हमारे देशवासी इस दिशा में परम्परा प्राप्त सीमाओं से आबद्ध होकर ही सन्तुष्ट हो रहे थे। इस सम्बन्ध में बघेला को सामने रखकर डॉ० द्विवेदी ने सारी समस्या पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं—

"बेचारा बघेला! उसका दावा था कि कभी उसके पूर्वज इस देश के चक्रवर्ती राजा थे। उसका विश्वास था कि वह दिन दूर नहीं जब बघेलों का गौरव-सूर्य फिर उदित होगा। वह अपनी प्रत्येक गति से प्रत्येक व्यक्ति को बता देना चाहता था कि वह सामान्य जनों से विशिष्ट है, पर विधाता सदैव उसके प्रतिकूल रहे हैं। उसका बाप कभी पृथ्वीराज की सेना में ऊँचे पद पर था। अलहना को अपनी माता के गर्भ में छोड़कर उसने वीरगति पाई। माता के मुँह से वह अपने पिता के पराक्रम और वंश के गौरव की कथा सुनकर बड़ा हुआ, पर हर लड़ाई में वीरगति पानेवाला बघेला कुल दरिद्रता की लड़ाई में न जीत सका, न वीरगति ही पा सका। माता ने बड़े कष्ट से उसका पालन किया। उसने ही उसे मेरी सेवा में लगाया। मेरे स्वीकार कर लेने पर दर्प के साथ वह बेटे को उपदेश देती गई—'अन्नदाता की सेवा में रत्तीभर भी चूका तो माँ के दूध को लजाएगा। बघेला वंश का नाम हँसाएगा।' अलहना माँ के आदेश का पालन करना जानता है। पर कठिनाई यह है कि विधाता

---

१. वही, पृ० ११-१२।

इस काम में भी उसके विरुद्ध है। उसे बुद्धि नाम की वस्तु मिली ही नहीं है।"[1]

डॉ० द्विवेदी ने इस उपन्यास के माध्यम से साधना पद्धतियों पर अपने विचार प्रकट किये हैं और सीदी मौला तथा अक्षयोमभैरव आदि के माध्यम से उन्होंने इतिहासक्रम तथा भारतीय सामन्त और उनकी नीति के ऊपर अपना मत दिया है। ये सारे मतामत आज की देन हैं। सारे समाज तथा उसके बीच उभरने वाले तत्त्वों आदि की प्रगतिशीलता का विश्लेषण आज की दृष्टि से ही किया गया है और पौराणिकता का आश्रय लेकर उस काल में उसे एक भविष्यवाणी का रूप दिया गया है।

उपन्यास की अन्य शिल्पगत विशेषताओं पर विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि उस दृष्टि से भी यह कृति अपना श्रेष्ठ स्थान रखती है। पात्रों का रेखांकन तथा स्थिति-वर्णन अत्यन्त यथार्थवादी शैली पर है। एक उदाहरण पर्याप्त है---

"कोमल मुखमण्डल पर अटूट निश्चय की आभा थी, पहनावे में एक नटों का सा आजानु विलम्बित चोलों और सिर पर चक्करदार पगड़ी। छाती ऊँची और चौड़ी थी, जिस पर कस के लौह कवच बंधा हुआ था। कमर में छोटी सी तलवार और पैरों में सामान्य चमरौधा जूता। ऐसा जान पड़ता था जैसे वीर दर्प का अवतार संकोच से वलयित हो।"[2]

इस विवेचन के पश्चात् थोड़ी-सी चर्चा उन विचारकों के तर्कों पर भी करनी चाहिए जिन्होंने इस प्रसंग में अपनी निर्भीक मान्यताएँ घोषित की हैं। इन घोषणाओं में प्रचार का स्वर प्रमुख तथा सत्य तक पहुँचने की वृत्ति कम है। सर्वप्रथम हम इस आक्षेप को लेते हैं कि इसमें औपन्यासिकता है अथवा नहीं ? यदि है, तो वह किस सीमा तक है ? इस प्रसंग में एक पाठक की प्रतिक्रिया है---

"चारु चन्द्रलेख की उपन्यास की दृष्टि से सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसमें जो संसार कल्पित किया गया है, वह यथार्थ किंवा विश्वसनीय नहीं है।.......बारबार मन में प्रश्न उठता है कि क्या विवेच्य कथा पुस्तक में वर्णित अतिलौकिक घटनाएँ सम्भावना की कोटि में आ सकती हैं ?"[3]

इससे मिलता-जुलता दृष्टिकोण एक अन्य समीक्षक ने 'माध्यम' में

१. वही, पृ० १७१।
२. वही, पृ० १३५-३६।
३. 'आलोचना', अङ्क ३२, पृ० १३७।

प्रकट किया है। उन्हें भी लगा है कि इसमें 'कच्चा माल' ही प्रमुख है। वह संवेद्य नहीं बन पाया है। 'चारु चन्द्रलेख' के सन्दर्भ में इस प्रकार के अभिमतों को देखकर दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—प्रथम तो यह कि आज हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में प्रथम श्रेणी के समीक्षक लम्बी चुप्पी साधे बैठे हैं, इससे न केवल यह कि समीक्षा के नाम पर अनर्गल प्रलाप प्रारम्भ हो गया है, वरन् श्रेष्ठ कलाकृतियों से अग्रसारित होते हुए कलामूल्य भी पिछड़े हैं। प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकृति मान-मूल्यों को कुछ न कुछ नवीन आयाम देती है, किन्तु उन्हें समझना तथा उनकी श्रेष्ठता को प्रतिपादित करना किसी द्वितीय कोटि के पाठक अथवा समीक्षक के बूते से बाहर की बात होती है। उसमें नवोन्मेषिनी कल्पना तथा मौलिक सूझ के अभाव का परिणाम यह होता है कि वह उसे परम्परागत मानदण्डों पर बार-बार घिसता है, किन्तु उनके अद्यतन न होने के कारण वांछित परिणाम न पाकर खीझ उठता है और अपनी असफलता का आक्रोश कलाकृति पर उतारता है। ('चारु चन्द्रलेख' के प्रसंग में भी यह हुआ है।) दूसरी बात यह है कि काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में जो नवीन मान्यताएँ इस कृति के आधार पर आने वाली होती हैं, वे नहीं आ पाती हैं। इस बात को आज की कविता के प्रसंग में समझें तो स्थिति स्पष्ट हो जायगी। आज की कविता की आलोचना अतिवादी केन्द्रों से हो रही है। या तो उसके अन्धभक्त येनकेन-प्रकारेण उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित कर रहे हैं अथवा दूसरे सिरे पर बैठे मान्य समीक्षक उसे एकान्त अग्राह्य मानकर अस्वीकार करते रहे हैं। जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने छायावादी काव्य-धारा के बीच उतरकर धारा में अवगाहन किया था और उस क्रिया-प्रतिक्रिया में समीक्षा-शास्त्र तथा छाया-वादी काव्य दोनों को लाभ हुआ था, कुछ वैसा ही आज भी वांछित है। यह समस्या आज सभी साहित्यिक विधाओं के सन्दर्भ में चिंत्य है। 'चारु चन्द्रलेख' ने ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में सर्वथा मौलिक और नवीन प्रयोग करके औपन्यासिक कला तथा ऐतिहासिक यथार्थ को नई दिशा दी है—एक सर्वथा विस्मृत इतिहास-खण्ड को उसकी सम्पूर्ण खामियों तथा विशेषताओं के साथ नवीन भाव बोधों द्वारा संवेद्य बनाया है। वह अविवेचित ही नहीं रह गया है, वरन् उसके सम्बन्ध में भ्रान्ति-प्रसार का खण्डन तक नहीं हो पाया है।

जिस 'कच्चे माल' या अविश्वसनीय सामग्री की चर्चा की गई है, वहाँ यह आपत्ति उठाई गई है कि यह सब असम्भाव्य है और चूँकि इसके लेखक ने इन्हें अपने यथार्थ अनुभव के आधार पर नहीं लिखा है, अतः इनका इस उपन्यास में 'प्रवेश वर्जित' होना चाहिए था। मैं इन मान्य पाठकों से पूछना चाहता हूँ कि क्या यथार्थ और विश्वसनीय वही होता है जो हम स्वयं भोग

चुके होते हैं ? प्रत्यक्ष अनुभव से इतर क्या कुछ भी कला और साहित्य के क्षेत्र में नहीं आ सकता ? आशा है, ये पाठक यदि शास्त्रीय दृष्टिकोण को मानते हैं तो अरस्तू के अभिनत से, यदि प्रगतिशील हैं तो मार्क्स-ऐंगिल्स एवं गोर्की की मान्यताओं से और यदि इससे भी ऊपर हैं तो सामान्य व्यवहारवाद से अपना समाधान करना अनुचित नहीं समझेंगे।

अरस्तू का मत है कि कला में सम्भव (possible) से सम्भाव्य (probable) की श्रेष्ठता स्वयंसिद्ध है।[1] गोर्की ने यथार्थवाद के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि यथार्थवादी साहित्य केवल भूतकाल एवं वर्तमान को ही मूर्तिमान नहीं करता, वरन् भविष्य की आकांक्षा को भी अपने में समेटकर चलता है। उनके शब्द हैं—"वर्तमान में भूतकाल की छवि अंकित करना अथवा आलोचना करना ही उसका (यथार्थवाद का) काम नहीं है वरन् सबसे पहले वर्तमान की क्रान्तिकारी सफलताओं को समेटने में सहायता करना और भविष्य के महान् समाजवादी उद्देश्य पर प्रकाश डालना उसका मुख्य काम है।"[2] इसके अनुसार जो कुछ अननुभूत है वह भी यथार्थ की सीमाओं में समा जाता है। भूतकालिक एवं भविष्यकालीन प्रत्यक्ष अनुभव की कोटि में नहीं आ सकता है। इससे हम यह सोच सकते हैं कि सर वाल्टर स्कॉट ने जिस ऐतिहासिक यथार्थ को अपने उपन्यासों में रूपायित किया है, वह भी प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर न होने के कारण अग्राह्य तथा हेय है। जरा इस आपत्ति को देखिए—

"आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन घटनाओं की कल्पना साम्प्रदायिक पुस्तकों के आधार पर की है, प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर नहीं।"[3]

क्या यह आरोप किसी भी ऐतिहासिक उपन्यास पर लागू नहीं किया जा सकता है ? सम्भवतः हिन्दी में अब ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जायेंगे जो भूतकालिक घटनाओं को लेकर चलें, ऐतिहासिक यथार्थ को मूर्तिमान करें, किन्तु वे लेखक के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित हों—यह कैसी विचित्र माँग हिन्दी पाठक के नाम पर की गई है। आश्चर्य होता है !

इस उपन्यास में वर्णित युग भारतीय इतिहास का अत्यन्त विचित्रताओं,

---

1. "It is not the poets province to relate such things as have actually happened—such as are possible........." ('Poetics', p. 20.)
2. 'Literature and Life'.
३. 'आलोचना', अङ्क ३२, पृ० १३७।

परस्पर विरोधी मान्यताओं एवं जीवन दृष्टियों से भरा युग था। यदि इस उपन्यास ने उन अन्तर्विरोधों, कल्पनाप्रसूत साधना पद्धतियों, ह्रासशील समाज दशा तथा उससे उत्पन्न विचित्र मनोदशाओं वाले पात्रों को उनकी समस्त विचित्रताओं तथा मानवीय संवेदनाओं के साथ चित्रित कर दिया तो क्या गुनाह किया ? ये साधना पद्धतियाँ किसी न किसी रूप में आज भी हमारे बीच जीवित हैं; जिन्हें अवकाश और अवसर है, वे देख सकते हैं। सीदी मौला, नाटी माता और बघेला जैसे पात्र आज भी दुर्लभ नहीं हैं। मध्यकालीन भारतीय समाज का प्रामाणिक आलेख इस उपन्यास ने हिन्दी को दिया है; यदि इन पाठक समीक्षकों ने इस ओर दृष्टिपात किया होता तो उनकी दोष-दर्शन की वृत्ति कुछ परिमार्जित हो जाती।

इन लेखों में अन्य आपत्तियाँ भी उठाई गई हैं। कहा गया है कि "इस कथा पुस्तक में अतिलौकिक घटनाओं या कार्यों की इतनी भरमार है कि इसे पढ़ते वक्त लगता है, जैसे हम किसी तिलस्मी या मायावी संसार में विचरण कर रहे हैं। चन्द्रलेखा का आकाश-मार्ग से उड़ना, कोटि वेधी रस सिद्ध करते हुए उसका गुरु गोरखनाथ और भगवती त्रिपुर भैरवी का संवाद सुनना, त्रिपुर भैरवी के छिन्न मस्ता रूप का वर्णन, सीदी मौला के अद्भुत अनुभव तथा उसका भगवान बुद्ध के साक्षात् दर्शन करना, अशोक मल्ल के यहाँ राजा सातवाहन का तारादेवी के दर्शन करना आदि अतिलौकिक घटनाएँ—इस प्रकार की घटनाओं से कथा भरी हुई है—तनिक भी विश्वसनीय नहीं है।"[1] आश्चर्य है कि इस प्रतिक्रिया से पूर्व उपन्यास के प्रारम्भिक पृष्ठ पर अंकित इन पंक्तियों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है—

"लोगों को बाहुबल की अपेक्षा तन्त्र-मन्त्र पर अधिक विश्वास था। नालन्दा के बौद्ध विहार में अनेक प्रकार की वाम-मार्गी साधनाओं का अबाध प्रवेश हो गया था। मैंने सुना था कि वहाँ ऐसे-ऐसे सिद्ध विद्यमान हैं जो आकाश में उड़ सकते हैं, खड़ाऊँ पहन कर नदी पार कर सकते हैं, पेड़ की डाल पर त्रैलोक्य का भ्रमण कर सकते हैं, आकाश में आग की वर्षा कर सकते हैं, और हुंकार मात्र से समस्त जगत् में प्रलय की बाढ़ ला सकते हैं। मैं ठीक नहीं कह सकता कि ये बातें कहाँ तक सत्य हैं।........साधारण जनता और राजा के सैनिकों तक में यह विश्वास घर कर गया है कि यदि कभी आक्रमण

---

१. 'आलोचना', अङ्क ३२, पृ० १३७।

हुआ तो शस्त्र बल की अपेक्षा सिद्धों का मन्त्र बल उनकी अधिक सहायता करेगा।"[१]

इस पृष्ठभूमि में लिखा गया यह उपन्यास इन घटनाओं को यदि चित्रित करता है तो उन्हें इसी दृष्टि से स्वीकार करना चाहिए। हम आज भी देख सकते हैं कि 'हिप्नोटिज्म' द्वारा तथा 'हैल्यूशीनेशन' की दशा में असाधारण अनुभव आते हैं, किन्तु उन्हें मिथ्या कैसे कहा जा सकता है?

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में आपत्ति करते हुए कहा गया है कि कोई पात्र प्रभावोत्पादक नहीं है। सातवाहन को निष्क्रिय, चिन्तनमूढ़ तथा संकल्प-रहित मान कर यह पूछा गया है कि उससे हमें क्या सन्देश मिलता है? सन्देश ग्रहण करना पाठकों पर निर्भर होता है। कथानायक वस्तु, पात्र, परिवेश आदि द्वारा एक युग को प्रस्तुत करता है, उसकी सम्पूर्णता में—और यहाँ भी यही किया गया है। उस युग में जो जैसा था, वह दिखा दिया, अब आपको प्रेरणा नहीं देता तो आपकी ग्रहणशक्ति कुण्ठित है—ऐसा मानना होगा और इसके लिए आपको प्रयास करना चाहिए। इस युग का राजा, उसके मन्त्री, सेना के वीर सिपाही आदि कैसे होते थे, यह दिखाया गया है, प्रेरणा अपनी मान्यता के अनुसार उनसे पाठक लेंगे और लेते हैं। ऊपर उपन्यास के प्रारम्भिक पृष्ठ की जो पंक्तियाँ उद्धृत हैं, उनसे लेखक का दृष्टिकोण समझ लेने पर सातवाहन जैसे पात्रों की रूप-रचना का उद्देश्य आसानी से समझा जा सकता है। उस काल के शासकों का एक प्रतिनिधि, किन्तु व्यक्तिगत विशेषताओं से युक्त पात्र है सातवाहन, जिसे उसके परिवेश में ही समझा जाना चाहिए। पतनोन्मुख सामन्तवादी समाज का एक अंग उसे माना जाना चाहिए। सामन्तवादी समाज की विशेषता वह दृष्टि है जो चारों ओर से आकर राजा पर टिक जाती है। सारा समाज उसके इर्द-गिर्द घूमता है, किन्तु विडम्बना यह है कि वह दृष्टिकेन्द्र भ्रमित और उद्देश्यच्युत है, फलस्वरूप समाज-व्यवस्था पतनोन्मुखी है। यदि इतना भी समझ लें तो अपर्याप्त नहीं है।

एक बात और, कि इन पाठक-समीक्षकों ने एकांगी दृष्टि रखी है। किसी ने भी यह नहीं स्वीकार किया है कि लेखक केवल धार्मिक वातावरण, साधना-पद्धतियां, विदेशी आक्रमणों तथा राजा-रानियों की कौतुकपूर्ण लीलाओं तक ही अपने को सीमित करके रुक नहीं गया है, उसने आज के अनुकूल अधिक व्यापक तथा समग्र दृष्टिकोण की व्यावहारिकता प्रदर्शित की है। समाज में चलने वाले अनेक सामान्य, नगण्य तथा उपेक्षित विवरणों का उल्लेख करके

---

२. 'चारु चन्द्रलेख', पृ० ११-१२।

यह सिद्ध किया है कि घटनाचक्र के अंकन का उद्देश्य तत्कालीन लोक-चेतना का रूपायन है। सामान्य प्रशासन, न्याय, जनअभिरुचि तथा पुरुष-नारी सम्बन्धों पर प्रकाश डालने वाली कतिपय पंक्तियाँ एक घटना का माध्यम लेकर कितनी सशक्त शैली में अपने को प्रस्तुत करती हैं, यह दर्शनीय है—

"कोई तुर्क सेनापति भद्रकाली के रूप पर रीझ गया और उसने बड़ी क्रूरता के साथ अक्षोभ्य को पिटवाया। अक्षोभ्य को कसकर बाँध दिया गया और उनकी आँखों के सामने भद्रकाली का अपहरण किया गया। वह रोती-चीखती चली गई। अक्षोभ्य असहाय भाव से ताकते रह गये। कई दिन तक किसी का साहस नहीं हुआ कि वह अक्षोभ्य का बन्धन खोले।"[1]

तत्कालीन समाज-व्यवस्था, अर्थ-सम्बन्ध, व्यक्ति और व्यक्ति तथा व्यक्ति एवं समाज के बीच चलने वाले अनेक प्रकार के संघर्ष और सहकार की यह जीवन-गाथा अपनी सीमाओं के भीतर हमें औपन्यासिक आनन्द देती हुई भारतीय इतिहास की परम्परा को समझने को विज्ञानुमोदित दृष्टिकोण प्रदान करती है।

(३) शहर में घूमता आईना

आज उपन्यास लेखक की दृष्टि पाठक को सामने रखकर चलती है। अश्क पर भी यह मान्यता लागू है। उन्होंने उपन्यास के समर्पण में इसे स्वीकार किया है—

"जो लोग सब कुछ लेकर पैदा हुए हैं, अथवा कुछ भी नहीं ले सकते, उनके लिए इस उपन्यास में बहुत कुछ नहीं है। यह केवल बीच के लोगों के लिए है, (जिनमें कि लेखक अपने आपको भी मानता है।) और उसने पाया है कि अधिकांश पाठक उसी कोटि में आते हैं।"[2]

इन पंक्तियों से दो बातें सामने आती हैं। पहली बात तो यह कि मध्य-वर्गीय लेखक ने अपने वर्ग की अनुभूतियों का वर्णन अपने ही वर्ग के पाठकों के लिए किया है और दूसरी यह कि यथार्थवादी होने के साथ ही साथ यह सोद्देश्य रचना है। किन्तु यह दूसरी विशेषता ही इस उपन्यास की कमजोरी भी बन गई है। लेखक ने दावा तो यह किया है कि अच्छी कलाकृति सीधे-सीधे नहीं सिखाती (अर्थात् यह अच्छी कलाकृति है, इसमें सीख परोक्ष है और कथा ही प्रमुख है) जो ठीक भी है, किन्तु यह बात इस उपन्यास के

---

१. 'चारु चन्द्रलेख', पृ० ३७६-७७।
२. 'शहर में घूमता आईना' का समर्पण।

प्रसंग में अधिक संगत नहीं है। उद्देश्य परोक्ष न रहकर प्रत्यक्ष आ आकर पाठकों के सामने अड़ता रहा है। उसने अनेक बार काशी की तंग गलियों में अड़े साँड़ों के समान नवल-कथा का प्रवाह अवरुद्ध किया है। सम्भवतः उपन्यासकार को विश्वास नहीं है अपने पाठकों पर; इसीलिए उसे बारबार अपनी बात खुलकर कहने को मजबूर होना पड़ा है। सम्भवतः इसके मूल में एक अन्तर्विरोध आर्थिक-सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक स्थितियों का संघर्ष है। लेखक दिखाना तो यह चाहता रहा है कि समाज के भीतर और बाहर चलने वाले अर्थ-सम्बन्धारित चेतना प्रवाहों को विभिन्न स्थितियों तथा पात्रों की सीमाओं में इस उपन्यास द्वारा देखा जा सकता है, किन्तु उन्हें सजीवता प्रदान करने के लिए जिस व्यक्तिनिष्ठा तथा वैयक्तिक विशेषताओं की गहरी सूझ की आवश्यकता होती है, उसका काम यौन कुण्ठाओं, विकृत अहं, हीन ग्रन्थियों तथा असाधारण मनोदशाओं वाले पात्रों के चित्रण से लिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आर्थिक-सामाजिक तत्त्व निष्क्रिय और आरोपित बन गये हैं तथा व्यक्ति-चेतना उनसे असम्बन्धित बनकर मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों का परिणाम सिद्ध हो गई है। सम्भवतः उपन्यासकार को स्वयं भी बीच-बीच में इसका अहसास होता रहा है और वह अपने घोषित उद्देश्य का औचित्य सिद्ध करने के लिए ही प्रयत्नपूर्वक बारबार सामने आकर जो चेष्टाएँ करता है, उन्होंने इस उपन्यास की शक्ति कम की है।

परिवेश को सामाजिकता की पृष्ठभूमि तो दी गई है, किन्तु यह विशेषता केवल आरोपित है, वर्णित है, सप्रयास है और वायवी है। पात्रों की रूप-रचना में इसका जो योग होना चाहिए, नहीं है। चेतन वह आईना है, जिसके द्वारा हमें जालन्धर का प्रतिबिम्ब दिखाया गया है। यह प्रतिबिम्ब ही उपन्यास का मुख्य धरातल है, किन्तु धरातल का महत्त्व आईने की सापेक्षता में है। आईना चेतन की मनोदशा के रंग से रंगा हुआ तथा घूमने वाला है। जो दृश्य सामने आते गये हैं वे चाहे यथार्थवादी हों, अर्थ सम्बन्धों की विषमता और वर्ग संघर्ष के परिणाम हों, सामाजिक विकृतियों के उभार पर टिके हों अथवा शुद्ध फोटोग्राफिक प्रतीत होते हों, किन्तु उन सबको देखने से पहले यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि आईना हीनता तथा काम-ग्रन्थियों से ग्रथित एक ऐसा पात्र है जो इन दृश्यों को एक असाधारण मनोदशा के क्षणों में ग्रहण करता जा रहा है। जो कुछ उसे ग्रहणशील तथा संवेदनीय लगता है, वह वहीं टिकता है, अन्यत्र नहीं। परिणाम वही होता

है जो पहले कहा गया, कि परिवेश की प्रधानता न रहकर आईने की मनोवैज्ञानिकता ही प्रमुख बन जाती है। चित्र की वस्तुनिष्ठता का महत्त्व न होकर यहाँ तो आईने की विशेषता ही मुख्य है। यह भी कोई बुराई न होती यदि आईने की यह मनोवैज्ञानिकता नैष्ठिक अनुभूति से युक्त रही होती। चेतन की वेदना (नीला के प्रसंग में) और हीनता ग्रन्थि (कैरियर निर्माण में अमीचन्द आदि की तुलना में) दोनों ही उसे पलायनवादी बनाती हैं। वह आज का 'मध्य वर्गीय शुतुरमुर्ग' बनकर जीता है, जबकि पाठक की आकांक्षा उसे कम से कम 'जटायु' के रूप में देखने की होती है, जिसका आश्वासन उपन्यास तथा उपन्यासकार दोनों ने दिया है।

चेतन, जो इस आईने का प्रतीक है दोहरा, प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता हैं। दोनों बिम्ब एक-दूसरे से घुलमिल कर एक रूप धारण करने लगते हैं, किन्तु उनकी व्यंजना गहरी न होने के कारण अभीष्ट सिद्धि में समर्थ नहीं बन पाते। इतना होने पर भी स्थान-स्थान पर कुछ चित्र अत्यन्त सारवान तथा अपनी मार्मिकता में उभरे हैं। 'बद्दा' के रूप में हमें चेतन की असफलता और असफलता को छिपाकर अपने को सन्तुष्ट कर लेने की वृत्ति ही नहीं दिखाई देती है वरन् समाज का एक वृहद् देश 'बद्दे' में अपना प्रतिनिधित्व पा जाने के कारण उसके चरित्र पर हँसता हुआ भी उससे सहानुभूति रखने को मजबूर होता है। आज सभी कहीं न कहीं 'बद्दे' है। यदि 'बद्दा' जैसे चरित्रों को समझें तो कहना पड़ता है कि आज के युग को इन्हीं पात्रों से माध्यम से उसकी सापेक्षिक समग्रता में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह चित्र यद्यपि यथार्थवादी है तथा विशेष परिस्थितियों वाले विशेष पात्र को समुपस्थित करता है किन्तु चित्र एकांगिता की सीमा पर स्थित है। चित्र का बाह्य रूप ही सामने आता है, उसका आन्तरिक ऊहापोह अदृश्य रहता है। इस उपन्यास में कोई भी Positive पात्र नहीं है। 'अनन्त' की प्रशंसा डॉ० बच्चनसिंह ने इसलिए की है कि वह व्यंग्य कर सकता है, तथा समाज के पाखण्ड की पोल खोल देता है किन्तु वह भी निषेधात्मक दृष्टिकोण की सीमा में आबद्ध है। उसमें भी हमें यथार्थ को जीते समय किसी उच्च आदर्श की आकांक्षा से उत्पन्न प्रतिक्रिया के दर्शन नहीं होते हैं। यथार्थवाद में केवल वर्तमान का अंकन नहीं होता। वर्तमान क्षण अपने भूत क्षण की अगली कड़ी है जो उसकी स्थिति को निर्धारित करता है तथा वर्तमान के गर्भ में ही भविष्य के क्षण का बीज निहित है जो आगे चलकर पल्लवित होगा। अतः वर्तमान का अंकन कभी भी केवल वर्तमान न होकर भूत और भविष्य भी होता है। उपन्यासकार को इसका ध्यान रखकर चलना होता है। खेद है

इस उपन्यास के पात्रों का अंकन यह आभास नहीं दे पाता है। यथार्थ का व्यंग्यात्मक अंकन इस उपन्यास की विशेषता मानी जा सकती है। 'अनन्त' ही व्यंग्यात्मक शैली-प्रयोग द्वारा पात्र और स्थितियों की असंगतियों को दिग्दर्शित नहीं कराता वरन् उपन्यासकार भी जब पाठकों के सामने आकर मुहल्लों, गलियों, घरों और उनके निवासियों का चित्र देता है तो समाज-व्यवस्था पर व्यंग्य करता चलता है। निम्न पंक्तियाँ इसे सिद्ध कर सकती हैं—

"गली खोसलियाँ के बाद बायीं ओर को एक मकान था, जिसमें दो परिवार रहते थे। एक विधवा थी, जिसके पाँच लड़के थे। चूँकि विधवा बड़ी लड़ाकी थी, इसलिए मुहल्ले वाले उसे 'गीदड़ी' और उसके बच्चों को 'गीदड़ी के बच्चे' कहते थे। दूसरी विधवा सधवा थी, बहुत बड़े घर की थी, पुनर्विवाह के बाद इस मुहल्ले में आ गई थी; पढ़ी लिखी थी; गला बड़ा सुरीला पाया था; काला रंग था, इसलिए 'कोयल' कहलाती थी।"

इस भूगोल को फोटोग्राफिक मात्र नहीं कहा जा सकता। इसमें समाजदशा, व्यक्तियों की मान्यताएँ एवं प्रतिक्रियाएँ तथा कल के बनने वाले समाज के तत्त्वों की ओर स्पष्ट इंगित हैं, किन्तु व्यंजना उतनी तीव्र तथा मार्मिक नहीं है जो इस चित्रण को गोर्की की 'माँ' की कोटि को पहुँचा दे।

१९६३ का भारतवर्ष (इसी साल यह उपन्यास प्रकाशित हुआ है) अपने निकट अतीत से बहुत बदल गया है और समकालीन विश्व के यथेष्ट निकट आया है। अपने निकट अतीत (स्वातन्त्र्य-आन्दोलन काल) के गौरव को ही उसने खोया होता, उस काल का त्याग, बलिदान, उत्साह, देशभक्ति, चरित्र-निष्ठा, समाज-सेवा आदि की भावनाएँ ही त्यागी होतीं तो विशेष हानि नहीं थी, किन्तु आज की सर्वाधिक हानि यह है कि हमने पाश्चात्य (विशेषतः अमेरिकी) जीवन की हीनताओं तथा त्याज्य दुर्बलताओं का अन्धानुकरण प्रारम्भ कर दिया है। इससे जो दुर्बलता आई है उससे न केवल इतना कि हमारे हाथों से बदबू आने लगी है वरन् हमें बदबू का अहसास भी नहीं होता है। हम जिस विपन्नता में फँसे हैं, वह कोई बहुत निराशाजनक नहीं है। (उससे यदि हम सही प्रेरणा लें तो उसको कल्याणकारी तत्त्व के रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं।) निराशाजनक तो यह है कि हमें अपनी यह स्थिति अश्रेयष्कर नहीं प्रतीत होती है। आज की नयी कविता, नई कहानी, नया उपन्यास और इनकी पिछलग्गू समीक्षा (इसे वे नई समीक्षा कहते हैं) इस दृष्टिकोण की गरिमा का स्तुतिगान भर हैं। इस मनोदशा को हम बद्दे के चरित्र में रूपायित होते देखते हैं। बद्दे की कमजोरी यह है कि जब चेतन उसे 'बधाई' देता है तो वह उसमें छिपे व्यंग्य को पहचानना नहीं चाहता।

वह अपने में भी जीवित है और निरन्तर प्रयासशील है कि दूसरे भी उसी 'खोल' में समाते चले जायें। बद्दा के समान चेतन भी मिथ्या प्रतिष्ठा को ओढ़े हुए हैं, इसीलिए अनन्त के समान उसका पर्दाफाश करने का साहस उसमें नहीं है। बद्दे के समान चेतन भी प्रतिद्वन्द्विता पूर्ण समाज के ताने बाने में उलझा हुआ है। वह किसी भी प्रकार प्रतिद्वन्द्विता में टिका रहकर सफल होने के प्रयास में मिथ्या पद्धतियाँ अपनाता चला जाता है। विशिष्ट मध्य-वर्गीय शिक्षित के समान चेतन संवेदनशील बनना चाहता है और कुछ समीक्षकों को ऐसा होने का धोखा भी दे देता है, किन्तु वह केवल लेना जानता है, देने के नाम पर दर्शन देने में भी उसे संकोच है। नीला को शगुन देने से भी कतराता है। 'शेखर' के समान वह क्लीव तो है किन्तु बौद्धिक नहीं। समाज की परम्पराओं को तोड़ने की बात उसके मस्तिष्क में आती है अथवा बौद्धिक बनने के लिए उसका चेतन मस्तिष्क उसे ऐसा सोचने को मजबूर करता है किन्तु कायरता उसे निष्क्रिय बनाती है। सामाजिक प्रतिष्ठा का मोह ही उसे संचालित रखता है। पत्नी के प्रति, नीला के प्रति, परिवार के साथ सभी जगह उसकी सक्रियता (जो अत्यन्त सीमित है) इसी मोह का परिणाम कही जा सकती है। चेतन मध्यवर्ग, जालन्धर, पंजाब, भारत तथा एक विचित्र स्थिति वाले आज के विश्व का आईना है जो देख और दिखा रहा है क्योंकि इसके बिना रह नहीं सकता है। यदि उसके सामने यह मजबूरी न होती तो वह निश्चित ही औंधा मुँह करके अपने में सिमटा पड़ा होता। 'रामदित्ता' के साथ मिलाकर देखें तो प्रश्न अधिक सुलझे रूप में हमारे सामने आ जाता है। बद्दे के साथ-साथ रामदित्ता भी चेतन की अतृप्त यौन कुण्ठाओं तथा बौद्धिक दृष्टि से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की प्रतियोगात्मक भाव-नाओं का प्रतीक है। इनके माध्यम से हम चेतन के इन रूपों का दर्शन पाते हैं। आज का चेतन इस चेतन के समान यौन और अर्थ की विकृतियों का शिकार है। उसकी मुख्य समस्या अपने से संघर्ष करने की है। एक ओर उसका अहं है और दूसरी ओर उसकी प्राकृतिक माँगें हैं। प्राकृतिक माँगों को वह झुठलाने का प्रयास करता चला जाता है, किन्तु उसका वैयक्तिक अहं इतना विस्तृत नहीं है कि वह इस विष को पचा सके और इसका कारण यह है कि उसे अपने अहं को सामाजिक अहं के साथ जोड़ने में सफलता नहीं मिल रही है। उसकी वृत्ति समस्याओं के वाह्य रूप से परिचित होकर रह जाने की है। वह अपने मित्र के रूप में उन पर हँस सकता है (यद्यपि यह भी है उसके

लिए बहुत कठिन), किन्तु उनके भीतर के सत्य तक पहुँचने की जिज्ञासा उसमें नहीं है।

पागलों और विपन्नों की अनेक कथाएँ एक-दूसरे से जोड़कर प्रस्तुत करने का जो प्रयास इस उपन्यास में हुआ है, वह सिद्ध करता है कि उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक यथार्थ को समाजवादी यथार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण ही नहीं मानता है वरन् इलाचन्द्र जोशी के समान सामाजिकता का आधार भी अतृप्त यौन भावना को स्वीकार करता है। इस प्रसंग में उपन्यासकार की एक टिप्पणी प्रस्तुत करना अनुचित न होगा—

"इस अभावग्रस्त मुहल्ले में जहाँ अशिक्षा, असंस्कृति, भूख और प्यास का राज्य था; जहाँ कई घरों में उमर भर के भूखे पियासे कुँवारे पड़े थे; अनाचारी, जुआरी, व्यभिचारी और पागल न हों तो और क्या हों? क्यों बीमारियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी यहाँ घर न करें और नसलों को खोखली न बनाती चली जायँ? कई बार जब कोई कुँवारा काफी उमर गुजर जाने पर शादी करता था तो वह पहले ही यौन व्याधियों का शिकार हो चुका होता और कई बार जब किसी युवा रँड़ुवे की दुबारा शादी न होती तो वह बाद में उन रोगों का ग्रास बन जाता या विक्षिप्त होकर गली-गली मारा-मारा फिरता।"[1]

जगह-जगह उपन्यासकार ने यह उभारने का प्रयास किया है कि मध्यवर्गीय व्यक्तित्व यौन तृप्ति तथा महत्वपूर्ण बनने की आकांक्षा से परिचालित रहता है। उसकी समग्र क्रियाओं की संचालिका शक्ति उसके अन्तर्मन की यही वृत्तियाँ हैं, फलस्वरूप पात्र-योजना एवं घटना-संयोजन इसी बात को सामने रखकर हुए हैं। आगे बढ़ने वाले व्यक्ति चाहे असफल हकीम दीनानाथ हों, अथवा सदैव फेल हो जाने वाला बद्दा, सबकी असफलता का दायित्व उनके अपने भीतर ही दिखाया गया है, जैसे समाज में अथ से इति तक न्याय, समान अवसर आदि का ही बोलबाला है और शोषण तथा सामाजिक विसंगतियाँ उन्हें उद्देश्य-भ्रष्ट नहीं करती हैं—ऐसा सिद्ध किया गया लगता है। आजादी से पहले महात्मा गाँधी की धारणा थी कि बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त किये हम सच्चे अर्थ में स्वराज्य की स्थापना नहीं कर सकते हैं, इसलिए राजनीतिक संघर्ष ही हमारे सामने प्रमुख प्रश्न है। उसी प्रकार आज का समाजशास्त्री यदि आँख खोलकर सामाजिक दशा का अध्ययन करे और सोचे कि समाज-परिवर्तन की दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा मूल

---

१. 'शहर में घूमता आईना', पृष्ठ ७३।

प्रश्न क्या है, तो वह इसी निर्णय पर पहुँचेगा कि जब तक देश में आर्थिक शोषण और सामाजिक अन्याय है, तब तक हम उस लोकतांत्रिक समाजवाद के घोषित उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते हैं जो हमारे देश के सर्वोत्तम विचारकों तक का आकर्षण केन्द्र बना हुआ है। इस सामाजिक अन्याय और शोषण को ही हम व्यक्ति और समाज की समस्त बुराइयों तथा कठिनाइयों के मूल स्रोत के रूप में देखते हैं। अश्कजी सम्भवत: इन बातों से तो असहमत नहीं हैं, किन्तु अपने उपन्यास की रूप-रचना में इस दृष्टिकोण को रखकर नहीं चल पाये हैं। उनका चेतन अपनी साली को खोकर एक विशेष मनोदशा में सारी घटनाओं को देखता है—यह विचार ही मूलतः व्यक्तिवादी है—सामाजिक समस्याओं को व्यक्तिवाद के भीतर से देखने का प्रयास है। सारे पात्रों की रूप-रचना में दो बातें समान रूप से देखी जा सकती हैं—प्रथम तो यह कि सभी पात्रों की संचालिका शक्ति उनके अपने भीतर है, वे अपने को समझने के लिए ही प्रयत्नशील हैं। दूसरी यह कि उनके समक्ष कोई सामाजिक प्रश्न अपनी सम्पूर्ण भयंकरता में नहीं उभरता है। जो छुटपुट सामाजिक समस्याएँ उभरी भी हैं तो वे व्यक्तित्व की असंगतियाँ दिखाने भर को; न कि सामाजिक असंगतियों को उनके सम्पूर्ण परिवेशात्मक यथार्थ में प्रस्तुत करने के लिए। फलस्वरूप किसी सामाजिक आदर्श की कल्पना तथा उसके लिए पात्रों का संघर्ष आदि बातें भी उपस्थित नहीं होती हैं।

इस उपन्यास की व्यंग्यात्मक शैली प्रत्यन्त प्रभावशाली कही जा सकती है। भाषा, पात्र-योजना (यथेष्ट सीमा तक), विवरण, स्थिति विश्लेषण, कथोपकथन, वातावरण अंकन, घटना संयोजन आदि तत्त्वों में इस व्यंग्य शक्ति को खोजा जा सकता है। इन व्यंग्य चित्रों में से कतिपय उदाहरण निम्न अवतरणों में हैं—

"चेतन ने देखा, चिराग रंगरेज और मोघड़ पटफेरा खेल रहे थे—याने उस समय खेलते हुए झगड़ रहे थे—और शेष उनके गिर्द दायरा बनाये बैठे अथवा खड़े थे। उन्हीं में उसने ज्योतिषी दौलतराम को अपनी लम्बी चोटी में गाँठ दिये नंगे शरीर पर रामनामी ओढ़े और पाँवों में खड़ाऊँ पहने बैठे देखा.........चन्दा की बड़ी-बड़ी आँखें मुँदी थीं, रूखे बाल मस्तक पर बिखरे थे, होठों पर सूखी पपड़ियाँ जमी थीं, गोलगाल गोथने गाल बन्नों से मुरझाए थे और होठों के बाएँ कोने पर हलकी सी लार जमी थी.........उसकी आँखों में आँगन की नाली पर अपनी पतली गोरी बाँह बढ़ाए हुए नीला आ जाती है, जिसकी कलाई पर लगी हुई जोंकों ने उसका रक्त चूँस लिया है—पहले से पतली-दुबली किंचित पीली.......कुएँ के पास ही चौधरियों

का दौसा (जगदीश) बड़ी मूर्खता से मुँह चयारे आते मिल गया........ चेतन के सामने शिमले के स्कैण्डलप्वाइंट पर अमीचन्द से भेट का दृश्य घूम गया, जब उसके व्यवहार से लगा था कि रिजल्ट निकलने से पहले ही वह डिप्टी हो गया है........रंडी का पूत, सौदागर का घोड़ा खाएगा बहुत चलेगा थोड़ा.......इन आठ वर्षों में उसके (हकीम दीनानाथ के) पाँच बच्चे हो चुके थे और न केवल उसका पहलवानों का सा शरीर दुबला हो गया था, बल्कि उसकी बड़ी-बड़ी मूँछें भी छँटते-छँटते मक्खी ऐसी रह गई थीं। अनन्त कहा करता था कि उसके घर एक बच्चा और हुआ तो उसकी मूँछें सफाचट हो जायँगी और फिर तो कटाने के लिए सिर्फ कान ही रह जाएँगे........दीनानाथ के पिता ठल्लूराम और चाचा दालचन्द बाका-यदा अखाड़े जाते थे। उनके नामों से जिस ढीलेढालेपन का आभास मिलता था, उसे कम से कम शारीरिक रूप से उन्होंने दूर कर दिया था। मँझोला कद, गोरा गठा बदन, बड़ी-बड़ी आँखें और नीबू टिकाऊ मूँछें—हाँ मस्तिष्क की बात दूसरी है, पर सुनारों से बुद्धिजीवियों के से मस्तिष्क की अपेक्षा भी तो नहीं की जा सकती। दीनानाथ भी कसरत करता था, लेकिन बुद्धि उसने पिता अथवा चाचा की अपेक्षा कुशाग्र पायी थी।........अब वह चाहता है फ्रॉड से पैसा कमाना, अनन्त बोला, फ्रॉड से प्रैक्टिस तो क्या चलेगी, एक दिन जेल में चला जाय तो बड़ी बात नहीं।......"[1] इस प्रकार की शैली ही इस उपन्यास की शक्ति का आधार है।

दीनानाथ के माध्यम से अश्क ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि मिथ्या प्रतिष्ठा के पीछे दीनानाथ दौड़ता रहा और उसे उसमें अन्त तक सफलता न मिली। समाज में प्रत्येक व्यक्ति जब तक शारीरिक श्रम से बच कर केवल बौद्धिक प्रयास की ओर उन्मुख रहेगा, तब तक वह ईमानदारी, शोषणमुक्ति और समान अवसर वाली बराबरी की ओर नहीं बढ़ पायेगा। चेतन हो या दीनानाथ, यदि वह सामाजिक मूल्यों को बदलने के लिए आगे आता तो इसका चरित्र इससे बिलकुल भिन्न होता। जिस समाज का यहाँ चित्र दिया है, वह यौन भुक्खड़ी, दम्भियों, बौनों, कायरों, मिथ्याभिमानियों, पलायनवादियों, शोषकों, अनुत्तरदायियों, जनखों, पागलों, दिमागी ऐयाशों, धोखबाजों, जादूगरों तथा अवसरवादियों आदि का है। उनमें कोई भी तो ऐसा नहीं है जो परिस्थिति को उसकी यथार्थ स्थिति में स्वीकार करके आगे बढ़े और संघर्ष का जोखिम उठाये। यदि इसे समाज का एकांगी चित्र कहें

---

१. वही, पृष्ठ १३७-३८।

तो आशा है क्षम्य होगा। यदि हम गोर्की के पात्रों से इन पात्रों की तुलना करें तो इनकी ह्रासशीलता आसानी से सिद्ध हो जाती है।

सारे उपन्यास की घटनाएँ जिस धुरी पर घूमती हैं वह निम्न पंक्तियों से स्पष्ट होती है—"वह (चेतन) तो चाहता था कहीं ऐसी जगह जाय, जहाँ उसका मन नीला के विरह, अपनी पीड़ा, अमीचन्द की डिप्टी कलक्टरी और उसके संदर्भ में अपनी हीनता के अहसास को एकदम भूल जाय।"

उपन्यासकार अथ से इति तक इसी धुरी पर घटना-चक्र तथा पात्रों को घुमाता रहा है। इस अंकन को सजीव बनाने तथा 'मिथ्या का भ्रम' उत्पन्न करने के लिए आवश्यक था कि परिवेश का यथार्थवादी चित्र दिया जाता। कुछ पात्र जो इस उद्देश्य से प्रेरित होकर अपना क्षणिक परिचय देकर अदृश्य हो जाते हैं, अधिक विश्वसनीय तथा व्यावहारिक हैं। वे जीवन को अधिक व्यावहारिक रूप में ग्रहण करने के कारण सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाते से लगते हैं। उनसे यह सम्भावना हो सकती है कि यदि उन्हें अधिक अवसर मिलता तो वे सत्य को उसकी अधिकाधिक समग्रता में पकड़ सकते थे।

यदि इसे दुःसाहस न माना जाय तो एक बार यशपाल के 'झूठा-सच' को सामने रखकर इस उपन्यास पर विचार करना आवश्यक लगता है। नारी के सम्बन्ध में अश्क की धारणा है—

"जाने नियति ने उसके भाल पर नीला का भाग्य लिखा है, या चन्दा का ?........क्योंकि इससे अलग भाग्य निम्न मध्यवर्ग की लड़कियों का नहीं है। जाने कब होगा ? शायद तब, जब वे सचमुच आजाद होंगी और भेड़-बकरियों की अपेक्षा उनकी स्थिति भिन्न होगी। एक झटका—एक पुरजोर झटका और निम्न मध्यवर्ग को इस तंग घेरे में बाँध रखने वाली दीवारें ढह जायँगी।"[1]

नारी पात्र-रचना में अश्क का दृष्टिकोण इस सीमा के भीतर घूमता रहा है। अतः उनके समस्त नारी पात्र इस सीमा के उदाहरण बनकर पीछे हट जाते हैं। प्रत्येक नारी उपन्यासकार द्वारा उसके चारों ओर खींची हुई लक्ष्मण रेखा से घिरी रहने के कारण परवश होकर जीती है। उसकी यह सीमा रेखा एक हद तक स्वीकार भी की जा सकती है, किन्तु उसे कोई भी पाठक नहीं हजम कर पाता कि उसके मन में इस स्थिति से कोई असन्तोष उत्पन्न नहीं होता है। वह परिस्थितियों से जूझने की बात भी नहीं सोच पाती

---

१. वही, पृ० १२४।

है। यह आश्चर्यजनक है कि इस समस्त परिवेश में एक भी नारी तो ऐसी नहीं है जो खुलकर सामने आने का साहस दिखा सके (और यदि कोई ऐसी रही होती तो उपन्यासकार का ध्यान उसकी ओर अवश्य गया होता)। असाधारण मनोदशा वाली कुछ भिन्न दिखाई देती हैं जिन्हें देखकर और निराशा होती है। यशपाल के 'झूठा सच' की नारी इससे भिन्न है। वह चरित्रहीन पति से संघर्ष करती है। चली आती हुई मान्यताओं से कार्य नहीं चलता तो बदलते हुए समाज के नये कानूनों की सहायता लेती है। विभाजन की मारी मर नहीं जाती, जूझती हुई अपना भाग्य बनाती है। साहस के साथ आगे बढ़ती हुई वीभत्स वर्तमान को बदलने में समर्थ सिद्ध होती है। यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वह भविष्य को अपने अनुकूल बना लेती है; महत्त्वपूर्ण तो यह है कि वह आस्थावान है और आस्था रखकर संघर्ष-रत होती है। क्या ही अच्छा होता, अश्क ने ऐसे एक भी पात्र का दर्शन जालन्धर के सारे समाज में किया होता, यह हो नहीं सकता कि वहाँ कोई भी उचित साधनों का उपयोग करके संघर्ष न कर रहा होगा। इसका कारण है चेतन के माध्यम से उपन्यासकार का यह सोचना कि "लोग अपने गम से सन्तुष्ट हैं। दुःख को अनिवार्य जान, वे इसके सामने हथियार डालकर अपनी नियति को निर्विकार रूप से स्वीकार कर लेना ही श्रेयष्कर समझते हैं।........"[१]

अन्त में शैली-शिल्प के सम्बन्ध में एक बात कहनी है। कुछ समीक्षकों ने इसे उपन्यास नहीं माना है। कहानियों का संकलन मात्र कहा है। उनका आरोप है कि इसमें उस प्रभावान्विति का अभाव है जो किसी कृति को उपन्यास की संज्ञा दिलाती है। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि प्रत्येक श्रेष्ठ उपन्यास परम्परा से जुड़ा रहकर भी उससे भिन्न होता है। यह भिन्नता सामान्य समीक्षक को चौंकाती है। सम्भवतः यही भिन्नता उसकी श्रेष्ठता को प्रतिपादित करती है। विवेच्य उपन्यास की शैली नवीन है और यही इसकी विशेषता तथा शक्तिमत्ता है। अनेक पात्र, अनेक स्थितियाँ, अनेक घटनाएँ, अनेक गलियाँ तथा मुहल्ले, अतीत और वर्तमान इसी शिल्प से जुड़ सकते थे और जुड़े हुए हैं। उपन्यास के क्षेत्र में इसे एक नवीन प्रयोग—सफल प्रयोग कहा जाना चाहिए। यदि उपन्यास मानव-जीवन का चित्र देता है तो उस शिल्प की खोज को जो उसे उसकी अधिकाधिक पूर्णता एवं वैविध्य में प्रस्तुत करने का प्रयास करे—स्तुत्य ही कहा जायगा। इतने अल्पकाल में इतना देखना और दिखाना इस 'आईने' की सफलता है। इसमें ऐतिहासिक,

---

१. वही, पृ० १२१।

आत्मकथात्मक, विवरणात्मक आदि परम्परा प्राप्त पद्धतियों का ही नहीं, वरन् रिपोर्टाज, संस्मरण, रेखाचित्र, डॉकुमेण्ट्री, दिवास्वप्न, पूर्वस्मृति, फ्लेशबैक, प्रतीकात्मक आदि अनेक नव्यतम शैलियों का भी आवश्यकतानुसार प्रयोग है। इससे उपन्यास का क्षितिज तो विकसित हुआ है सम्भावनाएँ बढ़ी हैं, किन्तु पाठक को सत्यशोधन की दिशा में अधिक प्रेरणा नहीं मिलती है। सब मिलाकर उपन्यासकार को बधाई देना उचित होगा।

(४) परती परिकथा

कोसी के अंचल में बसे तथा उसके कोप से अनेक बार प्रताड़ित पुरानपुर गाँव की परती की यह कथा वहाँ के पशु-पक्षियों, जानवरों, खेत-खलिहानों, फसलों, ध्वनिसंकेतों, प्राकृतिक रूप-परिवर्तनों, निवासी पुरुष और स्त्रियों के बीच होने वाले परिवर्तनों की गाथा का प्रामाणिक दस्तावेज है। कुछ उद्धरण इस विकास गाथा के चरण-चिह्न तथा दिशा निर्देश करने वाले हैं—

"धूसर वीरान अन्तहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या-धरती............। धरती नहीं धरती की लाश, जिस पर कफन की तरह फैली हुई हैं बालूचरों की पंक्तियाँ।........दूर दिल्ली में बैठा नदी-घाटी योजना का एक नौजवान विशेषज्ञ परानपुर की तकदीर को फिर से लिख रहा है।........गाँव के लोग परती पर बोई जाने वाली फसलों की कल्पना करते हैं। ठुट्ठी पाखर से लेकर सेमलवनी तक नई जाति का पाट! ठुट्ठी पाखर से उत्तर मकई और बाजरे की खेती! पुलक उठते हैं बेजमीन लोग। सर्वे में भी जिन्हें एक धूर जमीन नहीं हासिल हुई, उन्हें भी जमीन मिलेगी, बिना झंझट के!........देहाती कच्ची सड़क के गड्ढे, खाई और आँक-बाँक को समतल बनाती हुब बड़ी-बड़ी मशीनें आई हैं। गाँव वालों के चेहरों पर अब आतंक के चिह्न नहीं अंकित होते।........सेमलवनी के आकाश में अबीर गुलाल उड़ रहा है। आसन्न प्रसवा परती हँसकर करवट लेती है।" इन कुछ शब्दों में इस गद्य महाकाव्य के महत् उद्देश्य का बीज निहित है। इस परती के साथ जिनके भाग्य जुड़े हैं, उनके भी कुछ चित्र लीजिए—

"इस इलाके में सबसे उन्नत गाँव है परानपुर। किन्तु, जिस तरह बाँस बढ़ते-बढ़ते अन्त में झुक जाता है, उसी तरह यह गाँव भी झुका है .... अब इस सब डिवीजन भर के लोग यहाँ के दस वर्ष के लड़के से भी बात करते समय अपना पाकेट एक बार टटोल कर देख लेते हैं। फारबिस गंज बाजार की किसी दुकान में चले जाइए, ज्योंही मालूम हुआ कि परानपुर का ग्राहक आया है, दुकानदार अपनी बिखरी हुई चीजों को समेटना शुरू कर देता है।

"........परानपुर ही नहीं सभी गाँव टूट रहे हैं। गाँव के परिवार टूटे हैं, व्यक्ति टूट रहा है—रोज-रोज काँच के बर्तनों की तरह।......'नहीं !...... निर्माण भी हो रहा है।.. ..... नया गाँव, नये परिवार और नये लोग ! गाँवों का नवनिर्माण हो रहा है। टूटे हुए खँडहरों को साफ करके नीवें डाली जा रही हैं। शिलान्यास हो रहा है। खूब धूमधाम से नई इमारतों की बँधाई-गँथाई चल रही है। नयी ईंट के साथ पुरानी किन्तु काम के योग्य ईंटों को मिलाकर दीवाल बना रहा है राज मिस्त्री।"

परानपुर के राजनीतिक परिवर्तन की दो दिशाएँ भी प्रेरणास्पद हैं। प्रारम्भ का चित्र है—"बहुत उन्नत गाँव है परानपुर। सात-आठ हजार की आबादी है। प्रत्येक राजनीतिक पार्टी की शाखा है यहाँ। धार्मिक संस्थाओं के कई धुरन्धर धर्मध्वजी इस गाँव में विराजते हैं। पण्डित नेहरू तीन बार पदार्पण कर चुके हैं इस गाँव में। लाहौर कांग्रेस के बाद पहली बार ; दूसरी बार सन् १९३६ में चुनाव के दौरे पर और पिछले साल कोसी प्रोजेक्ट देखने आये थे जब।"

बीच में इन पार्टियों में खूब संघर्ष चलता है और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते इनकी पोल खुल जाती है। अन्त में लुत्तो जैसे धूर्त राजनीतिज्ञ का ह्रास होता है और हमें सभी पार्टियों के आदमी गाँव का हित-साधन करने वाली योजना का समर्थन करते मिलते हैं, जो एक शुभ लक्षण है—

"गाँव में एक निगरानी कमिटी बनी है। जयदेव, मकबूल, डी० डी० टी० और विश्वकर्मा वगैरह ने मिलकर निगरानी कमिटी का संगठन किया है। हर पार्टी से एक मेम्बर लिया गया है।"[1]

इन उद्धरणों को देखकर कोई भी समझ सकता है कि लेखक का दृष्टिकोण आशावादी है तथा उसे लोकतन्त्र में अडिग आस्था है। वह जनता की जीवन-गाथा परती के माध्यम से पाठकों के सामने प्रस्तुत करने में पूर्ण कौशल का सहारा लेता है। इस प्रस्तुतीकरण में परानपुर और उसके आस-पास का सारा परिवेश मूर्तिमान हो उठता है। कुछ काल के लिए हम भी वहाँ के एक नागरिक बनकर उस सब में सक्रिय भाग लेने लगते हैं। लेखक ने जिस कथा को प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त व्यंजक तथा अनेक अर्थ देने वाली है। जागरूक कलाकार होने के कारण उनका समस्त उपन्यास एक सजीव चित्र ही नहीं बन गया है वरन् उससे दुहरे-तिहरे अर्थ भी निकलते चलते हैं। समस्याएँ व्यक्ति के माध्यम से सारे परानपुर—सारे अंचल और देश की जनता की हैं।

---

१. 'परती परिकथा', पृ० ४८५।

निर्माण का स्वर जिन परिस्थितियों के बीच संवर्ष को झेलते हुए ऊँचा किया गया है, उससे जनता की अदम्य विकास-कामना तथा जिजीविषा मूर्तिमान होकर प्रेरक शक्ति के रूप में नवीन भारत के स्वरों को उजागर करती है। कहना न होगा कि समझदार लोकसेवकों को चाहे वे 'भिम्मलमामा' हों या 'जितेन', सामान्य जनता की दृष्टि में गिराये जाने के लिए 'पगला' या 'सनकी' प्रचारित किया जाता है। थोड़ी देर के लिए 'लुत्तो' के षड्यन्त्र आगे बढ़ते हैं और लगता है कि सृजन का स्वर पार्टीबन्दी, मेजोरिटी को हथियाने के कुचक्रों, एक दूसरे को नीचा दिखाकर अपना क्षुद्र स्वार्थ-साधन करने के प्रयासों में लुप्त हो जायगा; किन्तु धीरे-धीरे कुहरा छँटता जाता है, स्वस्थ जनमत का सूर्य चमकने लगता है, फलस्वरूप पीछे चलने वाले सामने आकर खड़े होते हैं और प्रकाश में अपनी आँख खोलकर अपने मित्रों और अमित्रों को पहचान लेते हैं। दलबन्दी ग्रामहित में सोचने वाले संगठन का रूप धारण करती है और हम आशा करते हैं कि 'लुत्तो' भी जब देखेगा कि बिना ग्राम-हित में अपना हित मिलाये आगे बढ़ना असम्भव है तो वह तथा उसके अनुयायी भी इसी दिशा में अग्रसर होंगे। उपन्यास का स्वर यही है।

वन्ध्या धरती की यह परिकथा वहाँ की सेमलबनी, दुलारी दाय, पंचकुण्ड, बदरिया घाट, मीरघाट, ठुट्ठी पाखर, मिसर बुरुज आदि को ही समेट कर नहीं चली है वरन् इसमें तेरह टोले वाले परानपुर गाँव के हजारों स्त्री-पुरुषों का जीवन भी गुँथा हुआ है। उनके सांस्कृतिक आयोजन, ग्राम-सुधार योजनाएँ, विकास कार्यक्रम, जमींदारी उन्मूलन, लैण्ड सर्वे ऑपरेशन, कोसी योजना जैसे नव निर्माणकारी स्वरों से मुक्त आन्दोलनों का भी सजीव तथा उनकी समग्रता में चित्रण किया गया है। गाँव में जन-जीवन का दूसरा पहलू भी है जिसमें विकास के प्रति अविश्वास, किसानों और भूमिहीनों का महा-संघर्ष, एक-एक इंच भूमि के लिए अनेक षड्यन्त्र तथा मुकदमेबाजी, पंचायत, सर्वे के दौरान किसानों की आपाधापी तथा अपने स्वार्थों की सुरक्षा के लिए अथक् प्रयास, सरकारी कागजों में अपना नाम लिखाने की उतावली, भूमि के कब्जे के लिए फौजदारी, राजनीतिक दाव-पेंच, नारेबाजी, जुलूस, लोकतन्त्र की दलबन्दी का विकृत रूप, स्त्रियों और पुरुषों के गुप्त यौन सम्बन्ध, देखादेखी, कूटनीतिक चालों की योजना, ढेलेबाजी, स्त्रियों की गाली-गलौज तथा पन-घट पर मारपीट, विभिन्न प्रकार के चरित्र सम्बन्धी प्रचार तथा निन्दा, लोक कथा, लोक गायक, लोक गीत, चिरईचुनमुन, भूत-प्रेत, ग्रामदेवता, हास-परिहास, जात्रा, नाटक, संकीर्तन आदि के यथातथ्य सांगोपांग बहुरंगी चित्र इस उपन्यास को विश्वसनीय बनाते हैं।

जहाँ पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताएँ उन्हें शेष पात्रों से भिन्न सिद्ध करने में समर्थ हैं वहाँ उनमें ऐसी सभी विशेषताएँ भी दिखाई गई हैं जिनके द्वारा वे आसानी से ही अपने-अपने वर्गों के साथ स्थापित किये जा सकते हैं। चरित्रों की ये दो परस्पर भिन्न विशेषताएँ जहाँ एकत्रित होती हैं वहीं यथार्थवादी कला की रचना हो सकती है। इस उपन्यास में सबसे सशक्त तथा तिल-तिल जूझकर भी न टूटने वाला पात्र है जितेन्द्र। वह परिवर्तन तथा विकास का प्रतीक है। प्रगति के समस्त विरोधी तत्त्व उसके विरुद्ध आकर एकत्रित होते जाते हैं और मिलकर उसके सहज प्रवाह को अवरुद्ध करना चाहते हैं। जितेन्द्र अतिमानव नहीं है। उसमें भी साधारण मनुष्यों के समान आकांक्षा तथा कमजोरियाँ हैं। समय-समय पर वे प्रकट होती हैं, किन्तु इन अवसरों पर उसे प्रेरणा मिलती है ताजमनी और इरावती से। ताजमनी नाईन की पुत्री है किन्तु वह आरम्भ से ही जितेन्द्र के परिवार का अंग बनकर रही है। उसमें उच्च संस्कार तथा चारित्रिक वैशिष्ट्य है। प्रत्येक अवसर पर वह जितेन्द्र को प्रेरित करती है तथा अपने पवित्र स्नेह द्वारा उसमें आत्मबल बढ़ाती है। इरावती का जीवन इस देश की आजादी का सबसे बड़ा घाव बार-बार कुरेद कर हमारे सामने लाता है। वह शरणार्थी है और उसने वे सभी यातनाएँ भोगी हैं जो उन बहिनों को भोगनी पड़ी हैं जोकि उधर से इधर आई हैं। इरावती की प्रेरणा जितेन्द्र को सेवा-परायण तथा कष्ट-सहिष्णु बनाती है। वह 'स्व' की सीमा के ऊपर उठकर 'पर' तक जाता है और उसके लिए अपने सर्वस्व की बाजी लगा देता है। यह नियति नहीं है वरन् संयोग है कि वह इतनी सरलता से अल्पकाल में ही सफल हो जाता है। यह भी हो सकता था कि वह प्रतिक्रियावादी शक्तियों से जूझता हुआ समाप्त हो जाता, किन्तु इतने से ही उपन्यास की शक्ति तथा धारणा में कोई अन्तर नहीं आ सकता था। उसकी आस्था ही उसे आदर्शवादी बनाती है, न कि उद्देश्य की सिद्धि।

जितेन्द्र के अतिरिक्त भिम्मलमामा जैसा सिनिक, लुत्तो जैसा धूर्त प्रपंची नेता, रोसन विस्वाँ जैसा बड़ा महाजन, गरुड़धुज झा जैसा परानपुर का नारद, कतरनी की तरह जीभ चलाने वाली गंगा काकी, शेडूल के अन्तर्गत कार्य करने वाले वीरभद्दर बाबू, घर-घर घूमने वाली सामवत्ती पीसी, जितेन्द्र का पुश्तैनी कारिन्दा मुन्शी जलधारीलाल, मीर समसुद्दीन जैसे लीगी और फिर काँग्रेसी कार्यकर्त्ता, मकबूल जैसे कामरेड, दिलबहादुर जैसा स्वामिभक्त सेवक, फेंकनी की माँ जैसी ग्राम नारियाँ, रानी माँ, मेम माँ तथा

मलारी जैसी सशक्त और उज्ज्वल चरित्र वाली महिलाएँ इस उपन्यास में भरी पड़ी हैं।

जितेन्द्र के सम्बन्ध में चर्चा तभी पूरी होगी जब यह समझ लिया जाय कि उसका उद्देश्य गाँव में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की हवा चलाना है। वह सारे विरोधों के बावजूद भी जनता में आस्था बनाये हुए है, तभी तो सोचता है—

"गाँव समाज में, मनुष्य के साथ मनुष्य का व्यक्तिगत सम्पर्क घनिष्ट था, किन्तु वह अब नहीं रहा। एक आदमी के लिए उसके गाँव का दूसरा आदमी अज्ञात कुलशील छोड़ और कुछ नहीं। कहाँ है आज का कोई उपयोगी उत्सव अनुष्ठान, जहाँ आदमी एक दूसरे से मुक्त प्राण होकर मिल सके? मनुष्य के साथ मनुष्य के प्राण का योगसूत्र नहीं।"[1]

वह केवल सोचकर नहीं रह जाता। 'चेतन' और 'शेखर' से उसकी यही भिन्नता उसे आस्थावादी नायक (Positive Hero) बनाती है। जितनी भयंकर परिस्थिति आती है वह उसी के अनुरूप विशाल तथा महान् आस्था से अनुप्राणित होकर उससे जूझने चलता है। तभी तो वह उस महा सांस्कृतिक आयोजन को पूर्ण कराने में सफल हो सका है, जिसके विरुद्ध सभी प्रभावशालियों ने विरोध किया, किन्तु वह सैकड़ों परानपुर वासियों को स्टेज पर उतारने में सफल हुआ। नव-निर्माण की समस्या जितनी आर्थिक और सामाजिक है, उससे अधिक भावात्मक। आज देश में भाषा, प्रान्त, सम्प्रदाय, धर्म, जाति, राजनीतिक विचारधारा आदि के आधार पर जो विग्रहात्मक प्रवृत्तियाँ फूट पड़ी हैं, उनका समाधान भावात्मक तथा सांस्कृतिक स्तर पर ही होना सम्भव है। 'रेणु' का नायक इसे समझता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास का ताना-बाना राष्ट्रीय प्रश्नावली से काता गया है जो अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं को स्पर्श करता है। यह कहना उचित है कि ये स्पर्श परोक्ष हैं तथा मुख्यतः व्यंग्य रूप में।

उपन्यास की एक बड़ी विशेषता और सम्भवतः सर्वप्रथम विशेषता उसका सरस तथा रोचक होना है। यह उपन्यास समान रूप से सभी पाठकों को मनोरंजन नहीं दे पाया है, इसीलिए एक ओर जहाँ इसे प्रथम श्रेणी की रचना कहा गया है, वहीं सामान्य स्तर की भी। विवरण, लोककथाएँ, ध्वनि संकेत, शैली का वैविध्य, भाषा की आंचलिकता, विराम चिह्नों का आधिक्य तथा कथा-सूत्र की सांकेतिकता के कारण इसमें कुछ दुरूहता मानी जा सकती

---

१. 'परती परिकथा', पृ० ४४७।

है ...ी ओर ये विशेषताएँ ही इस उपन्यास में उसके समस्त परिवे-
श... को रूपायित करा सकी हैं।

...नापूर्ण भाषा तथा शैली की सूक्ष्मता 'रेणु' की ऐसी विशेषताएँ
है ... इतना ऊँचा उठा देती हैं। 'रेणु' कला के तन्तुओं के सफल संयोजन
के ...ारण ही केवल दो उपन्यास लिखकर प्रथम कोटि के कथाकार बन गये
हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है। उपन्यास जिस महान् उद्देश्य को लेकर चला
है, उसी के अनुरूप शिल्प ग्रहण कर लेने के कारण वह वैविध्यपूर्ण कथा को
संवेद्य बना सका है। घटनाएँ, पात्र, वातावरण, भाषा, शैली मात्र की विवेचना
द्वारा ही इस उपन्यास का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सकता। भारतीय ग्राम-
संस्कृति को रूपायित करने का जो महत् उद्देश्य इस उपन्यास के समक्ष रहा
है, उसके लिए लोक-जीवन की जिस गहरी अनुभूति तथा सौहार्द्रमयी आस्था
की अपेक्षा थी, वह इस उपन्यासकार में यदि न रही होती तो यह उपन्यास
कभी भी इतना सशक्त, प्राणवान तथा जीवन्त नहीं बन सकता था। उपन्यास
में दिये हुए परिवेशात्मक यथार्थ को उपन्यासकार ने पुनःसर्जित करके दिखा
दिया है। उसने उसे जिया है तथा अनेकों को उसमें साँस लेने का अवसर दे
दिया है। सांस्कृतिक उपन्यासों की परम्परा की यह अद्भुत और सशक्त कड़ी
'गोदान' का अगला सिरा है।

उपन्यास

ामझ

ाना

र्भ

ह

गया।

कि ये

शेषता

पाठकों

णी की

, ध्वनि

ाधिक्य

सकती